साहित्य भवन पब्लिकेशन्स
1501
आधुनिक विश्व का इतिहास
HISTORY OF MODERN WORLD
डॉ. ए. के. मित्तल

ब्र॰ जागृति आर्या

(19)

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

तिथी
पु०सं० 3059
भारती पुस्तकालय

1

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन

[PEACE CONFERENCE OF PARIS]

भूमिका
(INTRODUCTION)

जर्मनी के द्वारा आत्मसमर्पण कर दिये जाने से 11 नवम्बर, 1918 ई. को प्रथम विश्व-युद्ध की इतिश्री हुई। युद्ध समाप्ति सामान्य जन-जीवन के लिए राहत का सन्देश था। विश्व-युद्ध के दौरान विश्व की सम्पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति डांवाडोल हो चुकी थी। जहां एक ओर पराजित देश—आस्ट्रिया, हंगरी, टर्की एवं जर्मनी भावी व्यवस्था के प्रति आतंकित थे, वहीं दूसरी ओर विजयी मित्र राष्ट्र विजय के उन्माद से प्रसन्न थे। ई. एच. कार का यह कथन बिल्कुल ठीक है, **''विजय के आनन्द के नीचे चिन्ता के अस्फुट स्वर सुनाई दे रहे थे।''**[1] ऐसे वातावरण में वास्तव में यह एक कठिन एवं जटिल कार्य था कि भावी व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जाय? यह मित्रों राष्ट्रों के समक्ष एक महत्वपूर्ण प्रश्न था।

स्थान का चयन

शान्ति-सम्मेलन के स्थान के चयन के विषय में कहा जा सकता है कि पूर्व में जेनेवा को चयनित किया गया था, परन्तु पश्चात् में फ्रांस के सम्मानार्थ उसकी राजधानी **पेरिस को चुना गया। पेरिस को शान्ति-सम्मेलन का स्थान चयनित किये जाने के कारण युद्धोपरान्त हुए शान्ति समझौतों को पेरिस का शान्ति-सम्मेलन भी कहा जाता है।** पेरिस को शान्ति-सम्मेलन का स्थान चुने जाने के सम्बन्ध में वेन्स जैसे विद्वानों की धारणा है कि मित्र राष्ट्रों ने पेरिस को शान्ति-सम्मेलन का स्थान चुनकर शान्ति समझौतों को नहीं, अपितु प्रतिशोधात्मक भावना से युक्त समझौते को किया। फिशर महोदय ने भी इसे दुर्भाग्यपूर्ण कहा है।[2]

सम्मेलन में आमन्त्रित शक्तियां

सम्मेलन में 32 राष्ट्रों ने भाग लिया—ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, इटली, जापान, क्यूबा, चीन, ब्राजील, बेल्जियम, हेती, हेडजाज, ग्रीस, चेकोस्लोवाकियां, गोतेमाला, होन्दुरस, यूगोस्लाविया, लाइबेरिया, पनामा, कमाबिया, पुर्तगाल, पोलैण्ड, निकारागुआ, स्याम,

1 **"Beneath the rejocings of victory a deepnote of anxiety made itself heard."**
—*E. H. Carr*

2 **Fisher, *History of Europe*, p. 1258.**

आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका के संघ, बोलीविया, यूरोगो, एक्यूडोर एवं पीरू। इस सम्मेलन में रूस, आस्ट्रिया, हंगरी एवं जर्मनी को आमन्त्रित नहीं किया गया।

सम्मेलन की परिषद

सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन 18 जनवरी, 1919 ई. को हुआ। उद्घाटन के समय महसूस किया गया कि 32 राष्ट्रों की समिति बड़ी है। अतः इसकी संख्या घटाकर 10 कर दी गयी, किन्तु बाद में 4 सदस्यों की एक **'चार बड़ों की समिति'** का निर्णय लिया गया। इस चार बड़ों की समिति में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लायड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमन्त्री क्लेमांसू एवं इटली के प्रधानमन्त्री औरलैण्डो थे। पश्चात् में प्रथम तीन ही समिति की सर्वमान्य शक्तियां बन गयीं। पूरे सम्मेलन में इन्हीं का प्रभाव देखा जा सकता है।

शान्ति सम्मेलन का कार्यकाल

8 जनवरी, 1919 ई. को सम्मेलन का औपचारिक उद्घाटन फ्रांस गणराज्य के राष्ट्रपति पुआॅकार ने किया।[1] मित्र राष्ट्रों को विभिन्न देशों के साथ शान्ति सन्धि करने में पूरे 5 वर्ष लग गये।

विभिन्न समझौते

पेरिस की सन्धि में निम्न समझौते हुए :

(1) जर्मनी के साथ सन्धि—28 जून, 1919 ई.।

(2) सैण्ट जर्मेन की सन्धि—10 सितम्बर, 1919 ई.।

(3) न्यूइली की सन्धि—27 नवम्बर, 1919 ई.।

(4) ट्रियनो की सन्धि—4 जून, 1920 ई.।

(5) टर्की के साथ सेव्रे की सन्धि—10 अगस्त, 1920 ई.।

(6) लोसान की सन्धि—23 जुलाई, 1923 ई.।

इस प्रकार जर्मनी के साथ की गयी वार्साय की सन्धि से लोसान तक की समस्त सन्धियां संयुक्त रूप से शान्ति समझौता कहलाती हैं।

वार्साय की सन्धि—28 जून, 1919 ई.
(TREATY OF VERSAILLES)

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सन् 1919 ई. में की जाने वाली इस सन्धि ने प्रथम विश्व-युद्ध को समाप्त कर दिया था, परन्तु सन्धि ने उन समस्त समस्याओं का अन्त नहीं किया जिनके आधार पर सभी देशों के इतने झगड़े हुए थे। मैरियट ने लिखा है, **"कुछ महीनों तक सम्मेलन की मशीन बुरी तरह किरकिर करती रही। अनेक बार उसके पूर्ण रूप से भग्न होने की आशंका हुई, पर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के दो मुख्य प्रतिनिधि निराश न हुए और राष्ट्रपति विल्सन की सहायता से उन्होंने सन्धि शर्तें तैयार कर लीं।"**[2]

6 मई, 1919 को वार्साय सन्धि का प्रारूप बनकर तैयार हो गया। इसमें 439 धाराएं तथा 80 हजार शब्द थे। इस सन्धि में 15 भाग थे। 7 मई, 1919 को जर्मनी को 230 पृष्ठ का ड्राफ्ट दिया गया और उसे 3 सप्ताह का समय विचारार्थ दिया गया। जर्मन प्रतिनिधियों

1 मैरियट, आधुनिक इंगलैण्ड का इतिहास, पृ. 403।
2 वही, पृ. 404।

ने सन्धि-पत्र के सम्बन्ध में 443 पृष्ठ का एक विस्तृत स्मरण-पत्र मित्र राष्ट्रों को दिया, जिसमें संशोधन की याचना की गयी। जर्मन प्रतिनिधि सन्धि-पत्र से 231वीं धारा के उस अनुच्छेद के निकाले जाने की बात कर रहे थे, जिसके अनुसार उन्हें युद्ध का उत्तरदायी ठहराया गया था, परन्तु मित्र राष्ट्र इसके लिए तैयार नहीं थे। जर्मनी से कहा गया कि वह 5 दिन के भीतर सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर ले अन्यथा वह युद्ध के लिए तैयार रहे। अतः जर्मनी को विवश होकर सन्धि-पत्र हस्ताक्षर करने पड़े। वार्साय के शीशमहल को सन्धि हस्ताक्षर का स्थान चयनित किया गया, क्योंकि 50 वर्ष पूर्व इसी स्थान से प्रशा के राजा को सम्पूर्ण जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया था। मूलर हतोत्साहित एवं पीला दिखाई दे रहा था। बेल उस समय शान्त एवं सीधा खड़ा था।[1] जर्मन प्रतिनिधियों पर दबाव डाला गया कि वे सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करें। जर्मन प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर करते हुए कहा था : **'मैने सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं, इसलिए नहीं कि मैं इसे एक सन्तोषजनक आलेख मानता हूं, वरन् इसलिए कि यह युद्ध बन्द करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।'**[2] आखिर इस सन्धि में ऐसी क्या व्यवस्थाएं थीं जिनसे जर्मन प्रतिनिधि सन्तुष्ट न थे? **सन्धि की व्यवस्थाएं इस प्रकार थीं :**

(1) **सैनिक व्यवस्थाएं**—वुड्रो विल्सन के 14 सूत्री कार्यक्रमों में सभी देशों के लिए निःशस्त्रीकरण की दिशा में कदम उठाने का प्रावधान रखा गया था, परन्तु इस समय इसे जर्मनी तक ही लागू किया गया। जर्मनी की थल, नभ एवं जल सेना की कुल संख्या एक लाख निश्चित कर दी। इसी में उसके अधिकारियों की संख्या भी थी। उसी नौसेना की संख्या 1,500 सीमित कर दी गयी।[3] सैनिक अधिकारी कम से कम 25 वर्ष तक सेना में रह सकेंगे तथा साधारण सैनिकों को कम से कम 12 वर्षों तक रहना पड़ेगा। जर्मनी की अनिवार्य सैन्य-सेवा जो कि बिस्मार्क के समय लागू कर दी गयी थी, समाप्त कर दी गयी। चुंगी के अधिकारी, वन के रक्षकों तथा तट के रक्षकों की संख्या 1913 से ज्यादा नहीं होगी। पुलिस की संख्या जनसंख्या के अनुपात पर निर्भर रहेगी। जर्मनी 6 युद्धपोत, 6 हल्के क्रूजर, 12 तोपची जहाज और 12 टारपीडो नावें रख सकता था। उसे पनडुब्बी रखने का अधिकार नहीं दिया गया। युद्ध की सामग्री उत्पादन पर रोक लगा दी गयी। राइन नदी के दायें तट पर 30 मील (50 किलोमीटर) तक स्थान का असैनिकीकरण कर दिया। होलीगोलैण्ड के बन्दरगाह की किलेबन्दी नष्ट करनी पड़ी और उसे आश्वासन देना पड़ा कि भविष्य में वह कभी इसकी किलेबन्दी नहीं करेगा। शिक्षण संस्थाएं, विश्वविद्यालय, सेवामुक्त सैनिकों की संस्थाएं, शिकार और भ्रमण के क्लब, अर्थात् सब प्रकार के संगठन चाहे उनके सदस्यों की आय कुछ भी हो, किसी प्रकार के सैनिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। कार ने कहा है, "....1924 तक जर्मनी का जितना निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था वह आधुनिक इतिहास में उल्लिखित किसी भी निःशस्त्रीकरण से अधिक कठोर एवं पूर्ण था।"[4]

(2) **प्रादेशिक व्यवस्थाएं**—जिस वृहद् जर्मन साम्राज्य का निर्माण बिस्मार्क ने रक्त और लौह की नीति से किया था, उसका विघटन कर दिया गया 1870-71 के फ्रेंको-प्रशियन युद्ध

---

1 "Muller was pale and nervous, Bell held himself erect and calm."

2 "I have signed the treaty, not because I consider it a satisfactory document but because it is imperatively necessary to close the war." —*General Stauts*

3 उसकी यह संख्या एक लाख के अन्तर्गत ही थी।

4 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 42।

के फलस्वरूप आल्सेस तथा लारेन जर्मनी ने फ्रांस से छीन लिये थे। **आल्सेस तथा लारेन के प्रदेश फ्रांस को लौटा दिये गये।** श्लेसविग का उत्तरी भाग डेनमार्क को और दक्षिणी भाग जर्मनी को दिया गया। मेमल लिथुआनिया को दे दिया गया। पोलैण्ड का पुनः निर्माण किया गया। वाल्टिक सागर तक पहुंचने का उसका मार्ग प्रशा से होकर दिया गया। अतः पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से अलग हो गया। पोसेन तथा पश्चिमी प्रशा पर पोलैण्ड का अधिकार माना गया। श्लेसविग का उत्तरी भाग डेनमार्क को और दक्षिणी भाग पर जर्मनी का अधिकार माना गया। माल्मेडी तथा यूपेन के नगर बेल्जियम को सौंप दिये गये। डैन्जिंग को जर्मनी से अलग कर राष्ट्र संघ के संरक्षण में सौंपा गया। इस पर शासन करने के लिए जर्मन जनता के द्वारा एक प्रतिनिधि संस्था की बात रखी गयी। सुदूर पूर्व में फिनलैण्ड को मान्यता दे दी गयी। सन् 1870 के पश्चात् जर्मनी जिन देशों से कलात्मक वस्तुएं एवं झण्डे लाया था, उन्हें वापस करना होगा।

(3) **क्षतिपूर्ति एवं आर्थिक व्यवस्था**—5 नवम्बर, 1918 को जब जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया था, उस समय मित्र राष्ट्रों के द्वारा जर्मनी को स्पष्ट रूप से बता दिया गया था कि युद्ध में हुई क्षति का हर्जाना उससे लिया जायेगा। जहां एक ओर फ्रांस यह चाहता था कि जर्मनी से युद्ध का पूर्ण व्यय लिया जाय वहीं दूसरी ओर विल्सन क्षतिपूर्ति की रकम निश्चित करना चाहता था। अंततः निश्चित किया गया कि एक क्षतिपूर्ति आयोग निर्मित किया जाय जो मई 1921 तक अपनी रिपोर्ट पेश करे। रिपोर्ट पेश होने तक (1 मई, 1921 तक) जर्मनी लगभग 40 खरब डालर अथवा 200 खरब स्वर्ण मार्क अथवा 100 करोड़ पौण्ड क्षतिपूर्ति कर देगा। इसके आगे जर्मनी कितना देगा यह आगे निर्धारित होना था। हेजन ने लिखा है, **"जर्मनी इस बात पर भी सहमत हो गया कि वह क्षतिपूर्ति के लिए अपने प्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग करेगा, अर्थात वह अपने जल-पोत, कोयला, रंग, रासायनिक उत्पादन, जीवित प्राणी तथा अन्य वस्तुएं शत्रुओं को देने पर सहमत हो गया।"**[1]

मित्र राष्ट्र यह समझ चुके थे कि जर्मनी तत्काल नगद चुकाने में असमर्थ है। अतः जर्मनी को फ्रांस एवं इटली को 10 वर्ष तक कोयला देने का, फ्रांस व बेल्जियम को घोड़े, आदि पशु देने का आश्वासन देना पड़ा। मित्र राष्ट्रों ने उसके उपनिवेश छीनकर उसे पूर्णतया पंगु बना दिया। सीरिया एवं लेबनान फ्रांस ने इराक, ट्रांसजार्डन तथा मीरोद्वीप फिलीस्तीन व इंगलैण्ड ने कैमरून तथा तोजोलैण्ड, फ्रांस व इंगलैण्ड ने न्यूजीलैण्ड बेल्जियम ने, भूमध्यरेखा के दक्षिण के समस्त द्वीप आस्ट्रेलिया ने तथा उत्तर के समस्त द्वीप पर जापान ने अपना कब्जा कर लिया। चीन, मोरक्को, मिस्र पर जर्मनी के विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये। जर्मनी के उपनिवेश छिन जाने से तेल, रबर, सूत का कच्चा माल उसे मिलना बन्द हो गया। उसके विभिन्न कारखानों में ताले पड़ गये।

यही नहीं, सार की घाटी का प्रदेश संघ को सौंप दिया गया। 15 वर्ष पश्चात् जनमत संग्रह द्वारा उसे जर्मनी या फ्रांस को देना था।[2] इस प्रकार जर्मनी के समस्त आर्थिक स्रोत छीन लिए गये। कीन्स के अनुसार, **"जर्मनी के विरुद्ध आर्थिक उपबन्ध अदा नहीं किये जा सकते थे और उसको पूरा कराने के प्रयत्न यूरोप के लिए घातक सिद्ध हुए।"** ऐसी परिस्थिति में

1 **यूरोप का इतिहास**, पृ. 614।
2 1935 में जनमत संग्रह जर्मनी के पक्ष में आया।

जैसा कि लैंगसम ने सत्य ही लिखा है, **क्षतिपूर्ति पर अनुमति देना मानो जर्मनी के लिए रिक्त चैक पर हस्ताक्षर करना था।**

(4) **न्यायिक व्यवस्था**—सन्धि की 231वीं धारा का जिसके अनुसार जर्मनी को युद्ध प्रारम्भ करने का दोषी माना गया था जर्मनी ने विरोध किया था, परन्तु कैसर विलियम II पर युद्ध प्रारम्भ करने का आरोप लगाकर यह निर्णय किया गया कि उस पर 5 देशों के न्यायाधीशों की अदालत पर मुकदमा दर्ज किया जाय। जिन सैनिकों ने युद्ध में जर्मनी की ओर से भाग लिया था उन पर मुकदमा चलाने का आदेश दिया गया। हॉलैण्ड की सरकार से मित्रता के कारण कैसर विलियम II पर मुकदमा न चल सका।

इस प्रकार मैरियट के शब्दों में कहा जा सकता है, **"जर्मन साम्राज्य ने जिसका निर्माण विस्मार्क ने रक्त एवं लौह की नीति से किया था फिर तलवार खींच ली थी, तलवार से ही उसका विनाश हुआ।"**[1]

सन्धि की समीक्षा
(EVALUATION OF THE TREATY)

वार्साय की सन्धि अपने आप में अनोखी सन्धि थी, इस व्यवस्था ने इतिहासकारों को दो खेमों में लाकर खड़ा कर दिया था। जहां रेस्टेनार्ड वाकर, डेरी जारमेन, लिप्सन, वर्डसाल ह्रास तथा डेविस ने इस सन्धि के गुणों का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर वेथमान हाल्वेग, स्टमस, फोच, आदि विद्वान यह मानते हैं कि सन्धि अपने आप में पूर्णतया दोषयुक्त थी।

पक्ष में तर्क (Arguments in Favour)

इस सन्धि का पक्ष लेकर जोसेफ ने लिखा है, **"अब तक युद्ध के घाव हरे थे सभी का रोष प्रज्वलित था और सम्मेलन संसार का दर्पण बना हुआ था, सभी प्रतिनिधियों ने कई राष्ट्रों का चलचित्र अपने सामने देखा था जिन्होंने नृशंस दबावों से या युद्ध के उचित अनुशासन से मुक्ति पायी थी।"**[2] वास्तव में जिस समय सम्पूर्ण विश्व युद्ध की त्रासदी से आतंकित एवं परेशान था, इस सन्धि ने युद्ध का अन्त कर सम्पूर्ण विश्व को शान्ति दी। सन्धि की व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्र संघ का निर्माण भावी विश्व को शान्ति हेतु एक महत्वपूर्ण कदम सिद्ध हुआ। इसे विश्व शान्ति का प्रथम चरण भी कहा जा सकता है। वास्तव में, इसी के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण हुआ था। राष्ट्रीयता की भावना को इसने प्रोत्साहित किया था। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर ही पोलैण्ड, फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, आदि नये राष्ट्रों का निर्माण हुआ था, डेरी जारमेन के शब्दों में, **"सन्धि के कुछ ठोस गुण थे, एक तो यह कि इसके द्वारा राष्ट्रीयता और उत्तरवादियों की विजय हुई थी और दूसरा यह कि सन्धि निर्माताओं ने विल्सन के अनुरोध से**

1 मैरियट, आधुनिक इंगलैण्ड का इतिहास, पृ. 407।

2 "All wounds were utterly raw, all tempers frayed, and the conference being the mirror of the world, all the delegetes saw cinematographically the tumbling chaos of many people just released from the hands of brutal oppressors or from the legitimate discipline of war." —*Jessop*

ऐसी व्यवस्था बना दी थी कि जिससे सन्धि पर पुनः विचार किया जा सकता था, जबकि युद्ध का जोश शान्त हो जाय।''[1]

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने इसके गुणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और इसे नैतिक सिद्धान्तों पर अवतरित बतलाया है। यह भी माना है कि इससे पहले कभी शान्ति सन्धि का स्वरूप इतना आदर्शवादी नहीं था।[2]

आलोचना (Criticism)

वार्साय की सन्धि की आलोचना करते हुए जनरल फाश ने कहा था कि **यह सन्धि-पत्र न होकर 20 वर्ष का विरामकाल है।**[3] जनरल फाश के कहे गये, ये शब्द सत्य सिद्ध हुए और 20 वर्ष उपरान्त ही विश्व को द्वितीय विश्वयुद्ध की ज्वाला में जलना पड़ा, विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इसका आलोचनात्मक विवरण दिया है।

(1) अपमान से पूर्ण एवं थोपी गयी सन्धि—वार्साय की सन्धि जर्मनी के लिए अपमान से पूर्ण एवं उस पर जबरदस्ती लादी गयी थी, सम्मेलन में जर्मनी को न बुलाना तो अपमान था ही, किन्तु सबसे शर्मनाक बात तो यह थी कि जब हस्ताक्षर करने के लिए उसके प्रतिनिधि आये तो उन्हें नुकीले तारों से घिरे मकान में ठहराया गया, उनसे कैदियों जैसा व्यवहार किया गया। उन्होंने इसे अनिच्छा से स्वीकार किया। जर्मनी के प्रतिनिधियों को धमकी देकर सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर करवाये गये। कार महोदय ने लिखा है, **''वह विजेताओं द्वारा विजितों पर लादी गयी थी, आदान-प्रदान की प्रक्रिया के आधार पर परस्पर बातचीत तय नहीं हुई थी। वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली प्रत्येक सन्धि ही एक सीमा तक आरोपित शान्ति स्थापित करने वाली सन्धि होती है, क्योंकि एक पराजित राज्य अपनी पराजय के परिणामों को कभी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करता, किन्तु वार्साय की सन्धि में आरोपण की मात्रा आधुनिक युग की किसी भी पिछली शान्ति सन्धि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट थी।''**[4] जर्मनी के लोगों ने इसे नैतिक बन्धन भी नहीं माना, सन्धि पर हस्ताक्षर करते हुए एक जर्मन प्रतिनिधि ने कहा, **''हमारा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है, किन्तु जर्मनी यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण सन्धि है।''**

(2) बदले की भावना से भरी सन्धि—कहा जाता है कि यह सन्धि प्रतिशोधात्मक सन्धि थी। क्लेमांसू ने चुनाव इस नारे से जीता था **'हम कैसर को फांसी दे देंगे तथा जर्मनी से युद्ध का पूरा हर्जाना वसूल करेंगे।'**[5] जर्मनी के प्रति की गयी सन्धि को करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि यदि जर्मनी की जीत होती तो यूरोप की स्वतन्त्रता समाप्त हो सकती

1 "....the peace had the solid merit.....the nationalism and liberalism of nineteenth century idealists had triumphed....that the peace makers of 1919, thanks, largely to the persistence of president wilson, had provided their peace treaties with the machinery of revision, which he at least hoped to see widely employed when the passion of war begun to cool." —*Derray and T. L. Jarman*

2 "There has surely never been constructed a peace of so idealistic character." —*Haran*

3 "This is not a peace, it is an armistics for twenty years." —*Foch*

4 "It was imposed by the victors on the vanquised, not negotiated by a process of give and take between them.......In the treaty of versailles the elements of dictation was more apparent than in any previous peace treaty of modern times." —*E. H. Carr*

5 "Make Germany pay", "Hang the Kaiser", "Shilling for Shilling" and "Ton for Ton."

थी। विल्सन के उद्देश्यों की वास्तव में जितनी प्रशंसा की जाय कम है, किन्तु उनका पूर्ण एवं यथावत पालन नहीं किया जा सका जिसका मुख्य कारण मित्र राष्ट्रों की प्रतिशोधात्मक भावना थी। जैकसन ने ठीक ही लिखा है, "यह (विल्सन) मोजेज की भांति पहाड़ से नियम की सारिका लेकर उतरा, परन्तु मोजेज की भांति उसने देखा कि जिनका नेतृत्व करने वह आया था वे युद्ध की मूर्ति के उपासक थे।"[1] नेहरू के शब्दों में, **"मित्र राष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे थे। वे मांस का पिण्ड ही नहीं चाहते थे, बल्कि जर्मनी के अर्धमृत शरीर से खून की आखिरी बूंद तक ले लेना चाहते थे।**[2]

(3) **कठोर शर्तें**—सन्धि की शर्तें अत्यन्त कठोर थीं। सन्धि का मुख्य उद्देश्य लायड जार्ज के इस वक्तव्य से स्पष्ट है, "इस सन्धि की धाराएं युद्ध में मृत शहीदों के खून से लिखी गयी हैं। जिन लोगों ने इस युद्ध को शुरू किया था, उन्हें पुनः इसे ऐसा न करने की शिक्षा अवश्य देनी है।"

(4) **एकपक्षीय निर्णय**—सन्धि में किये गये अनेक निर्णय एकपक्षीय थे। जर्मनी को केवल हस्ताक्षर के लिए ही बुलाया गया था। निःशस्त्रीकरण केवल जर्मनी के लिए ही लागू किया गया। उसे अन्य राष्ट्रों पर लागू न किया गया। आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को जर्मनी के लिए लागू न किया गया। यह इतिहास का एक निर्णय है कि सन्धि अपने आप में तभी पूर्ण होती है, जबकि सन्धि वाले देश आपस में जुड़ सकें और उनमें आदान-प्रदान हो सके। सन्धि का अर्थ ही मेल है। जब तक दोनों पक्षों की बातें आदान-प्रदान द्वारा पूर्ण नहीं हो जातीं तब तक सन्धि पूर्ण नहीं हो सकती।

(5) **प्रादेशिक व्यवस्था के दोष**—गार्विन ने लिखा है कि **"सम्पूर्ण व्यवस्था ने यूरोप को बाल्कान की रियासतों के समान बना दिया।"** जिस प्रकार टर्की साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े करने के उपरान्त रियासतों को जन्म दिया था उसी प्रकार जर्मनी के राज्यों को भंग कर छोटी-छोटी रियासतें बना दी गयीं। ये निर्बल रियासतें समय के अन्तराल में अपने को नियन्त्रित न कर पायीं और बड़ी शक्तियों की कठपुतली बन गयीं। जब छोटी रियासतों की व्यवस्था की गयी तो इनकी राजनैतिक एवं आर्थिक स्थितियों की अवहेलना की गयी। फलतः छोटी रियासतों की नींव ने यूरोप में कई समस्याएं उत्पन्न कर दीं जिनके कारण यूरोप का शक्ति सन्तुलन ऊपर से नीचे को गया।

यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या यूरोप का बाल्कान की रियासतों के रूप में परिवर्तित हो जाना अनिवार्य था? इसका उत्तर है नहीं। यूरोप का बाल्कान की रियासतों के रूप में बदल पाना रुक सकता था, परन्तु यह तभी हो सकता था जबकि शत्रु राष्ट्र के प्रति बदले की भावना के स्थान पर सहानुभूति बरती जाती। जर्मनी ने सबसे अधिक हानि उठायी थी। इसलिए उसने अपनी कोलोनियों को प्राप्त करने हेतु प्रत्येक कार्य किया जिसका परिणाम द्वितीय विश्व-युद्ध के रूप में देखा जा सकता है। **अतः यह भी कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बीज वार्साय सन्धि में ही विद्यमान थे।**

---

1 **"He (Wilson) decended like moses from the mountain, bearing the table of the Law, And like more he found that the men he had come to lend were worshipping a graven image the idol of war."** —*Jackson*

2 **Nehru, J. L., *The Glimpses of World History.***
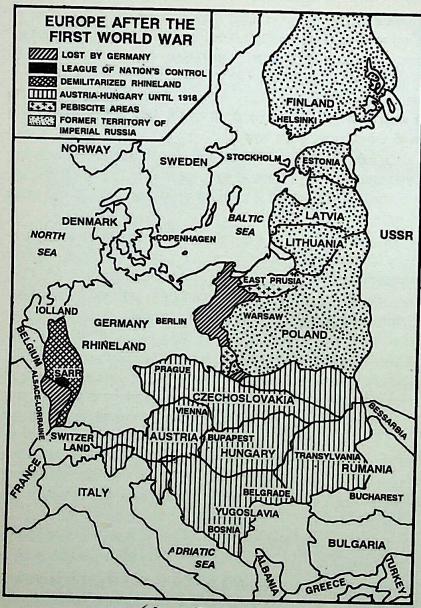
सेण्ट जर्मेन की सन्धि
(TREATY OF St. GERMAIN)

सेण्ट जर्मेन की सन्धि आस्ट्रिया के साथ की गयी, क्योंकि यह पेरिस के पास सेण्ट जर्मेन नामक स्थान पर हुई। अतः इसे सेण्ट जर्मेन की सन्धि के नाम से जाना जाता है। आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों ने सन्धि-पत्र पर 10 सितम्बर, 1919 को हस्ताक्षर किये। **इस सन्धि के अनुसार अग्रांकित व्यवस्थाएं की गयीं :**

1. प्रादेशिक व्यवस्था

(1) आस्ट्रिया ने पोलैण्ड, हंगरी, यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी।
(2) मोराविया, बोहेमिया, साइलेशिया को मिलाकर चैकोस्लोवाकिया का निर्माण किया गया।
(3) बोसनिया, हर्जेगोविना और कोरिया को मिलाकर यूगोस्लाविया का गठन किया गया।
(4) पोलैण्ड को गैलेशिया तथा रूमानिया को बुकोबिना दिया गया।
(5) आस्ट्रिया में निवास करने वाली विभिन्न जातियां जैसे जर्मन, पोल, रूमानिया, इटैलियन, क्रीट, चैक, आदि को आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार प्रदेश दिये गये।
(6) इटली को इस्ट्रिया, दक्षिणी टायरोल, ट्रीस्ट एवं डालमेशिया दे दिये गये।
(7) हैप्सबर्ग शासन का अन्त हो गया और आस्ट्रिया एक छोटा-सा जनतन्त्र मात्र रह गया।

2. सैन्य व्यवस्था

आस्ट्रिया की सेना की संख्या 30 हजार निश्चित कर दी गयी। उनकी नभ एवं नौसेना को समाप्त कर दिया गया। उसे डैन्यूब नदी में केवल तीन किश्तियां रखने का अधिकार दिया गया।

3. आर्थिक व्यवस्था

युद्ध के हर्जाने की रकम निश्चित करने के लिए एक क्षतिपूर्ति आयोग गठित किया जायेगा। वह जो भी राशि निर्धारत करेगा आस्ट्रिया को स्वीकार होगा। टेशन का उद्योग-प्रधान प्रदेश पोलैण्ड एवं चैकोस्लोवाकिया में बांट दिया गया। यह भी व्यवस्था की गयी कि आस्ट्रिया युद्ध अपराधियों को मित्र राष्ट्रों को सौंप देगा।

इस प्रकार इस सन्धि ने आस्ट्रिया के साम्राज्य को सिकोड़कर रख दिया और उसके अवशेषों पर छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की गयी, किन्तु इनका निर्माण करते समय सांस्कृतिक सिद्धान्तों को भुला दिया गया। जैसे अनेक जर्मन जो कि जर्मनी के साथ मिलना चाहते थे उन्हें इस भय से कि कहीं जर्मनी अधिक शक्तिशाली न हो जाय, जर्मनी से नहीं मिलाया गया। इटली को टाइरोल दिया गया उसमें $1\frac{1}{2}$ लाख जर्मन रहते थे। ई. एच. कार के अनुसार, **"आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से उल्लंघन करने वाले दो प्रावधान इस सन्धि में थे। उसमें से एक था आस्ट्रिया और जर्मनी के संयोग का निषेध जो कि वार्साय की सन्धि में की गयी व्यवस्था की पुनरावृत्ति था। दूसरा प्रावधान था विशुद्ध जर्मन भाषी दक्षिणी टायरोल का इटली को सौंपा जाना, ताकि उसे ब्रेनर का सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्धान्त मिल जाय।"**[1] फिशर महोदय ने भी इस सम्बन्ध में ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं।[2]

---

1 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 7।
2 "Austria was plunged into the pit of despair."
—H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1268.

न्यूइली की सन्धि
(TREATY OF NUILLY)

यह सन्धि बल्गारिया के साथ की गयी। यह 27 नवम्बर, 1919 ई. को हुई। इसके निर्णय निम्न हैं :

(1) यूनान को थ्रेस का समुद्र तट दे दिया गया।
(2) पश्चिमी बल्गारिया के कुछ प्रदेश जिनकी जनता बल्गेरियन थी, यूगोस्लाविया को दे दिये गये।
(3) बल्गारिया की जल सेना समाप्त कर दी गयी। उसकी सेना संख्या 10 हजार सीमित कर दी गयी।
(4) उस पर 35 करोड़ डालर युद्ध का हर्जाना लादा गया जो कि 37 किश्तों में देय होना था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बल्गारिया को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी थी। कार महोदय ने लिखा है, "सन् 1919 ई. की न्यूइली की सन्धि ने बल्गेरिया की हानि पर अपनी मुहर लगा दी और बल्गेरिया को और भी अधिक हानि में डालते हुए सर्बिया और यूनान से लगी हुई उसकी सीमाओं में परिवर्तन पर दिया गया तथा रूमानिया से लगे हुए उसके 1913 में निर्धारित स्पष्टतया अन्यायपूर्ण सीमान्त को वैसा ही छोड़ दिया गया।

ट्रियानो की सन्धि
(TREATY OF TRIANO)

यह सन्धि हंगरी के साथ हुई। यह 4 जून, 1920 ई. को हुई, इसके अनुसार— ट्रान्सिलवेनिया रूमानिया को और क्रीशिया, सर्बिया को दे दिया गया। स्लोवाकिया, चैकोस्लोवाकिया को दिया गया। हंगरी को आस्ट्रिया से अलग कर दिया गया।

कार के अनुसार, "**मोटे तौर पर ये निर्णय न्यायोचित थे, किन्तु जर्मनी के पूर्वी सीमान्त की अपेक्षा हंगरी के सीमान्त इस बात के अधिक स्पष्ट प्रमाण हैं कि सन्धिकर्ता अपने सिद्धान्तों की मित्र राष्ट्रों के हित में और शत्रु राष्ट्रों के अहित में यथासम्भव खींचतान करने के लिए काफी उत्सुक थे। इस खींचतान का एकत्रित परिणाम बहुत गहरा पड़ा और हंगरी के प्रचारकों ने इन छोटे-मोटे अन्यायों का पूरा-पूरा उपयोग किया।**"[1]

हंगरी को आस्ट्रिया से अलग कर दिया गया जिसका प्रभाव आस्ट्रिया पर भी पड़ा।[2] हंगरी जिसका क्षेत्रफल 12,000 वर्गमील और जनसंख्या 20,000,000 थी यह 35,000 वर्गमील क्षेत्रफल और 80,000 जनसंख्या वाले राज्य में परिणत कर दिया गया।[3]

हंगरी की सेना 35 हजार सीमित कर दी गयी। आस्ट्रिया के समान ही उस पर क्षतिपूर्ति लादी दी गयी।

---

1 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 8।
2 "The treaty, has left sore places, there is the little republic of Austria, too weak to live comfortably by herself, yet debarred by the peace treaties from joining Germany without the consent of the League."
—Fisher, *A History of Europe*, p. 1268.
3 डॉ. शर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 314।

सेव्रे की सन्धि
(TREATY OF SEVRES)

यह सन्धि तुर्की की भगोड़ी सरकार के साथ हुई। यह 10 अगस्त, 1920 ई. को हुई। इसके अनुसार :

(1) कुर्दिस्तान को स्वतन्त्र करने का आश्वासन दिया गया।

(2) आर्मीनिया को स्वतन्त्र कर दिया गया।

(3) थ्रेस, एड्रियाटिक, स्मर्नासागर के कुछ टापू तथा गेलीपोली के द्वीप ग्रीस को दे दिये गये।

(4) मिस्र, मोरक्को, ट्रिपोली, सीरिया, फिलिस्तीन, अरब, मैसोपोटामिया पर तुर्की ने अपने अधिकारों का त्याग कर दिया। इस प्रकार तुर्की के खलीफा के पास अनातोलिया का पहाड़ी प्रदेश तथा कुस्तुन्तुनिया के आसपास का ही प्रदेश रहा।

(5) वास्फोरस तथा डार्डेनेलीज जल अन्तरीपों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

वेन्स ने इस सन्धि के विषय में लिखा है, "टर्की पहले से टर्की की एक छाया मात्र रह गयी और उसका अस्तित्व एशियाई राज्य अंगोरा के आसपास बचा रहा।"[1]

परन्तु इस सन्धि का पालन न हो सका। मुस्तफा कमाल पाशा ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसने ग्रीस को युद्ध में पराजित करके मित्र राष्ट्रों को इस सन्धि पर विचार-विमर्श के लिए बाध्य कर डाला। कार ने लिखा है, **"जो हो, सेव्रे की सन्धि को अमल में लाने की जो भी धुंधली आशा थी उसे यूनान की घटनाओं ने मिटा दिया।"**[2] अतः मित्र राष्ट्रों ने 24 जुलाई, 1933 को टर्की के साथ पुनः लोसान की सन्धि की।

लोसान की सन्धि
(TREATY OF LAUSANNE)

इस सन्धि के द्वारा निम्न निर्णय लिये गये :

(1) पूर्वी थ्रेस, स्मर्ना और आमीर्निया टर्की को लौटा दिये गये।

(2) मैसोपोटामिया, सूडान, सीरिया, अरब, मिस्र, साइप्रस, फिलीस्तीन पर उसका अधिकार छीन लिया गया।

(3) वासफोरस तथा दानियाल के जलडमरुओं को किलेबन्दी रहित एवं अन्तर्राष्ट्रीय ही रहने दिया गया।

(4) उस पर क्षतिपूर्ति न लादी गयी।

(5) कोई सैन्य प्रतिबन्ध न लगाया गया।

(6) टर्की के सुल्तान को अपने शासक के अन्तर्गत रहने वाला समस्त जातियों के समान व्यवहार का वचन लिया गया।

(7) अनातालिया पर टर्की की पूर्ण सत्ता मानी गयी।

इस प्रकार इस सन्धि के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि यह आरोपित शान्ति न थी। सेव्रे की सन्धि का पूर्ण विरोध कर टर्की ने मित्र राष्ट्रों के रोंगटे खड़े कर दिये थे। वस्तुतः लोसान की सन्धिं वास्तविक अर्थों में शान्ति सन्धि कही जा सकती है।

---

1 **"Turkey was thus reduced to little more than a shadow of her former self, and became a small Asiatic State in the Anatolian upland around Angora." —*Benns***

2 **ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 11।**

इस प्रकार यूरोप के नक्शे के पुनर्निर्माण का कठिन और श्रमसाध्य कार्य अन्त में पूर्ण हुआ। अनेक समस्याएं, विशेषकर वित्तीय, अभी हल करने को थीं, पर मुख्य कार्य, जिसमें 1919 में राजनयिकों ने पेरिस में हाथ लगाया था समाप्त हो गया था।

पेरिस शान्ति समझौते के प्रमुख चार स्तम्भ : लायड जार्ज (LLOYD GEORGE)

मैरियट ने लायड जार्ज के विषय में लिखा है, **"लायड जार्ज ने इंगलैण्ड तथा यूरोप की राजनीति में बीस वर्षों से भी अधिक समय तक एक महत्वपूर्ण तथा मूर्तिमान भूमिका निभाई"**[1] लायड का जन्म लन्दन में 1863 ई. में हुआ था। उसके पिता का नाम विलियम जार्ज था। 1890 में वह कामन सभा का सदस्य बना। 1905 और 1909 ई. में उसने इंगलैण्ड के वित्त-विभाग का संचालन किया और एक कुशल वित्तमन्त्री के रूप में ख्याति अर्जित की। 1916 ई. में उसने ऐसे समय में प्रधानमन्त्री का पद संभाला, जबकि युद्ध में जर्मनी लगातार सफलताएं प्राप्त कर रहा था। उसने **म्यूनिशन आंफ वार** (Munition of war) तथा युद्ध परिषद् (War cabinet) का गठन किया और उसके अथक प्रयत्नों से मित्र राष्ट्र विजयी हुए। जर्मनी को पराजित करने पर जार्ज ने कहा था, **"दूसरे लोगों ने साधारण लड़ाइयां जीती हैं मैंने एक युद्ध पर विजय प्राप्त की है।"**[2]

युद्ध की समाप्ति के बाद जार्ज की स्थिति का बड़ा रोचक वर्णन फिशर ने किया है।[3] परन्तु जार्ज ने बड़ी बुद्धिमानी से ब्रिटिश जनता के विचारों[4] को समझकर अपना चुनाव का नारा **"जर्मनी से पूर्ण हर्जाना लो, शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन"**[5] दिया और चुनाव जीता।

हालांकि उस चुनाव का नारा अत्यन्त कठोर था, परन्तु क्लेमांसू के मुकावले उसका दृष्टिकोण उदार था और जहां तक हो सका वह जर्मनी के प्रति उदार रहा। एक बार उसने कहा भी था, **"जर्मनी रूपी गाय का दूध तथा मांस एक साथ नहीं लिया जा सकता।"**

लायड जार्ज के सम्मुख तीन प्रमुख उद्देश्य थे :

(1) नौसेना के मामले में जर्मनी का सर्वनाश,

(2) फ्रांस अत्यधिक शक्तिशाली न बने,

(3) इंगलैग्ड को अधिक से अधिक लाभ दिलवाना।

जार्ज अपने उद्देश्यों में पूर्ण सफल रहा, फिशर महोदय के अनुसार वह इंगलैण्ड को लाभ देने के रूप में सफल रहा।[6] यही कारण है लैन्सिग ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा

1 Lloyed George played a prominent and a picturesque part in the politics of England as well as Europe for more than two years." —*Marriot*

2 "While others won battles, I won the war." —*George*

3 "Yet despite his brilliant war leadership, and all the lustre of his country's achievements by sea and land, Mr. Lloyd George went in to the conference under a handicap." —H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1263.

4 "The cry went up that Germany should pay the whole cost of the war, that the Kaiser should be hanged and that all Germans who had violated the laws of war should be brought to trial and punished." —H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1263

5 "Make Germany pay, Shilling for Shilling and Ton for Ton."

6 "Every point in the negotiations which could be won for the British Empire, Mr. Lloyd George was successful in gaining." —H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1263.

है—"**उसके पास एक अद्भुत सजग मस्तिष्क था जो अथक स्फूर्ति से छलकता रहता था, वह बड़ी तेजी के साथ निर्णय कर लिया करता था और उसमें न तो बारीकियों का ध्यान रखता था और न मूलभूत प्रश्नों का, जीवन से उत्फुल्ल, व्यवहार से शिष्ट और स्वभाव से सरल, वह सामाजिक दृष्टि से बहुत ही आकर्षक व्यक्ति था।**"[1]

क्लेमांसू
(CLEMENCEAU)

फ्रांस का प्रधानमन्त्री क्लेमांसू शान्ति सम्मेलन के समय 80 वर्ष का वृद्ध व्यक्ति था स्पष्ट है कि उसने राजनीति के प्रत्येक दांव देखे होंगे। उसे सम्मेलन का शेर एवं वयोवृद्ध केसरी की संज्ञा दी गई है। यूरोप की तत्कालीन परिस्थितियों का जितना विशद ज्ञान उसे था शायद ही सम्मेलन में किसी को था। लैंगसम ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।[2] फिशर महोदय ने उसे क्रूर भी माना है तो साथ ही फ्रांसीसी संसद के प्रति स्वामिभक्त माना है।[3]

उसका प्रमुख उद्देश्य फ्रांस की सुरक्षा था और उसे वह हर कीमत पर पाना चाहता था, इसीलिए उसने लायड जार्ज एवं विल्सन पर छींटाकशी करते हुए कहा था, "**लायड जार्ज अपने को नेपोलियन मानता है और विल्सन स्वतः को ईसामसीह।**"[4] ईश्वर भी दस आदेश देता है विल्सन 14 आदेश देता है।[5]

कीन्स के अनुसार, "**फ्रांस के प्रति उसका दृष्टिकोण वही था जो कि पेरीक्लीज का ऐथेन्स के प्रति था।**" वास्तव में, अपनी नीतियों के कारण वह पूरे सम्मेलन में छा गया। इसलिए कहा भी जाता है कि उसने सम्पूर्ण सम्मेलन को ही जीत लिया था।[6]

आर्लेण्डो
(ARLANDO)

आर्लेण्डो इटली का प्रधांनमन्त्री था। वह एक कुशल वक्ता एवं कूटनीतिज्ञ था। 1915 की लन्दन की सन्धि का पक्षधर होने से विल्सन उससे नाराज था। अतः सम्मेलन की बैठकों में उसने कम ही भाग लिया।

विल्सन

वुड्रो विल्सन संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति था। वह एक सुन्दर, द्वेष रहित एवं शान्ति से युक्त संसार का स्वप्न देखा करता था। जिस समय युद्ध समाप्त हुआ सम्पूर्ण संसार

---

1 शर्मा और व्यास, यूरोप का इतिहास, पृ. 371।

2 "Clemenceau probably was the best diplomat at conference, for surpassing his colleague in knowledge of world affairs and human nature." —*Langsam*

3 "The French Prime Minister was Clemenceau, a rude, sensible, witty octogenarian, utterly empty of illusions, but faithful throughout his violent parliamentary and journalistic career to three affections, science, Froance and liberty." —H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1261.

4 "Lloyd George belives himself to be Napoleon, but president Wilson believes himself to be Jesus Christ." —*Clemenceau*

5 "Even God was satisfied with ten commandments, but Wilson insists on Fourteen." —*Clemenceau*

6 "The french army it was said, had won the war but clemenceau had sold the peace." —H. A. L. Fisher, *A History of Europe.*

विल्सन की ओर ऐसे देख रहा था मानो उससे किसी चीज की याचना कर रहा हो। शेपिरो ने लिखा है, **"युद्ध से जर्जरित विश्व विल्सन की ओर इस भावना से निहार रहा था कि वह उस राष्ट्र का प्रतिनिधि था जिसे अपने लिए कोई स्वार्थ नहीं था और जिसने विश्व के सहयोग के द्वारा हमेशा के लिए मानव को युद्ध के ताप से विमुक्त करने का स्वप्न देखा था।"**[1] विल्सन आदर्शवादी था। वह धूर्तता एवं कुटिल चालों से परे था। उसने अपने 14 सिद्धान्तों के आधार पर विश्व शान्ति का स्वप्न देखा था। **उसके 14 सिद्धान्त निम्नवत् हैं :**

1. गोपनीय तरीकों से अन्तर्राष्ट्रीय समझौते नहीं किये जायेंगे, राजनय सदैव निष्कपट रूप में तथा सार्वजनिक दृष्टि से कार्य करेगा, सन्धियां खुले रूप से की जायं।
2. समुद्रतटीय भागों के अलावा युद्ध अथवा शान्ति काल, दोनों अवस्थाओं में जहाज चलाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।
3. आन्तरिक सुरक्षा के लिए जितने अस्त्र-शस्त्र पर्याप्त हों उतने ही रखे जायें।
4. औपनिवेशिक दावे बिना पक्षपात के निर्णीत हों।
5. रूस से सेनाएं हटा ली जायें तथा उसकी स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान हो।
6. बेल्जियम को खाली किया जाय तथा उसकी स्वतन्त्रता मान्य हो।
7. सम्पूर्ण फ्रांसीसी भूमि स्वतन्त्र कर दी जानी चाहिए। आल्सेस या लरेन के प्रदेश फ्रांस को लौटा दिये जायें।
8. इटली की राष्ट्रीयता के आधार पर उसकी सीमाएं पुनः निर्धारित की जायें।
9. आपसी व्यापार में चुंगियां कम से कम हों।
10. रूमानिया, सर्बिया, माण्टेनेग्रो खाली किये जायें, सर्बिया को यह अधिकार दिया जाय कि वह समुद्र तट तक पहुंच सके।
11. टर्की का शासक, अपने शासन के अन्तर्गत रहने वाली सभी जातियों के प्रति समानता की नीति अपनायेगा, डार्डेनेलीज का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाय।
12. आस्ट्रिया हंगरी के विकास हेतु साधन उपलब्ध कराये जायें।
13. पोलैण्ड की स्वतन्त्रता मान्य हो। पोलैण्ड में वे क्षेत्र मिला दिये जायें, जो निर्विवाद रूप से पोल हों। उसकी प्रादेशिक अंखण्डता, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता को मान्यता दी जाय।
14. विश्व शान्ति के लिए छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों का संगठन हो, जिससे दोनों प्रकार के राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता की गारण्टियां समान रूप से दी जा सकें।

पेरिस शान्ति सम्मेलन में विल्सन के 14 सूत्रों का स्थान

विल्सन के 14 सूत्रों का विश्व शान्ति की कल्पना में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है, यदि पेरिस के शान्ति सम्मेलन में उनका पूर्णतया पालन हुआ होता तो सम्भवतया द्वितीय विश्व-युद्ध न हुआ होता और न जाने विश्व का इतिहास आज क्या होता? खैर विल्सन

---

1 "The eyes of war torn world turned to the American president as the one who represented a nation that wanted nothing for herself, as the one statesman who had seen a vision of a fraternity of nations that would unite mankind to abolish war for ever."
—*Schapiro*

द्वारा प्रतिपादित 14 सूत्रों का पालन हालांकि अक्षरशः नहीं किया गया, किन्तु बहुत कुछ क्षेत्रों में इनका पालन किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को प्रकाशित करने की व्यवस्था राष्ट्र संघ द्वारा की गयी, हालांकि इससे गुप्त सन्धियां नहीं टाली जा सकीं फिर भी यह एक महत्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है, बेल्जियम से सेनाएं हटायी गयीं, आल्सेस तथा लारेन के प्रदेश फ्रांस को सौंप दिये गये। सामुद्रिक स्वतन्त्रता की शर्त किसी को मान्य न हुई। जहां तक जल मार्गों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण का प्रश्न था कुछ का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, किन्तु चुंगियों की व्यवस्था पूर्ववत तनी रही। निःशस्त्रीकरण पराजित राष्ट्रों का ही किया गया। अमेरिका व इंगलैण्ड के अलावा कोई भी देश स्वतः में इसे लागू होने न देना चाहता था। उपनिवेशों में बंटवारे का आधार संरक्षण का सिद्धान्त अपनाया गया, परन्तु इसका भी पूर्णतया पालन न हो सका। रूस से जर्मनी की सेनाएं हटा ली गयीं। इटली के प्रश्न में भी आंशिक पालन हुआ। आस्ट्रिया हंगरी में रहने वाली अल्पसंख्यक जातियों की ओर विशेष ध्यान न दिया गया। टर्की के सम्बन्ध में भी पूर्णतया पालन न हो पाया। राष्ट्र संघ की स्थापना अपने आप में महत्वपूर्ण कदम था।

वास्तव में विल्सन के 14 सिद्धान्त केवल राजनैतिक भाषण थे। कुछ अपने आप में परस्पर विरोधी थे। फिशर के अनुसार वह अपने ही देश में अकेले थे।[1] **परन्तु यह तो कहना ही होगा कि विल्सन के 14 सूत्र अपने आप में महत्वपूर्ण थे और जितना भी उनका पालन हुआ उसने पेरिस शान्ति समझौते की कठोरता को कम करने में काफी मदद की थी।**

प्रश्न

1. वार्साय की सन्धि के गुण एवं दोषों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए। **(गोरखपुर, 1990)**
2. वार्साय की सन्धि का जर्मनी पर क्या असर हुआ? **(पूर्वांचल, 1990)**
3. वार्साय की सन्धि द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी थी? व्याख्या कीजिए। **(गोरखपुर, 1991)**
4. वार्साय की सन्धि यूरोपीय राजनीतिज्ञों की राजनीतिक भूल थी? व्याख्या कीजिए।
5. विल्सन के 14 सूत्रीय कार्यक्रम पर लेख लिखिए।
6. वार्साय की सन्धि की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। यूरोप में शक्ति स्थापना में यह कहां तक सफल रही। **(गोरखपुर, 1989, 93, 96; पूर्वांचल, 1991, 92; लखनऊ, 1989, 91, 92, 93)**
7. पेरिस के शान्ति सम्मेलन के महत्व का मूल्यांकन कीजिए। **(गोरखपुर, 1992)**
8. पेरिस शान्ति समझौते के मुख्य प्रावधानों की संक्षेप में विवेचना कीजिए। **(लखनऊ, 1989)**

---

1 **"President Wilson indeed was a idealist "but in his own country he was almost alone."**

2

राष्ट्र संघ

[THE LEAGUE OF NATIONS]

राष्ट्र संघ का जन्म
(GENESIS OF LEAGUE OF NATIONS)

राष्ट्र संघ राष्ट्रपति विल्सन का आविष्कार नहीं कहा जा सकता।[1] वास्तव में यह कतिपय शान्ति के पक्षधरों के मस्तिष्क की उपज का समागम था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान विश्व को जिन विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा था, उसने विभिन्न देशों के शान्ति विचारकों एवं राजनीतिज्ञों को झकझोर कर रख दिया।

इंग्लैण्ड में लार्ड ब्राइस के नेतृत्व में फरवरी, 1915 में **'युद्ध टालने के लिए प्रस्ताव'** नामक लेख प्रकाशित हुआ। मई, 1915 में इंगलैण्ड में **'लीग आफ सोसाइटी'** की स्थापना हो चुकी थी। टैफ्ट, जो कि अमेरिका का भूतपूर्व राष्ट्रपति था, की अध्यक्षता में अमेरिका में शान्ति स्थापित करने वाले संघ की स्थापना हुई। न्यूयार्क में **स्वतन्त्र राष्ट्र संघ लीग** नामक संस्था का निर्माण हुआ। इस प्रकार अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस एवं न्यूयार्क में इस तरह की विचारधारा के संगठन बन चुके थे। 22 जनवरी, 1917 को विल्सन ने अमेरिकन सीनेट में शान्ति हेतु विश्व संघ की बात कही थी। अतः कहा जा सकता है कि युद्ध की समाप्ति होते-होते एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का माहौल पैदा हो चुका था।

जब पेरिस का सम्मेलन आयोजित हुआ तो उससे पूर्व ही ब्रिटिश विदेश विभाग द्वारा निर्धारित एक कमेटी ने जिसकी अध्यक्षता लार्ड फिलीमोर ने की, मार्च 1918 में राष्ट्र संघ की योजना की रूपरेखा तैयार की। कर्नल हाउस, स्टमस, विल्सन, लार्ड सेसिल ने भी अपने-अपने ढंग से रूपरेखाएं बनायीं। 20 जनवरी, 1919 तक इन सभी के प्रारूपों में परिवर्तन होते गये और अन्ततः ब्रिटेन के रखे गये प्रारूप एवं विल्सन के अन्तिम प्रारूप को संयुक्त रूप से संशोधित कर एक नया प्रारूप बनाया गया जिसे शान्ति सम्मेलन के 19 सदस्यों के एक आयोग के अध्ययनार्थ रखा गया, जिसका अध्यक्ष विल्सन था। 28 अप्रैल, 1919 को संशोधित प्रारूप को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। **इस प्रकार अन्ततः 10 जनवरी, 1920 ई. को लीग आफ नेशन्स का वैधानिक रूप से जन्म हुआ।**

1 "The idea of a League of Nations was not original with Wilson, but was a Anglo-Saxon Conception." —Fisher, *A History of Europe*, p. 1266.

राष्ट्र संघ का संविधान
(CONSTITUTION OF THE LEAGUE OF NATIONS)

राष्ट्र संघ जिसे कि समझौते का नाम दिया गया था। 26 धाराओं तथा एक भूमिका वाले संविधान से युक्त था। संविधान की दसवीं, बारहवीं एवं सोलहवीं धाराएं अत्यन्तपूर्ण हैं। इनमें प्रादेशिक अखण्डता, न्यायिक व्यवस्था, आर्थिक एवं सैन्य व्यवस्था का विवरण दिया गया है। मैरियट के अनुसार, **"राष्ट्र संघ के नियमों की प्रतिलिपियां मित्र राष्ट्रों और साथियों तथा कुछ दिन पहले के शत्रुओं के बीच होने वाली सभी मुख्य सन्धियों के आदि में लगायी गयी थीं।"**[1]

उद्देश्य

राष्ट्र संघ की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य उसके प्रारूप की भूमिका में निहित हैं—प्रथमतः, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्ति सन्धियों के माध्यम से निपटारा करना, द्वितीयतः, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं शान्ति को बढ़ावा देना, तृतीयतः मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाना जिससे कि विकास एवं उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो। हेजन ने इसका विशद वर्णन करते हुए लिखा है, **"सुभाषी आदर्शवादियों ने बार-बार कहा था कि यह अन्तिम युद्ध था जिसका उद्देश्य युद्ध को समाप्त करना था, यदि इस पवित्र भावना की पूर्ति होनी थी तो वह केवल संघ द्वारा ही हो सकती थी। समझौता तैयार होने के पूर्व और पश्चात् उसके प्रस्तावकों ने इसी आशय से उसकी सिफारिश की थी कि वह उद्देश्य की पूर्ति की वास्तव में आशा दिलाता था अथवा उसकी पूर्ति की बहुत कुछ आशा दिलाता था।"**[2]

सदस्यता

हेजन के अनुसार, "प्रारम्भ में राष्ट्र संघ में दो वर्गों के राज्य सम्मिलित होने थे, प्रथमतः, सन्धि के मूल हस्ताक्षरकर्ता जिनकी कुल संख्या बत्तीस थी और द्वितीयतः, कुछ अन्य राज्य, जिनकी संख्या तेरह थी और जो आमन्त्रण को स्वीकार करने के पश्चात् सदस्य बनने थे।"[3] परन्तु समझौते पर प्रारम्भ में केवल 16 देश ही इसके सदस्य बने। **सबसे विचारणीय एवं आश्चर्यजनक बात तो यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी इसका सदस्य नहीं बना।**[4] जर्मनी को इसकी सदस्यता 1926 में दी गयी जिसने 1933 में इसे छोड़ा। रूस 1933 में सदस्य बना, किन्तु उसे 1940 में वंचित कर दिया गया। जापान ने 1933 में और इटली ने 1937 में इसकी सदस्यता छोड़ दी।

सदस्यता के सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि असेम्बली का 2/3 बहुमत मिलने पर किसी भी देश को इसकी सदस्यता प्रदान की जा सकती थी, कौंसिल अपनी सर्वसम्मति से किसी को भी सदस्यता से वंचित कर सकती थी। यह भी प्रतिबन्ध था कि यदि कोई देश स्वेच्छा से सदस्यता को छोड़ना चाहे तो उसे दो वर्ष का नोटिस देना होगा।

राष्ट्र संघ का संगठन
(ORGANIZATION OF THE LEAGUE OF NATIONS)

राष्ट्र संघ के प्रमुख अंग अग्रलिखित थे :

---

1 मैरियट, आधुनिक इंगलैण्ड का इतिहास, पृ. 412।

2 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 601।

3 वही, पृ. 599।

4 "America neither signed the treaty nor joined the League."
—Fisher, *A History of Europe*, p. 1271.

(क) साधारण सभा (The Assembly)—साधारण सभा को असेम्बली भी कहा जाता था, इस संघ का प्रत्येक देश अपने तीन प्रतिनिधि साधारण सभा के लिए प्रेषित कर सकता था, किन्तु एक से अधिक मत एक राष्ट्र का नहीं होता था, इसका वार्षिक अधिवेशन होता था, जो कि सितम्बर, जनवरी या मई के माह में जेनेवा में होता था। यह अपने सभापति का चयन सदस्यों में से करती थी। साथ ही आठ उप-सभापति भी चयनित किये जाते थे। एक बात उल्लेखनीय है कि साधारण सभा के अध्यक्ष एवं उप-सभापतियों का चयन केवल एक वर्ष के लिए होता था। **यही नहीं, 6 स्थायी समितियां बनायी गयी थीं**—(1) विश्व में नि:शस्त्रीकरण के क्षेत्र से सम्बन्धित समिति, (2) तकनीकी संगठनों से सम्बन्धित समिति, (3) मानवतावादी एवं समाजवादी प्रश्नों से सम्बन्धित समिति, (4) राजनैतिक क्षेत्र में उठे प्रश्नों के निदान से सम्बन्धित समिति, (5) कानूनों के गठन एवं पालन से सम्बन्धित समिति, (6) महत्वपूर्ण विवादों के सन्दर्भ में असेम्बली के विशेषाधिकार द्वारा निर्मित होने वाली समिति।

राष्ट्र संघ व उसके प्रमुख अंग

↓

साधारण सभा
(Assembly)
[सभी सदस्य राष्ट्रों के सदस्य होते थे। जेनेवा में प्रतिवर्ष सभा का आयोजन, एक प्रकार से निचले सदन के समान।]

परिषद्
(Council)
[उच्च सदन के समान जिसमें कुछ स्थायी व कुछ अस्थायी सदस्य। कार्य परिषद् का कार्य भी।]

↓

सचिवालय
(Secretariat)
[स्थायी कार्यालय जेनेवा में, महासचिव की देख-रेख में काम, अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों को देखती थी। राष्ट्र संघ की कार्यवाही को लेखनीवद्ध करना, आवश्यक सूचना एकत्र करना, पत्र-व्यवहार करना प्रमुख कार्य।]

↓

परामर्श आयोग
(Advisory Commission)
[विभिन्न आयोग जिनका कार्य अपने-अपने क्षेत्र में राष्ट्रसंघ को परामर्श देना था। उदाहरणार्थ, सेना के लिए आयोग। बच्चों की सुरक्षा के लिए आयोग इत्यादि।]

तकनीकी आयोग
(Technical Commission)
[तकनीकी विषयों में परामर्श देने के लिए।]

↓

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(Permanemt court of International Justice)
[15 न्यायाधीश, अन्तर्राष्ट्रीय मामले निबटाना।]

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ
(International Labour organization)
[तीन अंग थे—(i) साधारण सभा, (ii) प्रशासकीय सभा, (iii) कार्यालय। मजदूरों की स्थिति सुधारने का कार्य।]

कार्यक्षेत्र

(1) **परामर्श सम्बन्धी**—यदि कोई ऐसा विवाद जो कि अन्तर्राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित हो, असेम्बली विचार कर सकती थी तथा अपने प्रस्ताव को कौंसिल के सम्मुख रख सकती थी, किन्तु विडम्बना यह थी कि असेम्बली उक्त विषयक विवादों या प्रश्नों पर केवल विचार ही कर सकती थी अथवा कौंसिल को प्रस्ताव ही भेज सकती थी। इसके अलावा कुछ भी नहीं। कोई कार्यवाही नहीं कर सकती थी।

(2) **निर्वाचन सम्बन्धी**—असेम्बली 2/3 बहुमत से प्रतिवर्ष अध्यक्ष एवं उपाध्यक्षों का चयन करती थी। राष्ट्र संघ का महासचिव, जिसकी नियुक्ति राष्ट्र संघ द्वारा होती थी, इसकी पुष्टि करता था।

(3) **अंगीभूत कार्य**—असेम्बली को यह अधिकार था कि वह संविदा के नियमों में परिवर्तन कर सकेगी, किन्तु यह परिवर्तन तभी मान्य होते थे जबकि उसे कौंसिल या प्रभावित देश स्वीकार करें।

मावर का विचार है, **"वास्तव में सभा केवल एक वाद-विवाद का मंच न होकर राष्ट्र संघ का एक प्रभावशाली अंग थी।"**[1]

किन्तु वास्तविकता से देखें तो कहा जा सकता है कि असेम्बली के पास अधिकार क्षेत्र तो थे, किन्तु कई निर्णयों को वह केवल कौंसिल को प्रेषित भर ही कर सकती थी लागू नहीं। कहा जा सकता है कि वह ज्यादा संवैधानिक संस्था ही थी व्यावहारिक कम।

(ख) कौंसिल (परिषद्) (Council)—परिषद् (कौंसिल) जो संघ की कार्यकारिणी भी कही जा सकती है दो प्रकार के सदस्यों वाली थी, प्रथमतः, स्थायी सदस्यों से युक्त द्वितीयतः, अस्थायी सदस्यों से युक्त।

जिस समय राष्ट्र संघ का मसौदा तैयार किया गया उस समय यह विचार रखा गया कि अमेरिका, इंगलैण्ड, इटली, फ्रांस और जापान इसके स्थायी सदस्य होंगे, **परन्तु बड़े आश्चर्य की बात थी कि जिस राष्ट्र संघ के निर्माण में अमेरिका का महत्वपूर्ण हाथ था, वही इसका सदस्य न बना।**[2] अतः स्थायी सदस्यों की संख्या केवल 4 रह गयी। इन्हें निषेधाधिकार प्राप्त नहीं था।

अस्थायी सदस्यों की संख्या प्रारम्भ में 4 फिर बढ़ते-बढ़ते 11 तक पहुंच गयी। इसकी अवधि 3 वर्ष की थी। महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसके 1/3 सदस्य प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करते थे। तात्पर्य यह है कि 1/3 सदस्यों का प्रतिवर्ष चयन होना निश्चित था।

अध्यक्षता—परिषद् की अध्यक्षता क्रमानुसार[3] परिवर्तित होती रहती थी। अतः अध्यक्ष का चयन केवल एक ही देश के प्रतिनिधि के हाथ नहीं था।

कार्यक्षेत्र

(अ) **निर्वाचन एवं नियुक्ति सम्बन्धी**—असेम्बली के सहयोग से कौंसिल के अतिरिक्त स्थायी, अस्थायी सदस्यों की नियुक्ति, अस्थायी सदस्यों की संख्या निर्धारण, महासचिव की

1 Mawer, *International Government*, p. 379.

2 इसका कारण यह था कि अमेरिका की सीनेट ने वार्साय की सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था क्योंकि इसके द्वारा सभी देशों के साथ समान व्यवहार (विल्सन का एक सिद्धान्त) का खण्डन होता था। वार्साय सन्धि के आधार पर ही राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी थी। अतः अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य न बन सका।

3 सदस्यों की फ्रेंच नामावली के अनुसार।

नियुक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के सदस्यों तथा न्यायालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करती थी।

(ब) शान्ति व्यवस्था से सम्बन्धित कार्य—राष्ट्र संघ की संविदा के 10वें अनुच्छेद में शान्ति व्यवस्था से सम्बन्धित प्रयोगों का विवेचन दिया गया है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण कार्य निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "संघ की परिषद् विभिन्न स्थानों द्वारा विचार तथा कार्यवाही हेतु योजनाएं तैयार करेगी और विभिन्न शासनों द्वारा इन योजनाओं को स्वीकार किये जाने के पश्चात् परिषद् की सहमति के बिना उन योजनाओं में निर्धारित मात्रा में वृद्धि नहीं की जायेगी। शासकों को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि युद्ध सामग्री व उसके व्यक्तिगत उत्पादन के दुष्परिणामों को किस प्रकार न्यून किया जा सकता था और उनको सैनिक कार्यक्रमों की सूचना पूर्णरूप से तथा बिना किसी हिचक के एक-दूसरे को देनी थी।"[1]

इसी अनुच्छेद में यह भी स्पष्ट है कि यदि राष्ट्र संघ के किसी सदस्य पर कोई अन्य देश आक्रमण करेगा तो राष्ट्र संघ अपने सदस्य को सैनिक सहायता प्रदान करेगा, परन्तु यह कार्य परिषद् को सौंपा गया कि वह निर्णय दे कि कितनी मात्रा में सैनिक सहायता दी जायेगी। इसके अलावा परिषद् विभिन्न देशों के विवादों का निपटारा करती थी तथा असेम्बली के पास भी इन झगड़ों की व्याख्या की जाती थी। हार्वर्ड का कथन है, **"विश्व शान्ति की दिशा में परिषद् एक उत्साहवर्द्धक कदम था जिससे यह स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से भी किया जा सकता है।"**[2]

मैण्डेट व्यवस्था की व्यवस्था सम्बन्धी कार्य—उन सभी छोटे देशों के विषय में जानकारी लेना जो बड़े देशों के शासनादेश के अन्तर्गत शासित होते थे। सार की घाटी, डेन्जिग तथा मिश्रित आयोगों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अनेक कार्य करने पड़ते थे।

इन परिस्थितियों का अवलोकन करने पर कहा जा सकता है कि राष्ट्र संघ की परिषद् को व्यवहार में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वह असेम्बली के मुकाबले कार्यशक्तियों के सन्दर्भ में पूर्णतया ज्यादा शक्तिशाली कही जा सकती है।

(ग) सचिवालय—राष्ट्र संघ का एक सचिवालय भी था। इसे सर्वाधिक उपयोगी एवं कम विवादास्पद अंग कहा जाता है। इसमें कार्य करने वाले लोगों की कुल संख्या 600 थी, महासचिव इसका प्रधान होता था। सर ड्यूमण्ड ही 1920 से 1933 तक इसका महासचिव रहा।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन यद्यपि राष्ट्र संघ के बजट से ही चलता था, किन्तु यह प्रशासनिक क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र था। प्रसिद्ध इतिहासकार के शब्दों में, **"अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन जिसका कार्यालय जेनेवा में था, का निर्माण शान्ति सन्धियों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा श्रमिकों की स्थिति में प्रचार के उद्देश्य से हुआ था।"**[3] यह भी उल्लेखनीय है कि इसकी अपनी एक साधारण सभा, परिषद् एवं अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय भी था, परन्तु इसकी उपलब्धियां अपने आप में सीमित नहीं, परन्तु इसका अपने आप में

1 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 602।
2 Harward Ellis, *The Origin, Structure and Working of the League of Nations*, p. 157.
3 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 96-97।

विशेष महत्व है कि इसने श्रमिकों के संगठन की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया था। श्रमिकों से 48 घण्टे प्रतिमाह कार्य की सीमा निर्धारित की गयी। 14 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों से भी कार्य करवाना वर्जित किया गया जो कि आज भी विभिन्न देशों में पालनीय कहा जा सकता है वह चाहे कितना ही सीमित क्यों न हो।

(ङ) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विचार राष्ट्र संघ के अनुच्छेद 14 में दिया गया है, इसका प्रमुख उद्देश्य ऐसे विचारों को जो कि दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच हों और राष्ट्र संघ के न्यायालय के सम्मुख समाधान हेतु प्रस्तुत किए जाएं, उनका समाधान करना था। कार के अनुसार, **"न्यायालय की संविधि में एवं तथाकथित ऐच्छिक धारा भी थी जिस पर हस्ताक्षर करने वालों के लिए यह आवश्यक था कि वे उनके और राष्ट्र संघ के अन्य सदस्यों के बीच वैधिक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के विवाद को उसके सामने निर्णय हेतु प्रस्तुत करें।"**[1]

इस न्यायालय के लिए प्रारम्भ में 11 न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी, किन्तु पश्चात् में यह संख्या 15 कर दी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का केन्द्र हेग को चुना गया। कार के अनुसार 1922 से 1933 के बीच पचास से भी अधिक मामलों में इसने निर्णय एवं राय दी।[2]

(च) एजेंसियां तथा आयोग—राष्ट्र संघ के द्वारा कार्यों का सम्पादन यथोचित रूप से यथासमय हो सके, इसके लिए विभिन्न एजेंसियां तथा आयोगों की स्थापना की, आर्थिक वित्तीय, यातायात, मादक पदार्थ निषेध आयोग, आदि उल्लेखनीय हैं, इन एजेंसियों एवं आयोगों के द्वारा समय-समय पर अपनी रिपोर्टें आयोग को प्रेषित की जाती थीं।

राष्ट्र संघ के कार्य
(WORKS OF LEAGUE OF NATIONS)

राष्ट्र संघ ने अपने उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए लगभग 20 वर्षों तक कार्य किया, इन बीस वर्षों के कार्यकाल में उसके द्वारा किये गये अनेक कार्यों में उसे सफलताएं भी मिलीं और असफलताएं भी, परन्तु उसके द्वारा सम्पादित सफलताएं भी आलोचना का मूल विषय रही हैं।

राष्ट्रसंघ द्वारा सम्पादित सफल कार्य (Achievements of League of Nations)

(क) प्रशासनिक कार्य—प्रशासनिक या राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्रसंघ द्वारा निम्न सफल प्रयास किये गये :

(1) अल्बानिया विवाद का हल—यूनान और यूगोस्लाविया के पश्चिम में स्थित अल्बानिया एक छोटा-सा देश था। अल्बानिया को यूनान और यूगोस्लाविया दोनों आपस में बांटना चाहते थे। इधर राष्ट्रसंघ के द्वारा अल्बानिया को स्वतन्त्र राज्य घोषित किया जा चुका था, अतः 1912 ई. में यूगोस्लाविया ने अल्बानिया में अपनी सेनाएं भेजीं। अल्बानिया की अपील पर राष्ट्र संघ ने इस मामले को समझौते द्वारा हल करने में सफलता प्राप्त की।

(2) आलैण्ड का विवाद—आलैण्ड द्वीप समूह पर, जो कि बाल्टिक सागर में स्थित था, स्वेडन तथा फिनलैण्ड अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। अतः विवाद स्वाभाविक था।

1 वही, पृ. 97।
2 वही, पृ. 97।

राष्ट्र संघ ने तीन सदस्यीय एक आयोग का गठन उक्त विवाद का हल करने हेतु किया। आयोग की सिफारिश पर कौंसिल ने आलैण्ड पर फिनलैण्ड के आधिपत्य की घोषणा की, परन्तु वहां निवास करने वाली स्वेडिश जनता के अधिकारों एवं सुरक्षा की गारण्टी दी गयी। स्वेडिश निवासी स्वेडिश भाषा में शिक्षा ले सकेंगे। यह द्वीप निःशस्त्र एवं तटस्थ घोषित किया गया। दोनों देशों ने इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

(3) **रूमानिया और हंगरी से सम्बन्धित विवाद**—पेरिस के गठित समझौते के अनुसार रूमानिया को ट्रांसिलवानिया और वनात का प्रदेश दे दिया गया था, परन्तु ट्रांसिलवानिया और वनात में जो हंगेरियन निवास करते थे वे चाहते थे कि वे हंगरी चले जायें, परन्तु रूमानिया को दिये गये इन प्रदेशों में उनकी सम्पत्ति लगी हुई थी। अतः अब यह प्रश्न रूमानिया और हंगरी दोनों देशों में विवाद का विषय बन गया। राष्ट्र संघ ने इस विवाद का शान्तिपूर्ण ढंग से अन्त कर दिया।

(4) **यूनान और बल्गेरिया का विवाद**—यह विवाद बाल्कान समस्या से सम्बन्धित था। अक्टूबर 1925 में यूनानी सीमा में तैनात एक यूनानी कमाण्डर की हत्या हो गयी, फलस्वरूप यूनानी सेना बल्गेरिया में घुस गयी और 70 वर्ग मील भूमि पर कब्जा कर लिया। बल्गेरिया ने प्रसंविदा के अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत राष्ट्र संघ के सम्मुख समस्या को रखा। राष्ट्र संघ ने पेरिस में अधिवेशन बुलाकर यूनानी सरकार को आदेश दिया कि वह अपनी सेनाएं अधिकृत क्षेत्र से हटा ले। ब्रिटेन, फ्रांस एवं इटैलियन अधिकारियों को निर्देश दिये कि वे वस्तुस्थिति का परीक्षण करें। फलतः यूनानी सेनाएं वहां से हट गयीं। 5 व्यक्तियों के कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यूनान को दोषी ठहराया, फलतः यूनान को युद्ध का मुआवजा देना पड़ा। कार के अनुसार, **"यूनान-बल्गेरिया विवाद कमजोर और बराबरी के ऐसे राज्यों में था, जिनमें से किसी के भी परिषद् में कोई प्रभावशाली समर्थक नहीं थे। इन बातों के कारण यह विवाद स्पष्ट रूप में राष्ट्र संघ की कार्यवाही के योग्य था। इससे परिषद् के लिए निष्पक्ष निर्णय करना और उसे दोनों ही पक्षों से स्वीकृत करा लेना सरल हो गया।"**[1]

(5) **फ्रांस व ब्रिटेन का विवाद**—मोरक्को एवं ट्यूनिस में आधिपत्य को लेकर फ्रांस व इंगलैण्ड के बीच आपस में झगड़ा हो गया। फ्रांस ने ब्रिटेन के इस प्रस्ताव को **'पंच निर्णय'** द्वारा इस मामले को हल किया जाना चाहिए, नामंजूरी दे दी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस फ्रांसीसी दावे को वह **'उसका घरेलू मामला है'**, अस्वीकृत कर दिया। अन्ततः मामला राष्ट्र संघ तक पहुंचा और आपसी माध्यम से समझौता हो गया।

(6) **मेमल समस्या**—लिथुआनिया ने 1923 ई. में मेमल पर आक्रमण किया और फ़्रांसीसियों को वहां से निकाल दिया। राष्ट्र संघ ने इस पर निर्णय दिया कि मेमल निवासी आन्तरिक रूप से स्वतन्त्र रहेंगे, किन्तु बन्दरगाह के अलावा सारे मेमल पर लिथुआनिया का अधिकार माना जायेगा। वहां पर शासन करने हेतु एक बोर्ड बनाया गया।

(7) **पोलैण्ड एवं चैकोस्लोवाकिया का विवाद**—पोलैण्ड एवं चैकोस्लोवाकिया दोनों ने राष्ट्र संघ के द्वारा निर्धारित की गयी सीमाओं को स्वीकार किया।

(8) **मौसूल विवाद**—पेरिस की सन्धि के अन्तर्गत टर्की के साथ हुई सन्धि में यह व्यवस्था थी कि टर्की और ब्रिटिश के प्रदेशाधीन राज्य इराक के बीच यदि सीमान्त समझौता न हो

1 **ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**, पृ. 93।

पाये तो इसका निर्णय राष्ट्र संघ की परिषद् द्वारा किया जायेगा। 1924 में राष्ट्र संघ ने एक आयोग उक्त सन्दर्भ में गठित किया। इसी बीच टर्की की कुर्द जाति ने टर्की के सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया और फलस्वरूप कुर्द भागकर मौसूल आये और अस्थायी सीमान्त पर मुठभेड़ें हुईं। राष्ट्र संघ ने इस सम्बन्ध में दूसरा आयोग बिठाया जिसने अपनी रिपोर्ट में तुर्क कठोरता का उल्लेख किया। राष्ट्र संघ ने निर्णय लिया कि मौसूल का विलायत का सारा प्रदेश शासनाधीन मान लिया जाय, टर्की ने इसे नामंजूर कर दिया, किन्तु मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तक ले जाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने राष्ट्र संघ की परिषद् के निर्णय को अन्तिम फैसला माना। टर्की को विवश होकर इसे मानना पड़ा। इस प्रकार सीमान्त सम्बन्धी विवाद समाप्त हुआ।

(9) **लोटेशिया का मामला**—पेरू तथा कोलम्विया के बीच लोटेशिया के प्रश्न पर विवाद छिड़ गया। पेरू ने लोटेशिया पर अधिकार कर लिया। कोलम्बिया की अपील पर राष्ट्र संघ ने 1934 में समझौता कराया। पेरू को लोटेशिया, कोलम्बिया को लौटाना पड़ा।

(10) **अपर साइलेशिया**—जर्मनी और पोलैण्ड के मध्य सीमा विवाद को लेकर साइलेशिया का प्रश्न आया, परिषद् ने निर्णय दिया कि अपर साइलेशिया का विभाजन कर दोनों में बांट दिया जाय। कार ने लिखा है, **"राष्ट्र संघ की सभी सफलताओं के बारे में अधिक ध्यान देने योग्य बात यह थी कि ये सफलताएं समझौतों का मार्ग अपनाते हुए प्राप्त की गयी थीं। सभी मामलों से स्पष्ट है कि परिषद् केवल मानने-समझने की रीति ही काम में ला सकी थी।"**

(11) **सार घाटी का प्रश्न**—वार्साय की सन्धि के अनुसार सार की घाटी का प्रशासन 15 वर्षों तक के लिए राष्ट्र संघ के संरक्षण में दिया गया था। 15 वर्षों के पश्चात् उसमें जनमत संग्रह कराया गया, क्योंकि इस बीच सार के निवासियों को अनेक कष्ट उठाने पड़े थे और राष्ट्र संघ पर फ्रांस का प्रभुत्व था। अतः सार की घाटी के जनमत संग्रह में जर्मनी के पक्ष में मत आये। फलतः 1935 में सार की घाटी जर्मनी को सौंप दी गयी।

(12) **डैन्जिग का स्वतन्त्र नगर**—पेरिस की सन्धि के अनुसार व्यवस्था की गयी कि डैन्जिग के स्वतन्त्र नगर का कार्यभार राष्ट्र संघ चलायेगा। पोलैण्ड का डैन्जिग के बन्दरगाह पर नियन्त्रण होने से नगर एवं बन्दरगाह के बीच छींटाकशी होती रहती थी। अतः प्रशासनिक व्यवस्था को राष्ट्र संघ ने अपने हाथ में लेकर कमिश्नर की मदद से ठीक तरह चलाने में सफलता प्राप्त की और छींटाकशी को कम करने में सफलता प्राप्त की।

(13) **मैनेट व्यवस्था**—शान्ति सन्धियों से पूर्व जो भी प्रदेश जर्मनी के अधीन थे और जो अब विभिन्न शक्तियों में विभाजित हो चुके थे एवं टर्की के खलीफा के अरब उपनिवेशों की समुचित व्यवस्था की देखभाल के लिए विभिन्न देशों को चुना गया जो कि संरक्षक राज्य कहलाये। वे सभी प्रदेश जो संरक्षक राज्यों की देखभाल में थे संरक्षित राज्य कहलाये।

संरक्षक राज्यों को अपने शासन-प्रबन्ध की रिपोर्ट प्रत्येक वर्ष परिषद् को देनी होती थी। व्यवहार में यह पद्धति संरक्षक राज्यों द्वारा उपनिवेशों के शोषण के रूप में सामने आयी, परन्तु इसने एक नई व्यवस्था की नींव डाली।

(ख) **आर्थिक कार्य**—इतिहासकार कार के शब्दों में, **"आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए राष्ट्र संघ ने एक नया और विशाल संगठन प्रस्तुत किया।**[1] वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय सहायता

1 ई. एच. कार, **दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**, पृ. 96।

संघ राष्ट्र संघ के आर्थिक कार्यों का ही प्रशंसनीय परिणाम कहा जा सकता है। यह व्यवस्था कर दी गयी कि प्रतिवर्ष जेनेवा में विभिन्न देशों के अर्थ एवं वित्त विशेषज्ञ इकट्ठे हों तथा विश्व की आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करें। इससे संघ ने वास्तव में आर्थिक क्षेत्र में पिछड़े एवं संकटग्रस्त देशों की वित्तीय सहायता पहुंचाने में सफलता प्राप्त की। 1923 में आस्ट्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय ऋण प्रदान करने में सहायता, आर्थिक मन्दी के समय (1931-32 और 1933) में पुनः सहायता, 1924, 1928, 1932 और 1933 में यूनान एवं 1926 एवं 1928 में बल्गेरिया को आर्थिक सहायताएं इसी का परिणाम कही जा सकती हैं। यूनान के 10 लाख शरणार्थियों को बसाने में 5 करोड़ डालर राष्ट्र संघ द्वारा दिये गये जो कि प्रशंसनीय नहीं हैं। युद्ध बन्दियों को अपने देश भेजने में महत्वपूर्ण कार्य किया। इसी तरह डैन्जिंग के लिए एक केन्द्रीय बैंक निर्मित किया गया, कार के अनुसार, **"सन् 1920 में ब्रुसेल्स में एक सामान्य वित्त सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य युद्धोत्तर वित्तीय पुनर्निर्माण पर विचार करना था, इसी प्रकार शुल्क दरों में कमी करने तथा अन्य व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए जेनेवा में सन् 1927 में एक आर्थिक सम्मेलन भी हुआ था।"**[1]

(ग) सामाजिक तथा मानवीय हितैषी कार्य—हैजा, चेचक, मलेरिया, आदि रोगों के कारणों एवं रोकथाम के उपायों, यातायात के साधनों का विकास, रेलों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, विद्युत एवं जल का वितरण, आदि सम्बन्धी अनेक कार्य किये गये, स्त्रियों के व्यापार, वेश्यावृत्ति, पोस्टरों के प्रकाशनों, आदि पर रोक लगाने के लिए नियम बनाये, विवाह की उम्र सम्बन्धी कानून बनाये, अबोध बच्चों की समस्या एवं बाल-कल्याण पर ध्यान दिया। मादक द्रव्यों का निषेध, दासता की समाप्ति, बेकारी की समस्या, आदि की ओर ध्यान दिया। नेपाल, बर्मा, आदि को प्रोत्साहित किया कि वे दास प्रथा को समाप्त करें। करीब 5 लाख युद्ध बन्दियों को उनके घर पहुंचाया गया।

(घ) बौद्धिक कार्य—स्मारकों, कलाकृतियों की सुरक्षा, प्रौढ़ एवं श्रमिकों की शिक्षा की व्यवस्था, थियेटरों, संगीत एवं कविता, आदि के क्षेत्र में सहयोग को बढ़ावा देना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वैज्ञानिक परीक्षण, आदि विषयों में राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण कार्य किये।

इस प्रकार राष्ट्र संघ के द्वारा प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, मानवीय एवं बौद्धिक क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये गये जिनमें राष्ट्र संघ को पर्याप्त सफलता मिली। वास्तव में लीग की सफलता का मुख्य कारण उसके द्वारा समय-समय पर बुलाये गये सम्मेलन भी हैं। लीग की सबसे महत्वपूर्ण सफलता का आकलन लैंगसम के शब्दों में किया जा सकता है, **"शायद लीग की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रसार का प्रभाव था। किसी भी संस्था के मुकाबले लीग ने मानव को विश्व की समस्याओं से अवगत किया एवं संकुचित जातीयता के विचारों से उसे मुक्त किया।"**[2]

राष्ट्र संघ के द्वारा किये गये असफल कार्य
(FAILURES OF LEAGUE OF NATIONS)

इतिहासकार कार के शब्दों में, **अपनी सर्वाधिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति की अवधि में राष्ट्र संघ का एकमात्र आधार उसका नैतिक अधिकार था, क्योंकि अनुच्छेद 11 के अधीन उसे अन्य**

1 वही, पृ. 96।
2 "Perhaps the greatest general contribution of the League was its influence in spreading the idea of international Co-operation." —*Langsam*

कोई शक्तियां प्राप्त नहीं थीं। सन् 1932 से पहले अनुच्छेद 15 में उपबन्धित निर्णय और दण्ड शक्ति की प्रक्रिया का आश्रय लेने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।[1]

यद्यपि राष्ट्र संघ ने अनेक सामाजिक तथा लौकिक कार्यों में सफलता अर्जित की थी, किन्तु उसे कई मामलों में असफलता का मुंह भी देखना पड़ा जिनका वर्णन निम्नलिखित है :

(1) **विलना विवाद** (Dispute Over Vilna 1920-22)—विलना नगर पर पोलैण्ड और लिथुआनिया दोनों अपना अधिकार करना चाहते थे। लिथुआनिया ने राष्ट्र संघ से न्याय की अपील की। इधर पोलैण्ड के पक्ष में फ्रांस और इटली ने अपना समर्थन दिया। पोलैण्ड ने विलना पर अपना कब्जा कर लिया। इस प्रकार बड़ी शक्तियों का समर्थन मिलने के कारण राष्ट्र संघ पोलैण्ड के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही नहीं कर सका।

(2) **कोर्फ्यू विवाद**, 1923 (The Cofru Incident)—एक बार मुसोलिनी ने कहा था, **"केवल युद्ध ही समस्त मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर तक पहुंचाता है और जो युद्ध का सामना करते हैं, उन व्यक्तियों पर श्रेष्ठता की मुहर लगा देता है।"**[2]

इटली की श्रेष्ठता को चरम उत्कर्ष तक पहुंचाने के लिए मुसोलिनी अपने उक्त कथन पर ही चला। उसकी इस नीति का आरम्भ कोर्फ्यू विवाद से ही हो जाता है। यूनान तथा अल्बानिया के मध्य सीमा सम्बन्धी मसले को हल करने के लिए आयोग बनाया गया था। सन् 1923 ई. में इस आयोग के कुछ इटैलियन अधिकारियों की यूनान में हत्या कर दी गयी, इटली ने यूनान से 5 दिन के भीतर 5 करोड़ डालर क्षतिपूर्ति की मांग की। यूनान ने राष्ट्र संघ से न्याय की अपील की। इससे अपनी बातचीत पूरी न होते देख इटली ने यूनान के कोर्फ्यू नामक स्थान पर बमवारी कर उसे अधिकृत कर लिया। **इसी बीच राष्ट्र संघ ने निर्णय दिया कि इटली यूनान को कोर्फ्यू लौटा दे।** यूनान इटली से क्षमा याचना करे। हालांकि राष्ट्र संघ के इस निर्णय को दोनों देशों ने स्वीकार किया, किन्तु इससे राष्ट्र संघ की असफलता इस मायने में दर्शित हुई कि वह इटली के खिलाफ चाहकर भी कठोर शर्तें न लगा सका, इटली ने बम वर्षा की थी उसके मुआवजे के सम्बन्ध में भी राष्ट्र संघ ने चुप्पी साध ली। वास्तव में उसकी यह चुप्पी मूक रूप में उसकी असफलता का एक और कदम ही थी।

(3) **चीन एवं जापान का मामला** (Issue of China and Japan)—रूस एवं जापान के बीच हुई सन्धि के फलस्वरूप दक्षिणी मंचूरिया रेलवे की रक्षा के लिए मंचूरिया में लगभग 1,500 सैनिक रखने का अधिकार जापान को मिल गया था। जापान ने इस कार्य हेतु अपना मुख्यालय मुकदन को बनाया था। 18-19 सितम्बर, 1931 ई. को कुछ चीनी दस्ते रेलवे लाइन को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे थे, ऐसा कहकर जापान ने मुकदन के उत्तर में 200 मील के घेरे तक सम्पूर्ण चीनी क्षेत्र में अपना कब्जा कर लिया और नवम्बर के मध्य तक उत्तरी मंचूरिया में भी कब्जा कर लिया। चीन ने राष्ट्र संघ से अपील की। 1935 ई. में जापान ने राष्ट्र संघ से इस्तीफा दे दिया। राष्ट्र संघ द्वारा बैठाये गये लिटन कमीशन ने युद्ध हेतु

1 "Perhaps the greatest general contribution of the League was its influence in spreading the idea of international Co-operation." —*Langsam*

2 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 94।

3 "Only war carries human energies to the highest level and puts the seal of nobility upon peoples who have courage to under take it." —*Mussolini*

जापान को दोषी ठहराया, किन्तु राष्ट्र संघ न तो चीन की भूमि लौटा सका, न ही उसकी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा कर सका, न ही जापान का कुछ बिगाड़ सका और न ही युद्ध बन्द करा सका।

अपनी इस असफलता को छिपाने के लिए राष्ट्र संघ ने कई बहाने भी किये। जैसा कि कार महोदय ने लिखा है, **"यह कहा गया कि यह अग्नि परीक्षा ऐसे समय में उपस्थित हुई थी जब सारा संसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्पूर्ण एवं विनाशकारी संकोच से कष्टग्रस्त था। यदि प्रसंविदा के अनुसार जापान से वित्तीय एवं आर्थिक सम्बन्ध तोड़ लिये जाते तो उसका अर्थ जानबूझकर वर्तमान आर्थिक कष्ट को बढ़ाना होता।"**[1]

किन्तु इतना तो निश्चित था कि **"राष्ट्र संघ के सदस्य किसी शक्तिशाली और सशस्त्र सज्जित राज्य की आक्रमणात्मक कार्यवाही को रोकने के लिए तैयार नहीं थे।"**[2] इसीलिए डेविड थाम्पसन ने लिखा है, "चीन के विरुद्ध जापान के आक्रमण को राष्ट्र संघ रोक न सका। यह उसकी इस दुर्बलता का कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दुर्बल और अशक्त राज्यों को सुरक्षित न रख सका, प्रथम और प्रमुख प्रमाण है।"[3]

(4) पेरागुए तथा बोलीविया का विवाद (Problem of Perague and Bolivia)—बोलीविया एवं पेरागुए दक्षिणी अमेरिका के दो छोटे राज्य थे। ये दोनों राष्ट्र संघ के सदस्य भी थे। दोनों के बीच चाको नामक प्रान्त को लेकर संघर्ष छिड़ गया। 1928 ई. में पेरागुए ने चाको पर अधिकार कर लिया। बोलीविया की अपील पर राष्ट्र संघ ने आयोग गठित कर घटना स्थल पर जांच हेतु भेजा, किन्तु राष्ट्र संघ के प्रस्ताव को पेरागुए ने मानने से इन्कार कर दिया और सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया। इस प्रकार राष्ट्र संघ इस मामले में भी शान्ति स्थापित न कर सका।

(5) इथोपिया विवाद (Ethopia Crisis)—इथोपिया अफ्रीका का स्वतन्त्र देश था। इसे अबीसीनिया भी कहा जाता है। मुसोलिनी ने अबीसीनिया के विरुद्ध यह कहकर युद्ध की घोषणा कर दी कि इथोपिया (अबीसीनिया) ने इटली के विरुद्ध युद्ध किया है। **मुसोलिनी का कहना था कि वह सुरक्षा के लिए युद्ध कर रहा है।** इथोपिया के शासक हेली सिलासी ने राष्ट्र संघ से रक्षा हेतु प्रार्थना की। राष्ट्र संघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये, किन्तु इटली अपने कार्य में दृढ़ रहा और मई 1936 में इथोपिया की राजधानी आदिस अबाबा पर अधिकार कर लिया। जून में इटली का शासक इथोपिया का शासक घोषित कर दिया गया।

राष्ट्र संघ के द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध सफल न हो सके, क्योंकि रूस के अलावा किसी अन्य देश ने अबीसीनिया का पक्ष नहीं लिया। अतः 15 जुलाई को आर्थिक प्रतिवन्ध भी हटा दिये गये। **कार के शब्दों में, "इटली की विजय राष्ट्र संघ के लिए भयंकर मार थी।"**[4]

(6) स्पेनिश गृह युद्ध, 1936-1939 (Spanish Civil War)—स्पेन में गणतन्त्रवादी सरकार थी, किन्तु प्रतिक्रियावादी इससे सन्तुष्ट न थे। अतः उन्होंने जनरल फ्रांको के नेतृत्व

1 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 149।

2 वही, पृ. 149।

3 "The ineffectiveness of the League of Nations to prevent or to check Japanese aggression against China was the first serious blow to its prestige as an agency for providing security." —*David Thomson*

4 "The Italian victory was a grave blow to the League." —*E. H. Carr*

में सरकार का विरोध प्रारम्भ कर दिया। अतः स्पेन में गृह युद्ध छिड़ गया। हिटलर और मुसोलिनी की मदद से फ्रांको का प्रभाव बढ़ता चला गया और विदेशी सेनाएं स्पेन में घुस आयीं। 20 अक्टूबर, 1937 को राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने यह आदेश दिया कि स्पेन से विदेशी सेनाएं तत्काल हट जायें, किन्तु इटली व जर्मनी ने इसकी परवाह नहीं की तथा प्रतिक्रियावादी जनरल फ्रेंको के नेतृत्व में विजयी हुए। वास्तव में यह राष्ट्र संघ की बहुत बड़ी असफलता थी।

(7) जर्मनी एवं राष्ट्र संघ (Germany and the League of Nations)—राष्ट्र संघ जर्मनी की कार्यवाहियों को भी न रोक पाया। हिटलर ने वार्साय सन्धि के निःशस्त्रीकरण की पाबन्दी को तोड़कर जर्मनी का शस्त्रीकरण किया। जर्मनी ने आस्ट्रिया एवं चेकोस्लोवाकिया को भी निगल लिया। ये सभी विवाद राष्ट्र संघ के सामने आये, किन्तु राष्ट्र संघ न तो जर्मनी के शस्त्रीकरण को रोकने में, न ही आस्ट्रिया और चेकोस्लावाकिया की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा में सफल हुआ।

(8) रूसी-फिनिश युद्ध (Russian-Finish War)—1939 के अन्त तक रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया और 1940 के शुरू में उसे अधिकृत भी कर लिया। राष्ट्र संघ रूस को संघ से निष्कासित करने के सिवाय कुछ भी न कर सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बड़ी शक्तियों के सन्दर्भ में राष्ट्र संघ अपने कार्यों में पूर्णतया असफल रहा और एक दिन ऐसा भी आया जब 19 **अप्रैल, 1946 को राष्ट्र संघ की समाप्ति की घोषणा भी कर दी गयी।**

राष्ट्र संघ की असफलता के कारण
(CAUSES OF THE FAILURE OF THE LEAGUE OF NATIONS)

राष्ट्र संघ की असफलता के निम्न कारण थे :

(क) वार्साय सन्धि से लीग का सम्बन्ध जुड़ा होना—राष्ट्र संघ, वार्साय सन्धि से जुड़ा हुआ था। वार्साय की सन्धि अपने आप में पूर्ण नहीं थी। उसने असन्तोष को जन्म दिया था। वार्साय की सन्धि की धाराएं, लायड जार्ज की साम्राज्य परक प्रवृत्ति, विल्सन की आदर्शवादिता और क्लेमांसू की स्वार्थपरता का सुन्दर नमूना थीं। अतः पराजित राष्ट्रों के साथ कठोर शर्तें लादी गयी थीं। उनका घोर अपमान किया गया था। अतः पराजित राष्ट्र शक्ति प्राप्त कर वार्साय की धाराओं को तोड़-फोड़ कर पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में शान्ति का कार्य राष्ट्र संघ को सौंपा गया, जब तक पराजित राष्ट्र पूर्ण शक्ति अर्जित न कर पाये, राष्ट्र संघ को सफलताएं मिलीं, किन्तु जैसे ही पराजित राष्ट्र—जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, आदि ने शक्ति अर्जित कर ली और उन्हें हिटलर, मुसोलिनी और फ्रांको जैसा नेतृत्व मिला राष्ट्र संघ की असफलताओं का सिलसिला शुरू हो गया। वार्साय की धाराओं की रक्षा ही राष्ट्र संघ का आधार थीं। अतः वार्साय की धाराओं की अवज्ञा राष्ट्र संघ की अवहेलना समझा गया। इसीलिए नोरमन वेण्टविच ने लिखा है, **"लीग एक बदनाम मां की अवैध सन्तान थी।"**[1]

(ख) अमेरिका का असहयोग—अमेरिका जिसे कि सभी स्वार्थों से दूर समझा जाता था और जिसके राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्र संघ की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न भी किया था,

1 "The league of nations was dishonourable daughter of a disreputed mother."
—*Norman Bentwitch*

न तो शान्ति सन्धियों पर ही हस्ताक्षर किये और न ही राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार की, गोथोर्न हार्डी के अनुसार, "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथों की भांति छोड़ दिया गया।"[1]

(ग) संवैधानिक दोष—राष्ट्र संघ का संविधान उनकी सफलता में बाधक बना, उसके नियम स्वयं में निर्बल थे जिनका वर्णन निम्नवत् है :

(1) सदस्यता ऐच्छिक—राष्ट्र संघ की सदस्यता ऐच्छिक थी, किसी राष्ट्र को सदस्यता के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था, राष्ट्र संघ की सदस्यता त्यागने के बाद सदस्यता त्यागे हुए राष्ट्र को राष्ट्र संघ के आदेशों के लिए बाध्य नहीं जा सकता था। जर्मनी, इटली, जापान इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

(2) सेना सम्बन्धी धारा—राष्ट्र संघ की 16वीं धारा के अनुसार, राष्ट्र संघ कौंसिल को सैनिक कार्यवाही का हुक्म दे सकती थी, परन्तु राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं थी। उसे सैनिक कार्यवाही के लिए सदस्य राष्ट्रों से सैनिक सहायता लेनी होती थी। आर्थिक प्रतिबन्ध भी सेना के ही माध्यम से कड़ाई से लागू किये जा सकते थे, किन्तु जब कभी सैनिक कार्यवाही की जरूरत पड़ी, बड़े राष्ट्रों ने पूर्ण सहयोग राष्ट्र संघ को न दिया। यदि राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना होती तो उसे सदस्य राष्ट्रों की ओर न ताकना होता।

(3) धारा 11 के दोष—धारा 11 के अनुसार कौंसिल के सामने प्रस्तुत किये गये मसले पर कार्यवाही हेतु कौंसिल की सर्वसम्मति आवश्यक थी। स्वार्थ लोलुप बड़े राष्ट्रों के प्रति कौंसिल की सर्वसम्मति एक ढकोसला मात्र थी। अतः समय पर कार्यवाही सम्भव न हो पाती थी, जिसका लाभ आक्रामक देश उठा लेते थे।

(4) युद्ध का पूर्ण निषेध नहीं—राष्ट्र संघ के संविधान में युद्ध का पूर्ण निषेध नहीं किया गया था। रक्षात्मक युद्ध को जायज बताया गया था। अतः प्रत्येक आक्रामक राष्ट्र ने अपने युद्ध को रक्षात्मक बतलाया और युद्ध जारी रखा, राष्ट्र संघ की पद्धति जटिल एवं पेचीदा होने के कारण जब तक यह निश्चित हो पाता कि वह रक्षात्मक युद्ध है या आक्रामक, आक्रामक राष्ट्र अपना पूर्ण प्रभुत्व बना लेता था।

(घ) तुष्टीकरण का प्रभाव—रूस ही एक ऐसा देश था जिसने राष्ट्र संघ का सर्वाधिक पालन किया। रूस में समाजवादी प्रवृत्तियां तीव्र गति से बढ़ रही थीं। रूस ने ही मुसोलिनी तथा हिटलर की आक्रामक प्रवृत्तियों का विरोध भी किया था एवं उनके प्रति कठोर नीति अपनाने पर भी जोर दिया था, परन्तु राष्ट्र संघ के अन्य सदस्य राष्ट्र जिनमें ब्रिटेन, फ्रांस, आदि थे, ने जर्मनी व इटली के प्रति तुष्टीकरण की नीति को अपनाया, अधिनायकवादी अपना नारा 'समाजवाद का नाश' देते रहे और पूंजीवादी राष्ट्र अधिनायकवादियों की गतिविधियों को अन्दर ही अन्दर समर्थन देते रहे, यदि हिटलर और मुसोलिनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति न अपनायी जाती तो ये शक्तियां आगे न बढ़ पातीं और राष्ट्र संघ का अस्तित्व भी बना रहता।

(ङ) विभिन्न देशों के स्वार्थ—टर्की बाल्कान में, जापान चीन में, इटली एड्रियाटिक सागर में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था, उधर जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से फ्रांस भयभीत था। अमेरिका जापान की उन्नति से ईर्ष्या करता था। रूस में समाजवादी प्रवृत्तियां बढ़ रही थीं। इंगलैण्ड व फ्रांस प्रतिद्वन्द्वी थे। अतः कहा जा सकता है कि विश्व के प्रमुख देश

1 Hardy, *Short History of International Affairs*, p. 198.

अपने-अपने क्षेत्र में स्थार्थ ग्रस्त थे। जब भी किसी पर आंच आती वे राष्ट्र संघ की अवहेलना करके अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे रहते थे। सभी राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था। अतः राष्ट्र संघ का अस्तित्व खतरे में पड़ गया।

(6) **आर्थिक विप्लव**—सबसे बड़ी घटना जो विश्व के मंच से घटित हुई वह थी—1930 का आर्थिक विप्लव, सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद की भावनाएं प्रबल हो गयीं और प्रत्येक देश ने आर्थिक दृष्टिकोण से ही अपनी नीतियों का निर्धारण किया। मानवीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ताक में रख दिया गया जिससे राष्ट्रसंघ को धक्का लगा, वह चाहकर भी आर्थिक प्रतिबन्ध से सम्बन्धित कार्यवाहियों को कड़ाई से लागू न कर सका और उसका पतन निश्चित हो गया।

महत्व
(SIGNIFICANCE)

अपने कार्यकाल में विभिन्न असफलताओं के बावजूद भी लीग का महत्व स्वयं सिद्ध है। **यह बात सत्य है कि 18 अप्रैल, 1946 ई. को लीग का अन्त हो गया, किन्तु यदि हम कहें कि राष्ट्र संघ के रूप में पुनः जन्म ले लिया तो अत्युक्ति न होगी।** वास्तव में लीग के उद्देश्य एवं सिद्धान्त अपने आप में अत्यधिक महत्वपूर्ण थे। लीग की असफलता का मुख्य दोष राष्ट्र संघ को नहीं, वरन् तत्कालीन राष्ट्रों की स्वार्थपरता को जाता है, जिन्होंने लीग के महान उद्देश्यों के प्रति आंखें बन्द कर लीं।

सामाजिक, आर्थिक एवं मानवीय क्षेत्र में लीग के कार्य प्रशंसनीय रहे, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को नई दिशा दी, इसने विश्व को एक मंच पर लाकर विचारों के आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। फिशर महोदय ने भी इसके महत्व का आकलन उक्त रूप में ही किया है।[1]

प्रश्न

1. राष्ट्र संघ के जन्म के कारणों का वर्णन कीजिए। **(लखनऊ, 1991)**
2. राष्ट्र संघ की संरचना का वर्णन कीजिए। **(गोरखपुर, 1990, लखनऊ, 1989)**
3. राष्ट्र संघ अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में कहां तक सफल हुआ?
4. मेण्डेट व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसके गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।
5. राष्ट्र संघ की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए। **(गोरखपुर, 1989, 93, 96; पूर्वांचल, 1991; लखनऊ, 1990)**
6. राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए। **(गोरखपुर, 1992)**

1 **"More important still is the opportunity which the league meetings afford for the formation of friendships the comparison of ideas, the enlargement of knowledge and adjustment of differing points of view."**
—H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1276.

3

फ्रांस द्वारा शान्ति की खोज

[FRENCH QUEST FOR PEACE]

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रथम विश्वयुद्ध विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की रक्षा के लिए लड़ा गया था, किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भी विजयी एवं पराजित राष्ट्रों ने वास्तविक शान्ति का अनुभव नहीं किया। इंगलैण्ड, रूस, इटली, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान एवं फ्रांस, आदि राष्ट्र अपने-अपने स्वार्थों को लेकर अब भी सशंकित थे, **किन्तु स्वतः को सर्वाधिक असुरक्षित समझने वाला राष्ट्र फ्रांस था, वस्तुतः फ्रांस की इस भावना के मूल में जर्मनी था।** फ्रांस इस बात को नहीं भूल सका कि विगत 50 वर्षों में जर्मनी ने ही उस पर दो बार भयंकर आक्रमण किए थे। आल्सेस तथा लारेन के प्रदेश दो बार उससे छिन चुके थे। अब वह इन दोनों प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखना चाहता था। इधर जर्मनी के अनुपात में फ़्रांस की जनसंख्या में भारी कमी आ गयी थी। **रूस में साम्यवादी क्रान्ति से अब उसे रूस से भी पर्याप्त सहायता की आशा भी नहीं रह गई थी।** इधर जर्मनी ने जिस अपमान का घूंट पिया था, उससे स्पष्ट था कि वह अपने अपमान का प्रतिशोध समय आने पर पुनः लेगा। गैथार्न हार्डी के शब्दों में, **"फ्रांस की स्थिति उस मुक्केबाज के सदृश थी जिसने पूर्व विजेता को एक अच्छी चोट दे दी, किन्तु वह अभी विस्मित होकर देख रहा था कि उसका प्रतिपक्षी मर गया है या अभी उसका मरना शेष है।"**[1] लैंगसम ने ठीक ही लिखा है, **"युद्ध के समाप्त होने से पूर्व ही फ्रांस ने एक और जर्मनी आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा के उपायों को ढूंढ़ना आरम्भ कर दिया।"**[2] अतः कार के शब्दों में कहा जा सकता है कि **"1919 ई. के पश्चात् यूरोप की समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात फ्रांस की सुरक्षा की मांग थी।"**[3] अतः अपनी सुरक्षा के प्रश्न को लेकर फ्रांस ने प्रयास आरम्भ कर दिए।

---

1 Gathorne Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 23.

2 "Long before the echoes of the great war had died down, France victorious but worried, embarked upon a prolonged search for security."

—Langsom, *The World Since*, 1919, p. 75.

3 "The most important and persistent single factor in European affair in the years following 1919 was the French demand for security."

—E. H. Carr, *International Relations between the two World Wars*, p. 25.

फ्रांस के सुरक्षा के प्रयत्न
(THE EFFORTS OF FRANCE FOR SECURITY)

फ्रांस की सुरक्षा के लिए किए गए प्रयत्न इस प्रकार से थे :

(1) पेरिस शान्ति सम्मेलन में फ्रांस द्वारा भौगोलिक सुरक्षा की मांग (The Demand of France for Physical Security)—अपनी सुरक्षा से आशंकित होकर फ्रांस ने पेरिस शान्ति सम्मेलन में अपनी भौगोलिक सुरक्षा की मांग की। **फ्रांस इसके लिए फ्रांस व जर्मनी के मध्य राइन क्षेत्र को स्वतन्त्र राज्य के रूप में देखना चाहता था।** फ्रांस की यह मांग पूर्ण तो नहीं की गई, किन्तु जर्मनी पर यह प्रतिबन्ध अवश्य लगा दिया गया कि जर्मनी इस क्षेत्र का सैन्यीकरण नहीं कर सकेगा। 15 वर्षों के लिए इस पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार रहेगा। फ्रांस इससे सन्तुष्ट न हुआ। उसे इस बात की सम्भावना थी कि 15 वर्षों के पश्चात् जर्मनी पुनः फ्रांस के लिए खतरा बन सकता है। अतः उसने यह मांग की कि राष्ट्र संघ की एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना हो जो कि सन्धियों का पालन करा सके तथा आक्रमणकारी देश का विरोध कर सके। अमेरिका एवं इंगलैण्ड के विरोध के कारण यह प्रस्ताव भी पास न हो सका। इस स्थिति में फ्रांस को राष्ट्र संघ की 18वीं धारा में कही गई इस बात कि, '**राष्ट्र संघ के सदस्य संघ के सभी सदस्यों की क्षेत्रीय अखण्डता तथा वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करते हैं। वे उसकी बाह्य आक्रमण से रक्षा का भी वचन देते हैं**'[1] पर विश्वास न था। इसी कारण वार्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय फ्रांस के प्रधान मन्त्री पुंकारे ने कहा था, "**हमने वार्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् सबसे बड़े भ्रम का उद्घाटन किया है।**" अतः अब फ्रांस ने गारण्टी सन्धियों, गुटबन्दियों, राष्ट्र संघ की सुरक्षा व्यवस्था को सशक्त बनाने, जर्मनी से समझौते एवं निःशस्त्रीकरण द्वारा सुरक्षा प्राप्ति की नीति का अवलम्बन आरम्भ कर दिया।

(2) बेल्जियम से सन्धि (Treaty with Belgium)—अपनी सुरक्षा की दृष्टि से 4 सितम्बर, 1920 को फ्रांस ने बेल्जियम के साथ सुरक्षात्मक सैन्य सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने एक-दूसरे पर बाह्य आक्रमण की स्थिति में एक-दूसरे की सहायता का वचन दिया, 15 वर्षों के लिए की गई इस सन्धि से फ्रांस की उत्तर-पश्चिमी सीमा भी सुरक्षित हो गई।

(3) पोलैण्ड से सन्धि (Treaty with Poland)—पूर्व में अपनी सीमा को सुरक्षित करने के उद्देश्य से फ्रांस ने 18 फरवरी, 1921 ई. को पोलैण्ड से सन्धि की। 1922 ई. में इस सन्धि की पुष्टि की गई और 1932 ई. में यह 10 वर्षों के लिए और बढ़ा दी गई। इस सन्धि के अनुसार दोनों देशों ने किसी पर भी जर्मनी या जर्मनी की सहायता से किसी भी देश के आक्रमण होने पर की सहायता का वचन दिया। फ्रांस ने पोलैण्ड को युद्ध सामग्री प्रदान करने का गुप्त आश्वासन भी दिया। इस सन्धि के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कार महोदय ने लिखा है, "**अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक महत्वपूर्ण पहलू पर फ्रांस एवं पोलैण्ड**

1 "To respect and Preserve as against external aggression the territorial integrity, existence and political independence of all members of the League."

2 ई. एच. कार, दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 27।

एक-दूसरे के करीब थे। जेनेवा में फ्रांस व पोलैण्ड के प्रतिनिधि प्रत्येक निजी वार्ताओं में एक थे और दोनों ने प्रत्येक सार्वजनिक चर्चा में एक-से भाषण दिए और एक साथ मत दिए।''[1]

(4) इंगलैण्ड से सन्धि का प्रयास (Attempts of Treaty with England)—फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए इंगलैण्ड से सुरक्षात्मक सन्धि को अति आवश्यक मानता था। 1921 ई. में **फ्रांस ने इंगलैण्ड से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि यदि जर्मनी अकारण फ्रांस पर आक्रमण करेगा तो इंगलैण्ड फ्रांस की सहायता करेगा।** फ्रांस इतने से सन्तुष्ट न था। वह तो इंगलैण्ड से 30-वर्षीय सैनिक समझौता करना चाहता था। वह इंगलैण्ड से अपनी व अपने मित्रों की सुरक्षा का आश्वासन भी चाहता था। इंगलैण्ड इसके लिए तैयार न था, अतः दोनों देशों के मध्य सन्धि न हो सकी।

आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद के कारण
(CAUSES OF ANGLO-FRENCH DISCORD)

इंगलैण्ड के साथ फ्रांस की सन्धि के प्रयत्न चाहे फ्रांस के उग्र प्रधानमन्त्री प्वायन्केयर की उग्र नीति के कारण असफल क्यों न हो गये हों, किन्तु इस बात से बिल्कुल इन्कार नहीं किया जा सकता कि वास्तविक कारण तो दोनों देशों के भयंकर पारस्परिक मतभेद थे। **संक्षेप में, इन कारणों का विवरण निम्नवत् है :**

(अ) सुरक्षा के मामले में मतभेद (Differences about Security)—फ्रांस व इंगलैण्ड दोनों देश सुरक्षा के प्रश्न पर एक-दूसरे से विपरीत विचार रखते थे। जहां एक ओर फ्रांस अपने को इतना शक्तिशाली बना लेना चाहता था कि भविष्य में जर्मनी उस पर आक्रमण न कर सके वहीं दूसरी ओर इंगलैण्ड जर्मनी को एकदम निर्बल बनाकर शक्ति-सन्तुलन को तोड़ना नहीं चाहता था।

(ब) जर्मनी में ब्रिटेन के व्यापारिक हित (Commercial Interests of England in Germany)—इंगलैण्ड अपने व्यापारिक हितों के लिए जर्मनी की आर्थिक स्थिति में शीघ्रातिशीघ्र सुधार का पक्षपाती था। जर्मनी में वह युद्ध से पूर्व के समान अपने बाजार को पुनः प्राप्त करना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही इंगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई। फ्रांस ने उसकी इस नीति का विरोध किया क्योंकि जर्मनी ने वार्साय सन्धि की धाराओं को तोड़ना आरम्भ कर दिया तथा राष्ट्र संघ को चुनौती दे दी थी। इंगलैण्ड अपनी तुष्टिकरण की नीति का पालन करते हुए चुप बैठा रहा।

(स) क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में मतभेद (Differences about Reparation)—फ्रांस एवं इंगलैण्ड के मध्य मतभेद का तीसरा कारण जर्मनी के प्रति क्षतिपूर्ति की राशि के सन्दर्भ में दोनों देशों के विचारों में भिन्नता थी। **जहां एक ओर फ्रांस जर्मनी पर इतना हर्जाना लादना चाहता था कि जर्मनी सदा ही फ्रांस के चंगुल में फंसा रहे वहीं दूसरी ओर इंगलैण्ड जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से पंगु नहीं बनाना चाहता था।** इंगलैण्ड को डर था कि कहीं जर्मनी में भी रूस की भांति साम्यवाद न फैल जाए, जर्मनी की नौसेना को क्षतविक्षत कर इंगलैण्ड जर्मनी के

---

1 'In every important issue of International Politics, France and Poland ranged themselves side by side. At Geneva, the French and Polis deligates were hand in glove in every private negotiation and spoke and voted to gether in every public debate."

—E. H. Carr, *International Relations between the Two World Wars*, p. 25.

प्रति अब सशंकित न था, अतः जर्मनी के प्रति नरम आर्थिक रवैया अपनाकर अपने व्यापारिक उद्देश्यों की भी पूर्ति चाहता था।

(द) निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में मतभेद (Differences about Disarmament)—फ्रांस निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में इंगलैण्ड के विचारों का विरोधी था। फ्रांस ने पहले सुरक्षा फिर निःशस्त्रीकरण पर बल दिया जबकि इंगलैण्ड पहले निःशस्त्रीकरण को प्राथमिकता दे रहा था।

(य) राष्ट्र संघ के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर (Differences of Attitude towards League of Nations)—राष्ट्र संघ के प्रति दृष्टिकोण के सन्दर्भ में भी दोनों देशों में मतभेद था। इंगलैण्ड राष्ट्र संघ को अर्थिक पुनर्निर्माण, सामाजिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए उत्तरदायी मानता था जबकि फ्रांस राष्ट्र संघ को अपनी सुरक्षा के लिए प्रयोग करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह राष्ट्र संघ के अधीन एक सेना रखना चाहता था। इंगलैण्ड इस बात का विरोधी था।

(र) रूस, इटली एवं स्पेन के प्रति विचारों में मतभेद (Differences about Russia, Italy and Spain)—रूस, इटली एवं स्पेन के प्रति फ्रांस व इंगलैण्ड के विचारों में भयंकर मतभेद थे। **जहां एक ओर ब्रिटेन ने रूस के साम्यवाद से सशंकित होकर जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई, वहीं फ्रांस ने रूस से मित्रता का रास्ता अपनाया।** इंगलैण्ड इटली को फ्रांस व रूस के विरोध में दीवार के रूप में प्रयोग करना चाहता था, जबकि फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध इटली को शक्तिशाली करने का पक्षपाती था। स्पेन के सन्दर्भ में जहां इंगलैण्ड ने स्पष्ट नीति का परिचय दिया वहीं फ्रांस की नीति अस्पष्ट रही।

फ्रांस व इंगलैण्ड के मतभेदों का लाभ निःसन्देह जर्मनी एवं इटली ने उठाया। राष्ट्र संघ तो दोनों के विवादों में ही लिप्त हो गया। जर्मनी व इटली ने शीघ्र ही राष्ट्र संघ की अवमानना आरम्भ कर दी। निःसन्देह फ्रांस व इंगलैण्ड के पारस्परिक मतभेदों ने द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका को तैयार कर ही दिया।

(5) लघु मैत्री संघ एवं फ्रांस (The Little Entente and France)—ब्रिटेन की ओर से अत्यन्त निराश होकर फ्रांस का ध्यान 'लघु मैत्री संघ' के राज्यों की ओर आकर्षित हुआ। 2 जुलाई, 1921 ई. को चैकोस्लोवाकिया, रूमानिया एवं यूगोस्लाविया के मध्य **'लघु मैत्री सन्धि'** हुई थीं। उनकी इस सन्धि ने यूरोप में तीन लघु देशों के गुट को जन्म दे दिया। यह गुट इतिहास में **लघु मैत्री संघ** के नाम से जाना जाता है। फ्रांस ने जनवरी, 1924 में चैकोस्लोवाकिया के साथ, 1926 में रूमानिया के साथ एवं नवम्बर, 1927 ई. में यूगोस्लाविया के साथ सन्धियां कीं। इन देशों के साथ की गयी सन्धि में फ्रांस ने यह आश्वासन पा लिया कि जर्मनी व आस्ट्रिया के परस्पर मिलने या उनमें पुनः राजतन्त्र स्थापित होने की आशंका होते ही वे आपस में परामर्श करेंगे। इन सन्धियों में सुरक्षा समस्या पर पारस्परिक विचार-विमर्श एवं आक्रमण की स्थिति में संयुक्त प्रतिरक्षा की भी बात कही गयी। इस प्रकार फ्रांस ने लघु मैत्री संघ के राष्ट्रों से सन्धियां कर एक प्रकार से मैटरनिख की नीति का ही पालन किया। कार ने ठीक ही लिखा है, **''फ्रांस की स्थिति की तुलना 1815 के शान्ति समझौते के पश्चात् मैटरनिख से की जा सकती है और पोलैण्ड व लघु मैत्री संघ में समझौते हो जाने से तो उसने पवित्र संघ का आधुनिक प्रतिरूप निर्मित कर लिया था।''**[1]

---

1 **"Her position was comparable to that of Metternich after the Peace Settlement of 1815, and by her agreements with Poland and the little entente she had built up a modern counterpart of the Holy Alliance."**
—E. H. Carr, *International Relations between the Two World Wars*, p. 25.

(6) राष्ट्र संघ के माध्यम से सुरक्षा के प्रयास (Security Through League of Nations)—यह ठीक है कि पेरिस के शान्ति सम्मेलन में जर्मनी की ओर से अपनी सुरक्षा के सन्दर्भ में किए गए फ्रांस के प्रयास असफल हो गए थे और उसे राष्ट्र संघ से भी घोर निराशा हुई थी, किन्तु फिर भी फ्रांस ने जर्मनी के आक्रमण से अपनी सुरक्षा के लिए 'राष्ट्र संघ' में भी प्रयत्न करना नहीं छोड़ा। इस सन्दर्भ में उसने राष्ट्र संघ के सम्मुख **'पारस्परिक सहायता सन्धि का प्रारूप'** (The draft treaty of Mutual Assistance) रखा। इसी प्रकार का एक मसविदा इंगलैण्ड ने भी रखा। 1922-23 ई. में दोनों मसविदों को मिलाकर एक सन्धि प्रारूप का निर्माण हुआ। रूस, अमेरिका एवं इंगलैण्ड ने तो इस मिलाए गए प्रारूप को मानने से इन्कार कर दिया, साथ ही इस मिश्रित सन्धि प्रारूप में जो चार प्रस्ताव रखे थे उनमें आक्रमणकारी की स्पष्ट परिभाषा न दिए जाने से फ्रांस का उत्साह ही कम हो गया। अतः फ्रांस का यह प्रयास असफल रहा। फ्रांस ने 1924 ई. में पुनः शान्ति स्थापित करने की ओर प्रयास किया। **इंगलैण्ड के मजदूर दल के नेता रैम्जे मैकडानल्ड एवं फ्रांस में हैरियो के उदारवादी मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के कारण, फ्रांस व इंगलैण्ड ने विश्व शान्ति की एक योजना राष्ट्र संघ में पेश की।** 2 अक्टूबर, 1924 ई. को राष्ट्र संघ की असेम्बली ने इस योजना को स्वीकृति दे दी। यह योजना इतिहास में **जेनेवा प्रोटोकोल** के नाम से विख्यात है। जेनेवा प्रोटोकोल को अमेरिका ने स्वीकृति नहीं दी। इधर इसी बीच इंगलैण्ड में अनुदारवादियों की सरकार बन गयी। अमेरिका द्वारा इसे स्वीकृति न देने पर इंगलैण्ड के नये विदेश मन्त्री चेम्बरलेन ने प्रस्ताव को 12 मार्च, 1925 ई. को अस्वीकार कर दिया। अतः प्रयत्न भी असफल रहा। निःसन्देह फ्रांस के लिए यह एक भयंकर आघात था।

(7) पारस्परिक समझौतों द्वारा प्रयास (Security through Pacts)—जेनेवा प्रोटोकोल के असफल हो जाने पर फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए नये प्रयत्न करने आरम्भ कर दिए। इधर जर्मनी को फ्रांस के आक्रमण का भय लगातार बना हुआ था। 31 दिसम्बर, 1922 ई. को जर्मनी ने यह प्रस्ताव रखा कि **"जर्मनी राइन क्षेत्र पर आक्रमण नहीं करेगा बशर्ते कि राइन क्षेत्र पर दिलचस्पी रखने वाले राष्ट्र परस्पर युद्ध न करने का समझौता कर लें।"** फ्रांस ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया, किन्तु 1925 ई. में इंगलैण्ड द्वारा फ्रांस व जर्मनी दोनों को यह आश्वासन देने पर कि आक्रमणकारी देश के विरुद्ध इंगलैण्ड सहायता करेगा, फ्रांस ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। समझौते की रूपरेखा स्विट्जरलैण्ड के लोकार्नो नामक स्थान पर इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, इटली, जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया एवं पोलैण्ड के प्रतिनिधियों ने बनायी और राइन क्षेत्र की सुरक्षा के सन्दर्भ में 1925 ई. में रूपरेखा तैयार करने वाले देशों ने पारस्परिक समझौते किए। ये समझौते इतिहास में लोकार्नो पैक्ट के नाम से जाने जाते हैं। **वस्तुतः यह पैक्ट 7 सन्धियों का समूह था।** इस पैक्ट की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसमें की गयी सन्धियों के आक्रमणकारी देश के लिए सामूहिक कार्यवाही की बात की गयी थी। फ्रांस सन्तुष्ट था। फ्रांस के विदेश मन्त्री ब्रिआं ने कहा था, **"यह जर्मनी तथा फ्रांस दोनों के लिए ही शान्ति है।"**[1]

लोकार्नो की सन्धियों से फ्रांस ने सुरक्षा की गारण्टी तो पा ली थी, किन्तु यह गारण्टी अत्यन्त सीमित थी। फ्रांस तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपनी सुरक्षा के लिए बेचैन था। अतः

1 "........peace for Germany and France."

फ्रांस की सुरक्षा की खोज जारी रही। 1927 ई. में फ्रांस ने अमेरिका के पास एक प्रस्ताव भेजा। **इस प्रस्ताव में फ्रांस ने दो बातें रखीं। प्रथम,** यह कि राष्ट्र नीति में युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं होगा तथा **द्वितीय,** यह कि झगड़े शान्तिपूर्ण उपायों से तय होंगे। **फ्रांस के विदेशमन्त्री ब्रिआं के इस ड्राफ्ट को अमेरिका के विदेशमन्त्री केलॉग ने स्वीकार कर लिया।** केलॉग ने ब्रिआं को स्पष्ट कर दिया कि प्रस्ताव को समझौते के रूप में स्वीकार किया जाएगा न कि सन्धि के रूप में और यूरोप के अन्य राष्ट्रों द्वारा भी इसकी स्वीकृति ली जाएगी। यह शर्त फ्रांस के लिए खतरनाक थी क्योंकि इससे उसकी पूर्व सन्धियों को खतरा उत्पन्न हो जाता। **अतः फ्रांस ने स्पष्ट कर दिया कि फ्रांस को सुरक्षा के लिए शस्त्र उठाने का अधिकार होगा और समझौते को तब खोला जाएगा जबकि यूरोप के बड़े राज्य इसमें शामिल हो जाएंगे।** अमेरिका ने फ्रांस की शर्तों को स्वीकार कर लिया। 29 अगस्त, 1928 ई. को पेरिस के सम्मेलन में 15 देशों के प्रतिनिधियों ने जिसमें बड़े राष्ट्र भी शामिल थे इस पैक्ट पर हस्ताक्षर किए। 1930 ई. तक तो प्रायः सभी देशों ने इस पैक्ट को स्वीकार कर लिया। इतिहास में यह पैक्ट **'केलॉग ब्रिआं पैक्ट'** के नाम से जाना जाता है।

(8) निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में प्रयास (Security through Disarmament)—निःशस्त्रीकरण की दिशा में भी फ्रांस ने सुरक्षा के प्रयत्न जारी रखे। 3 फरवरी, 1932 ई. को जेनेवा में प्रारम्भ होने वाले निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में फ्रांस ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन में फ्रांस के प्रतिनिधि आन्द्रे तारद्यू (Andre Tardiu) ने एक प्रस्ताव पेश किया। **इस प्रस्ताव में कहा गया कि "फ्रांस की अपनी सुरक्षात्मक सेना या पुलिस होनी चाहिए। जिन राज्यों के पास युद्धपोत, बड़ी पनडुब्बियां, या भारी तोपखाने हों उनका यह कर्तव्य है कि आवश्यकतानुसार वे राष्ट्र संघ पुलिस को उनका उपयोग करने देंगे। बम वर्षक वायुयानों के प्रयोग का एकाधिकार भी राष्ट्र संघ को ही हो।"** ब्रिटेन व अमेरिका ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। जर्मनी किसी भी स्थिति में अपनी सैन्य शक्ति को फ्रांस के कम नहीं देखना चाहता था। फ्रांस भी जर्मनी की इस समानता की मांग का विरोधी था। अतः फ्रांस का यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फ्रांस ने शीघ्र ही पुनः एक सुरक्षा योजना सम्मेलन में रखी। इस योजना में कहा गया कि शास्त्रास्त्रों के निर्माण पर सभी देशों पर **राज्य का एकाधिकार** (State-monopoly) रहना चाहिए। फ्रांस ने यह योजना ऐसे समय में प्रस्तुत की जिस समय सभी का ध्यान जर्मनी को पुनः शान्ति सम्मेलन में लौटाने की ओर था, अतः इस योजना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। शीघ्र ही इंगलैण्ड ने मैकडोनेल्ड योजना रखी, किन्तु फ्रांस ने इसका विरोध किया। यही नहीं, फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के नाम पर आर्थर हैण्डरसन के प्रस्तावों का भी विरोध किया। **अतः निःशस्त्रीकरण के सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध हुए।**

फ्रांस के सुरक्षा प्रयत्नों के परिणाम
(RESULTS OF THE EFFORTS OF FRANCE FOR SECURITY)

फ्रांस द्वारा पेरिस के शान्ति सम्मेलन में अपनी भौगोलिक सुरक्षा की मांग के निरर्थक सिद्ध हो जाने पर गारण्टी सन्धियों, गुटबन्दियों, राष्ट्र संघ की सुरक्षा व्यवस्था को सशक्त बनाने, जर्मनी से समझौते (लोकार्नो समझौता) एवं निःशस्त्रीकरण द्वारा सुरक्षा प्राप्ति की नीति का जो अवलम्बन किया गया उसके अत्यन्त गम्भीर परिणाम शीघ्र ही सामने आए।

फ्रांस ने गुटबन्दियों का दौर आरम्भ तो कर दिया, किन्तु यह राजनीतिक दृष्टि से सफल न हो सका। उसकी गुटबन्दियों ने जर्मनी में फ्रांस के प्रति घृणा के बीज उत्पन्न कर दिए। यूरोप अब प्रमुख रूप से तीन भागों में बंट गया। **एक गुट फ्रांस का था तो दूसरा गुट इटली का था।** इटली ने फ्रांस के प्रयत्नों की प्रतिक्रिया में स्पेन; आस्ट्रिया एवं यूनान से मित्रता कर ली। **तीसरा गुट जर्मनी समर्थक था।** जर्मनी ने इसके साथ रेपेलो की सन्धि की। सुरक्षा के नाम पर फ्रांस द्वारा जेनेवा के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जो अड़ियल रवैया अपनाया गया उससे सभी देशों में शस्त्रास्त्रों के निर्माण की होड़ लग गयी। शूमैन ने ठीक ही लिखा है, **"यूरोप का विवेक सामूहिक सुरक्षा की प्राप्ति में असफल हो जाने पर आत्मघात की तैयारी में लग गया।"** जर्मनी में नांजीवाद एवं इटली में फासीवाद का उत्कर्ष निःसन्देह फ्रांस की गुटबन्दियों का ही परिणाम थे। लैंगसम ने ठीक ही लिखा है, **"सुरक्षा के नाम पर फ्रांस द्वारा स्थापित की गयी सत्ता 1914 से सशस्त्र गुट के सदृश ही थी, जो व्यर्थ एवं भयानक सिद्ध हुई। इसी के कारण रूस में सोवियत एवं इटली में फासिस्ट दल अस्तित्व में आए।"** वस्तुतः अब विश्व की शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

प्रश्न

1. 'सन् 1919 ई. के पश्चात् यूरोप के घटनाचक्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रांस की सुरक्षा की मांग था।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. 1919 ई. के पश्चात् ब्रिटेन व फ्रांस के मध्य मतभेद के क्या कारण थे? क्या ये मतभेद द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुए।
3. प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् फ्रांस द्वारा अपनी सुरक्षा के सन्दर्भ में जो प्रयास किए गए उनका वर्णन कीजिए। इसके क्या परिणाम हुए?
4. फ्रांस द्वारा सुरक्षा की खोज से क्या अभिप्राय है? इसके लिए किए गए प्रयत्नों में फ्रांस कहां तक सफल हुआ?
   (गोरखपुर, 1992; लखनऊ, 1992)
5. दो विश्वयुद्धों के मध्य फ्रांस की विदेश नीति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
   (पूर्वांचल, 1991)
6. इटली में मुसोलिनी के उत्थान के कारकों की विवेचना कीजिए।
   (पूर्वांचल, 1991; गोरखपुर, 1993)

4

इटली में फासीवाद

[FASCISM IN ITALY]

फासीवाद का उदय
(RISE OF FASCISM)

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जहां जर्मनी में नाजीवाद का उत्कर्ष हुआ, वहीं दूसरी ओर इटली में फासीवाद का उत्कर्ष हुआ। कैटलबी के शब्दों में, **"प्रारम्भ में फासीवाद जन्मजात प्रवृत्ति के रूप में उदित हुआ, किन्तु पश्चात् में वह एक वाद अथवा एक सिद्धान्त और विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली के रूप में विकसित हुआ।"**[1] नाजीवाद का नेतृत्व हिटलर ने किया था तो फासीवाद के नेता मुसोलिनी ने फासीवाद को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचाया।

एक बात उल्लेखनीय है कि प्रथम विश्वयुद्ध में इटली मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ा था और जर्मनी मित्र राष्ट्रों का विरोधी था, फिर भी इटली में जर्मनी की तरह फासीवाद का उत्कर्ष हुआ। यह बात भी विचारणीय है कि 1860 ई. से इटली में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी, किन्तु अचानक फासीवाद की धारा ने उसे उखाड़ फेंका जो कि यूरोप के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी।

फासीवाद की परिभाषा
(DEFINITION OF FASCISM)

यहां पर यह समझना आवश्यक है कि फासीवाद है क्या? फासिस्ट शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द **फेसियो** (Fascio) से हुई है। प्राचीन रोमवासी छड़ियों के बण्डल को **फेसेज** (Fasces) कहते थे जिसे सत्ता का प्रतीक समझा जाता था। **इस चिन्ह को शक्ति, एकता व अनुशासन का प्रतीक भी माना जाता था।** मुसोलिनी ने, इसी शब्द से अपने आन्दोलन को प्रेरित किया। उनके लिए एकता (Unity) का महत्व था। **इसीलिए वे एक राज्य, एक झण्डा व एक नेता में विश्वास रखते थे।** फासीवादी काली कमीज पहनते थे व उग्रराष्ट्रवाद के समर्थक थे। वे सैनिकवाद पर विश्वास करते थे। इस प्रकार वे तानाशाही के समर्थक थे। तानाशाह सर्वाधिकार पूर्ण राज्य (Totalitarian State) स्थापित करना चाहते थे। फासीवाद की परिभाषा देते हुए मुसोलिनी ने कहा, **"फासीवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिनकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किए जाने की**

1 **"Fascism began as an instinct, and only later developed a philosophy and a system of government."**
—**C. D. M. Ketelbey, *A History of Modern Times From*, 1789, p. 462.**

आवश्यकता के कारण हुआ है। अतः फासीवाद सैद्धान्तिक होने के स्थान पर प्रारम्भ से ही व्यावहारिक रहा है।'' फासीवाद व साम्यवाद की तुलना करते हुए भी मुसोलिनी ने कहा, **''फासीवाद यथार्थ पर आधारित है, जबकि साम्यवाद सिद्धान्त पर। हम सिद्धान्त तथा विवाद के बादलों से निकलना चाहते हैं।''** फासीवाद के अन्तर्गत राज्य (State) को सर्वोपरि माना जाता था, मुसोलिनी का कहना था। **''राज्य के अन्दर सब कुछ है, राज्य के बाहर कुछ नहीं तथा राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।''**[1]

फासीवाद के उत्कर्ष के कारण
(CAUSES OF THE RISE OF FASCISM)

(1) प्रथम विश्वयुद्ध में इटली की भूमिका का प्रभाव—प्रथम विश्वयुद्ध में इटली ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लिया था। उसे दक्षिणी मोर्चे पर आस्ट्रिया का मुकाबला करने का कार्य सौंपा, किन्तु आस्ट्रिया की सेना ने केपोरेटो (Caporetto) के युद्ध में इटली को बुरी तरह पराजित कर दिया। इसके उपरान्त पियावे नदी की इटली द्वारा मोर्चेबन्दी की गई और उसकी सहायता के लिए फ्रांस व इंग्लैण्ड की सेनाएं आ गईं और आस्ट्रिया को इटली ने जून 1918 में पराजित किया, तदुपरान्त अमेरिका एवं इंग्लैण्ड की सेनाओं की सहायता से इटली की सेना ने विटोरियो वेनिटो (Vittorio-Veneto) के युद्ध में आस्ट्रिया को बुरी तरह पराजित किया, किन्तु दम तोड़ते हुए आस्ट्रिया को इंग्लैण्ड, फ्रांस या अमेरिका की सेनाओं की मदद से पराजित करना कोई महत्वपूर्ण एवं शौर्य की बात नहीं कही जा सकती। इटली निवासियों के लिए इन विजयों का इसी कारण कोई विशेष महत्व नहीं था। इटली निवासियों की धारणा बन चुकी थी इटली की सरकार एवं सेना निर्बल है।

(2) सन्धिजनित बटवारे में इटली की उपेक्षा—विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों के द्वारा उसे 26 अप्रैल, 1916 ई. को लन्दन की सन्धि के कारण मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार इटली को ट्रेण्टिनो, ट्रीस्ट, इस्ट्रिया, फ्यूम के अलावा टेल्मेशियन तटीय क्षेत्र, ब्रेनर के दर्रे तक टिरोल क्षेत्र और अल्बानिया, आदि दिए जाने थे, विल्सन ने इस गुप्त सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया।[2] इटली को केवल, ट्रेण्टिनो, डेल्मेशिया के तट का कुछ भाग एवं दक्षिणी टिरोल से ही सन्तोष करना पड़ा। फ्यूम जिस पर इटली निवासी आस लगाए बैठे थे, न मिला। इटली में सर्वत्र कहा जाने लगा, **''इटली की भावनाओं एवं विजयों पर कुठाराघात किया गया है।''**[3] फ्यूम न मिलने से जनता में रोष व्याप्त था जिसका लाभ उठाकर सितम्बर 1919 ई. को डेन्जियो (D. Aunznio) नामक इटली के एक कवि ने फ्यूम पर अपना अधिकार कर लिया, क्योंकि फासिस्ट डेन्जियो के साथ थे, अतः युद्ध के सैनिक फासिस्ट पार्टी में मिल गए। जनता गणतन्त्र से नफरत करने लगी।[4]

(3) युद्धोपरान्त आर्थिक स्थिति—इतिहासकार कैटलबी ने लिखा है, विश्व युद्ध के पश्चात् के कुछ वर्षों में इटली की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, जिस कारण पूर्ण

---

1 **"All with in the state, nothing out side the state, nothing against the state."**
—Mussolini.

2 **ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**, पृ. 59.

3 **"Italian achievement were being discounted and Italian Imperialism denounced."**
—Italians

4 **"Filthy Parasites on the bitter blood of the nation."**
—Italians

अर्थव्यवस्था फैली हुई थी।[1] परन्तु दूसरी ओर कुछ विद्वानों का मत है कि इटली की आर्थिक स्थिति कमजोर न हुई थी, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि विश्वयुद्ध के बाद के आर्थिक संकट से इटली बच गया हो, ऐसा सम्भव न था। युद्ध का खर्चा 12 अरब मुद्रा एवं माल की हानि 3 अरब का होने का अनुमान था। व्यापार की स्थिति अत्यन्त अच्छी न थी। जिस देश को असन्तोष सन्धि ने निरुत्साह बना दिया था, उस देश की आर्थिक संकट ने रीढ़ तोड़ दी।[2]

(4) देश में अव्यवस्था—इतिहासकार केटलबी ने लिखा है, **''साधारणतया इटली में कहीं किसानों का उपद्रव हो रहा था, कहीं मिलों में हड़तालें, तोड़-फोड़ की वारदातें, साम्यवादी उग्र प्रदर्शन कर रहे थे तो कहीं मिलों में मजदूर वर्गों ने अपना अधिकार कर लिया था, कहीं किसानों ने भूमि पर कब्जा कर लिया था।''**[3] इस प्रकार इटली अव्यवस्था के दौर से गुजर रहा था। जनता परेशान हो चुकी थी। वे सैनिक जो कि केपोरेटों के युद्ध में विवशता से पीछे हटे थे उन्हें देशद्रोही घोषित किया गया जिससे सैनिक पूर्णतया असन्तुष्ट थे। इटली निवासी देश को व्यवस्थित देखना चाहते थे। वे एक ऐसी सरकार को चाहते थे जो कि देश को व्यवस्थित कर सके। कैटलबी के अनुसार इटली में पूर्ण अशान्ति का बोलवाला था, फासीवाद इस अशान्ति के अन्त की प्रेरणा का आकस्मिक प्रभाव था।''[4]

(5) साम्यवाद का प्रभाव—यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मुसोलिनी की पार्टी को सर्वाधिक सफलता दिलाने का कार्य साम्यवाद के विस्तृत प्रचार एवं प्रसार ने किया। साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से इटली की जनता पूर्णतया डर चुकी थी। पार्लियामेण्ट में नवम्बर, 1919 के निर्वाचन में समाजवादी 156 स्थान पा चुके थे। सम्राट का अन्त हो, लेनिन के विचारों को लागू किया जाए, इस प्रकार के विचार पनपने लगे। ऐसा लगता था कि इटली में मजदूरों की सरकार बन जाएगी। **साम्यवादी विस्फोट होगा।**[5] देश के विचारक, राष्ट्रवादी, बड़े-बड़े भूमिपति इससे चिन्तित थे। ऐसी परिस्थिति में मुसोलिनी ने अपनी पार्टी को लोगों के बीच सुदृढ़ता देने में पर्याप्त सफल कार्य किया।

(6) हीगेलवाद का विचार—हीगेल जिसका जन्म जर्मनी में हुआ था, का मानना था कि राज्य संसार की आत्मा है।[6] **वह व्यक्ति की महत्ता के स्थान पर राज्य की महत्ता पर बल देता था।**[7] उसके इन विचारों से इटली के फासीवाद पर विशेष प्रभाव पड़ा।

(7) भविष्यवादी आन्दोलन—मैरेनिटी नामक व्यक्ति जो कि इस आन्दोलन का नेता था, के विचार थे कि भूतकाल को भूलकर भविष्य के लिए मार्ग प्रदर्शित करने का पक्षधर था।

---

1 "During the years following the war Italy was full of disorder and discontent arising from financial and economic hardhsip."
—Ketelbey, *A History of Modern Times*, p. 463.

2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 402.

3 "There were agrarian riots, strikes and sabotage in the factories; there were Bolshevist demonstrations, the workman seized the factories, the peasants the land."
—Ketelbey, *A History of Modern Times From* 1789, p. 463.

4 "It was Primary impluse towards integration and order and strong government, spontaneously arising from chaos." —*op. cit.*, p. 462.

5 "Itlay seemed on the verge of a communist revolution." —*op. cit.*, p. 463.

6 "State is the supreme manifestation of God on earth.

7 "Nothing for the individual, all for Italy."

उसके अनुसार इटली को अपने पराभव को भूलकर अपने पराभव को भविष्य में साम्राज्यवादी बनकर मिटाना चाहिए। उसके युद्धवादी आन्दोलन के प्रभाव से फासी पार्टी की विचारधाराओं को प्रोत्साहन मिला।

उक्त परिस्थितियों ने फासीवाद को पनपने में पर्याप्त भूमिका निभाई। भाग्य से उसे मुसोलिनी जैसा नेता मिल गया। जिसने इटली में फासिज्म की पताका फहरा डाली और इटली में 1922 से 1944 तक फासीवाद का ही बोलबाला बना रहा।

मुसोलिनी का संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं फासी दल
(EARLY LIFE OF MUSSOLINI AND THE FASCIST PARTY)

बेनिटो मुसोलिनी (Benito Mussolini) का जन्म 1883 ई. में उत्तरी इटली के रोमानिया नामक गांव में हुआ था। उसका पिता लोहार था, परन्तु उसके पिता के विचार समाजवादी थे। उसकी मां अध्यापिका थी। माता एवं पिता के विचारों का पूर्ण प्रभाव मुसोलिनी पर पड़ा और उसके विचार भी क्रान्तिकारी बनते चले गए। अठारह वर्ष की उम्र में ही उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया, किन्तु शीघ्र ही वह स्विट्जरलैण्ड गया जहां उसने लोजेन तथा जनेवा के विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। उसके उग्रवादी विचारों ने स्विस सरकार को परेशान कर दिया। अत: वह इटली आकर शिक्षक का कार्य करने लगा। समाजवादी विचारों से प्रभावित मुसोलिनी को किसानों को भड़काकर विद्रोह करवाने के आरोप में 1908 ई. में जेल का मुंह भी देखना पड़ा। 1912 ई. में वह अवन्ति नामक समाजवादी पत्र का सम्पादक बन गया। विश्वयुद्ध का प्रारम्भ होना था कि मुसोलिनी के विचारों में अचानक परिवर्तन आ गया, युद्ध में भाग लेने का पक्ष लेने के कारण उसे अवन्ति के सम्पादक पद से हटना पड़ा, परन्तु उसने अपना **पोपोलो-डी इटेलिया** (Popolo 'd' Italia) नामक पत्र निकाला और इटली की सेना में भर्ती भी हो गया। उसके शौर्य एवं वीरता के लिए उसे कार्पोरल की उपाधि मिली।

युद्ध की समाप्ति पर मित्र राष्ट्रों द्वारा इटली से किए वायदे पूरे न करने पर मुसोलिनी ने **'फासी दी कामबाटिमेंटो'** (Faci di Combattimento) नामक दल बनाया। प्रारम्भ में उसका कहना था कि फासिज्म पार्टी विरोधी आन्दोलन है जिससे उसका प्रचार एवं प्रसार द्रुत गति से हुआ। धीरे-धीरे देश में फासिस्ट दलों की शाखाएं खोली गईं। जहां 1919 में इस संगठन की संख्या 22 और सदस्यों की संख्या 17,000 थी, वहीं 1921 में संगठनों की संख्या 2,000 और सदस्यों की संख्या 3 लाख से भी ज्यादा हो गयी। 1921 में 35 फासिस्ट सदस्य लोकसभा में आए।

मुसोलिनी ने इस दल को सैनिक रूप दिया। इसके सैनिक काली कमीज पहनते थे और इनका अपना अलग झण्डा भी था। ये लोग काले-कुर्ते वाले कहलाते थे, मुसोलिनी इस दल का ड्यूस[1] (Duce) था। उसने कहना शुरू कर दिया कि जिस समय विश्वयुद्ध हो रहा था, सरकार की अकर्मण्यता स्पष्ट थी। युद्ध में विजय का श्रेय नागरिकों को है, सरकार को नहीं। फासिस्ट दल रचनात्मक कार्यों को कर सकता है और हमें सरकार बनाने का अधिकार भी है, क्योंकि हमने ही देश को युद्ध में झौंका एवं विजयी बनाया है।

1 ड्यूस नेता या कमाण्डर को कहते थे, जो कि ईश्वर के समान माना जाता था।

मुसोलिनी ने नेपल्स में अस्त्र-शस्त्रों से लैस 40,000 स्वयं सेवकों की बैठक आयोजित की और स्पष्ट रूप से कह दिया कि साम्यवाद से निपटने के लिए सत्ता उनके हाथों सौंप दी जाए वरन् रोम पर आक्रमण किया जाएगा, कैटलबी ने लिखा 1922 में अपनी काली-कुर्ती वाली सेना के साथ मुसोलिनी ने रोम हथिया लिया और शासन सत्ता हथिया ली। यदि विक्टर एमानुअल विरोध करता तो इटली गृह युद्ध की चपेट में होता। इस प्रकार 1922 से 1944 ई. तक मुसोलिनी इटली का वास्तविक शासक बना रहा।[1]

फासीवाद के सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF FASCISM)

नाजीवाद की ही तरह फासिज्म के भी अपने कुछ सिद्धान्त थे। फासीवाद एक धर्म है। वे इसे लोकतन्त्र का विरोधी मानते थे तथा फासिज्म को एक चोटी कहा जाता था।[2] फासीवादियों का विश्वास था कि राज्य ही सर्वशक्तिमान सत्ता है। **व्यक्ति को राज्य के लिए समर्पित होना चाहिए, क्योंकि राज्य में सभी वस्तुएं विद्यमान हैं।**[3] वे फासिज्म को एक विश्वास कहते थे।[4] उनका कहना था कि फासीवाद यूरोप की एक विशेष संस्कृति होगा।[5] वे इस बात पर विश्वास रखते थे कि केवल फासिज्म ही सत्तावान रहे, क्योंकि केवल फासिज्म ही महान है।

मुसोलिनी की गृह-नीति ✓ 2001
(MUSSOLINI'S HOME POLICY)

गृहयुद्ध से देश को बचाने के लिए विक्टर एमानुअल ने मुसोलिनी को मन्त्रिमण्डल बनाने का अधिकार दे दिया। मुसोलिनी ने तुरन्त घोषित किया, '**कल इटली में मन्त्रिमण्डल न होकर उसकी (मुसोलिनी की) सरकार का निर्माण होगा।**'[6] 31 अक्टूबर, 1922 ई. को मुसोलिनी ने मन्त्रिमण्डल बनाया। जनता जो कि परिवर्तन की पक्षपाती थी, इस परिवर्तन को सहज स्वीकार कर दिया। **मुसोलिनी सम्पूर्ण सत्ता को अपने हाथ में करना चाहता था अतः उसने निम्न कदम उठाए :**

(1) **सत्ता का संगठन**—मुसोलिनी ने सर्वप्रथम राजनीतिक क्षेत्र में फासीवादी सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया। उसने संसद के समस्त अधिकार अपने में निहित कर लिए। 1923 ई. में उसने यह नियम बनाया कि बहुमत प्राप्त दल को लोकसभा में $\frac{2}{3}$ स्थान प्राप्त होंगे, शेष $\frac{1}{3}$ स्थान अपने-अपने मत की प्राप्ति अनुपात में नियमतः विभाजित होंगे। 1924

---

1 "In 1922 Mussolini's Black shirts marched upon Rome and seized the governments. Has the king resisted, civil war might have followed and Victor Emmanuel have taken the road of exile. Twenty four years sooner than, in fact, he did, but he invited "the strong man" to his side, and from 1922 to his fall in 1944 Mussolini was the ruler of Italy."
—C. D. M. Katelby : *A History of Modern Times From* 1788, p. 463.

2 "Democracies are like shifting sand, out state Political ideal is rock—Iranite peak." —*Mussolini*

3 "Every thing in the state, nothing out side the state, nothing against the state."

4 "Fascism was a faith, one of those spiritual forces which renovate the history of great peoples." —*Mussolini*

5 "Fascism was bound to become the standard type of civilization of our century for Europe the former of European renaissance." —*Mussolini*

6 "Tomorrow Italy will have not a ministry, but a government." —*Mussolini*

ई. के निर्वाचन में इस नियम के अनुसार फासिस्टों को $\frac{2}{3}$ स्थान मिल.गए। 1928 ई. के निर्वाचन में सम्पूर्ण लोक सभा में फासिस्टों का प्रभुत्व छा गया।

अब मुसोलिनी ने संसद से एक अधिनियम पारित करवाकर प्रधानमन्त्री के पद को सत्ताधारी के रूप में परिवर्तित कर दिया। वह संसद से अलग हो गया तथा जल, थल और वायु तीनों सेनाओं का अधिपति बन गया। उसे **शासन का प्रधान**[1] कहा जाने लगा। अब वह केवल सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। संसद के सदस्यों की नियुक्ति एवं पदच्युति उसके आदेशों पर निर्भर हो गई। **उसने शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए निम्न वर्ग बनाए :**

(क) मिनिस्ट्री (Ministry)—यह एक प्रकार की कैबिनेट थी। इसमें फासीवादियों का बहुमत था।

(ख) ग्राण्ड कौंसिल ऑफ फासिस्ट पार्टी (Grand Council of Fascist Party)—यह फासीदल की समिति थी। इसके सदस्यों की संख्या 25 थी।

(ग) पार्लियामेण्ट (Parliament)—(i) **सीनेट**—इसके सदस्यों का चयन मुसोलिनी करता था तथा इसके सदस्य आजीवन होते थे।

(घ) चैम्बर ऑफ डिपुटीज (Chamber of Deputies)—मन्त्रिमण्डल एवं फासिस्ट पार्टी द्वारा इसके सदस्यों का चयन होता था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शासन तन्त्र को मुसोलिनी ने अपने हाथों में ले लिया और वह तानाशाह बन बैठा।

(2) इटली का फासिस्टीकरण—मुसोलिनी द्वारा किए गए संसदीय परिवर्तनों का विरोध भी किया गया, किन्तु मुसोलिनी ने विरोधियों का दमन कर दिया। समाजवादी नेता मोटिओटो जो कि प्रबल विरोधी था, हत्या कर दी गई। विरोध न हो, इसके लिए लेखन, भाषण एवं पत्रों पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित कर दिया। नौकरियों में फासिस्ट दल के सदस्य या फासिज्म में विश्वास करने वाले रखे जाते थे। जो फासिज्म में विश्वास नहीं करता था, नौकरी से निकाल दिया गया। उन्हें कठोर सजा दी जाती थी। गुप्तचर विभाग की स्थापना की गई जिसका प्रमुख कार्य विरोधियों का पता लगाना था।

(3) फासी दल का संगठन—इटली के फासीकरण के लिए उसने भरसक प्रयत्न किया। उसने कहा कि इटली में केवल फासीदल ही रहेगा, क्योंकि वह महान है।[2] 1920 ई. में एक कानून द्वारा इस दल को मान्यता दे दी गई। स्थानीय एवं प्रान्तीय शाखाएं खोली गईं और इन सभी शाखाओं को केन्द्रीय संस्था से जोड़ा गया जिसका प्रधान मुसोलिनी था। 1926 ई. में एक नियम बनाया कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य ग्राण्ड कौंसिल के सदस्य होंगे। अतः मन्त्रिपरिषद् एवं कौंसिल में कोई भेद न रहा और 1938 तक एक समय ऐसा आया कि कौंसिल ही सर्वेसर्वा हो गई।

1 **"Head of the Government."**

2 **"All parties must end, must fall. I want to see a panorama of ruins around me, the ruins of the other political force—so that Fascism may stand alone, gigantic and dominant."**

—Mussolini

(4) **शिक्षा**—शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। फासीवादी शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। शिक्षालयों में शिक्षक फासीदल में विश्वास करने वाले लिए जाने लगे। डीन एवं प्रोफेसर फासिस्ट दल में विश्वास रखने वाले ही चयनित होते थे। वैज्ञानिक उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न किया गया। मुसोलिनी कला का पक्षपाती था।[1] 6 वर्ष से 8 वर्ष तक के बालकों को फिगली-डेमा थूपा का सदस्य होना पड़ता था। 8 से 14 वर्ष तक बालकों को वालचर संस्था में प्रशिक्षण लेना होता था। 14 से 18 वर्ष तक के बालक अवानगर्डिया नामक संस्था में प्रशिक्षित किए जाते थे। 21 से 33 वर्ष तक की आयु का प्रत्येक पुरुष सैन्य शिक्षा लेता था। सैन्य-शिक्षा आवश्यक थी। इस प्रकार उसने शिक्षा को प्रोत्साहित किया। 1921 में जहां निरक्षरों की संख्या का अनुपात 25 था, वहीं 1935 में घटकर वह 5% हो गया।

(5) **यहूदियों का विरोध**—हिटलर की तरह मुसोलिनी यहूदियों का विरोधी था। उसका मानना था कि इटली विशुद्ध आर्य जाति के लिए है। वह यहूदियों को अनार्य मानता था। यहूदियों को पढ़ने, नौकरी एवं विवाह, आदि अनेक क्षेत्रों में अनेक प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता था।

(6) **पोप से सम्बन्ध**—सम्पूर्ण यूरोप के इतिहास में रोम के पोप का महत्व उल्लेखनीय रहा है। इटली के एकीकरण के बाद पोप अपने को वैटिकन का बन्दी माना करता था। वह रोमन कैथोलिक जनता को समय-समय पर जो आज्ञाएं दिया करता था, उससे इटली को अत्यधिक हानि होती थी। **मुसोलिनी चाहता था कि राज्य का ध्यान धर्म से हटकर वैदेशिक मामलों की ओर अधिक होना चाहिए।** अतः मुसोलिनी ने पोप से वातचीत कर समझौता करना उचित समझा। उधर रोम का पोप समाजवादी प्रभाव से डरा हुआ था। अतः दोनों के बीच 11 फरवरी, 1629 ई. को **लेटरिन की सन्धि हुई। इसके अनुसार :**

(i) रोम पर इटली की सरकार का अधिकार मान्य हुआ।
(ii) वेटिकन नगर पोप का स्वतन्त्र नगर घोषित कर दिया गया।
(iii) पोप ने 10 करोड़ डालर देना स्वीकार किया। साथ में अपने प्रादेशिक अधिकार को छोड़ दिया।
(iv) सरकार पादरियों का वेतन देगी।
(v) कैथोलिक धर्म राज्य धर्म माना गया।
(vi) शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।
(vii) धार्मिक विवाह प्रामाणिक घोषित हुआ।

इस प्रकार पोप ने स्वयं कहा, **''इटली ने ईश्वर पा लिया है और ईश्वर को इटली मिल गया है।''**[2] इससे मुसोलिनी का महत्व बढ़ गया और राज्य की सरकार एवं राज्य के नागरिकों का धार्मिक विवादों से ध्यान हटकर देश के विकास की ओर गया। उसके इस कार्य की विद्वानों ने प्रशंसा की है।[3]

(7) **आर्थिक क्षेत्र में सुधार**—जिस समय मुसोलिनी ने सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ली, इटली आर्थिक कष्ट से गुजर रहा था। इटली का वजट करोड़ों रुपयों के घाटे में चल रहा था।

1 **"Without art there is no civilization."** —*Mussolini*
2 **"God has been restored to Italy and Italy has been restored to God."** —*Pius XI*
3 **"Mussolini's greatest achievement in Foreign policy was the Lateran Treaty of 1929 with Pope Pius XI."** —**Preston Slosson, *Europe Since* 1815, p. 392.**

अतः देश की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाना अत्यन्त आवश्यक था, **इसके लिए उसने अनेक कार्य किए :**

(अ) सिण्टीकेटिज्म को प्रोत्साहन—सिण्टीकेटिज्म का तात्पर्य उस विचारधारा से है, जिसका व्यावसायिक सरकार बनाने की योजना समाजवादियों, मजदूरों एवं फासिस्टों में पनप रही थी। ये लोग चाहते थे कि देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए मिलकर कार्य करना चाहिए। 1926 ई. में एक नियम द्वारा प्रान्तीय एवं स्थानीय शाखाएं खोली गईं और सम्पर्क केन्द्रीय शाखाओं से जोड़ा गया। केन्द्र में बनाई गई 13 सिण्टीकेटों का नियन्त्रण निगम मन्त्री के हाथों दिया गया। यह पद स्वयं मुसोलिनी ने संभाला।

हर व्यवसाय की सिण्टीकेट अलग-अलग थीं और अपने-अपने स्तर से कार्य देखती थीं, परन्तु ये अपना सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से स्थापित नहीं कर सकती थीं।

(ब) श्रमिक अधिकार पत्र—सन् 1927 ई. में श्रमिक अधिकार पत्र घोषित किया गया जिसके अनुसार रविवार छुट्टी का दिन घोषित किया गया। मजदूरों की चिकित्सा, मुआवजे, मृत्यु एवं बुढ़ापे सम्बन्धी बीमे, आदि के अधिकारों को मान्यता दी गई। मजदूर के लिए 8 घण्टे का कार्य निश्चित किया गया। इससे अधिक पर अतिरिक्त धन देय घोषित किया गया। हड़ताल, आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(स) कारपोरेट स्टेट—1928 ई. में एक नियम पास किया गया। इस नियम से आर्थिक क्षेत्र को राजनीति से जोड़ा गया। इसका तात्पर्य था कि आर्थिक विभागों को अब देश की लोकसभा बनाने का अधिकार मिल गया। यह कार्य केन्द्र की 13 सिण्टीकेट्स अपनी सामान्य परिषदों के माध्यम से करती थीं।

(द) निगमात्मक व्यवस्था—1934 ई. में अर्थव्यवस्था को निगमात्मक व्यवस्था में बदला गया। देश में 22 निगमों की स्थापना की गई। निगमों का मुख्य कार्य वितरण एवं मूल्य की व्यवस्था ठीक करना, श्रम के झगड़ों को हल करना, उत्पादन को बढ़ाना और सरकार को विशेष परामर्श देना था। इस व्यवस्था से देश को काफी लाभ मिला। **वास्तव में यह देश की उन्नति का महान प्रयत्न था।**

(य) कृषि सम्बन्धी कार्य—रोम तथा नेपल्स के दलदली भागों को सुखाकर कृषि योग्य बनाया गया। खाद, औजार और आधुनिक माध्यमों से कृषि की व्यवस्था की गई। गेहूं का उत्पादन बढ़ाया गया। विदेशों से आने वाले अनाज पर कर लगाया गया जिससे स्वदेशी कृषि को प्रोत्साहन मिला। चलचित्रों के माध्यम से कृषि की शिक्षा दी गई।

(र) औद्योगिक कार्य—मुसोलिनी ने रेलों को विकसित किया। यातायात को सुगम बनाया। रेशम का उत्पादन किया गया। इटली में जहाज बनाने के कारखाने बनाए गए। इन कारखानों की देख-रेख के लिए बोर्ड बनाया गया विद्युत शक्ति का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग किया गया। इन औद्योगिक कार्यों से इटली की आर्थिक स्थिति काफी हद तक सुधरी।

(ल) बेरोजगारी दूर करने के उपाय—बेरोजगारी दूर करने के लिए स्कूलों, कॉलेजों, सड़कों, इमारतों, आदि को ठीक किया गया जिससे अनेक बेरोजगार काम में लग गए। यहूदियों के प्रति घृणा भरी गई। सैन्य व्यवस्था पर बल दिया गया, इटली के अनेक बेरोजगार सेना में भर्ती हो गए। कृषि को प्रोत्साहित करने से बेरोजगारी कम हुई।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यद्यपि मुसोलिनी ने आर्थिक क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए, परन्तु **प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण इटली का उतना आर्थिक विकास न हो पाया जितना प्रयत्न मुसोलिनी ने किया था।** फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा की उसकी गृह-नीति ने देश को राष्ट्रवादी एवं फासीवादी बनाने में कोई कसर न छोड़ी।

मुसोलिनी की विदेश नीति
(FOREIGN POLICY OF MUSSOLINI)

इटली यद्यपि विश्वयुद्ध में विजयी हुआ था, किन्तु मित्रराष्ट्रों ने उससे जो भी वायदे किए थे, पूरे नहीं किए थे। मुसोलिनी का विचार था कि यह इटली का अपमान है। वह चाहता था कि इस अपमान का वदला मित्र राष्ट्रों पर भरोसे की नीति छोड़कर साम्राज्यवादिता की नीति अपनाकर लिया जा सकता है। उसका मानना था कि मित्र राष्ट्रों द्वारा वनाई गयी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं किसी देश के निवासियों की भावुकता एवं सिद्धान्तों से धराशायी हो जाती हैं। इनका अस्तित्व देशवासियों की भावनाओं तक ही सीमित है।[1]

मुसोलिनी चाहता था कि बाल्कान प्रायद्वीप, पश्चिमी एशिया एवं अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार कर इटली के पराभव को दूर किया जाए। उसके विचार में शान्ति का अर्थ केवल युद्ध के लिए थोड़ा-सा विश्राम मात्र था।[2] उसने एक बार कहा भी था, **"युद्ध का सामना करने वाले व्यक्तियों पर ही श्रेष्ठता की मुहर लग सकती है।"**[3] मुसोलिनी भूमध्यसागर को इटली की झील के रूप में परिणत करना चाहता था।[4] अपने इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर मुसोलिनी ने अपनी विदेशी नीति को कार्यान्वित किया। इटली की जनता ने उसका इसलिए स्वागत किया क्योंकि वह भी इटली को उच्चतम शिखर पर देखना चाहती थी।

अपनी विदेश नीति के अन्तर्गत मुसोलिनी ने निम्नलिखित कार्य किए :

(1) **डोडिकानीज तथा रोड्स द्वीपों का सैन्यीकरण**—1920 ई. में हुई सेव्र सन्धि के अनुसार डोडिकानीज और रोड्स इन दोनों द्वीपों पर यूनान ने अधिकार कर लिया जबकि ये पूर्व में इटली के अधीन थे। इटली की निगाह अभी भी इन दोनों द्वीपों पर लगी थी। टर्की के सुल्तान कमालपाशा द्वारा यूनान को पराजित करने के उपरान्त सेव्र की सन्धि तोड़े जाने से इटली को अप्रत्याशित लाभ हो गया। 24 जुलाई, 1923 ई. को हुई लोजान की सन्धि ने सेव्र की सन्धि को संशोधित किया और वे दोनों द्वीप इटली को प्राप्त हो गए। वास्तव में मुसोलिनी भूमध्य सागर को इटैलियन झील बनाना चाहता था। अतः उसने पूर्वी भूमध्य सागर में स्थित इन दोनों द्वीपों का सैन्यीकरण शुरू कर दिया। उसने नौ सैनिक अड्डे बनाए तथा द्वीपों की किलेबन्दी कर डाली। यह उसकी विदेशी नीति का प्रथम अभियान था।

(2) **टाइरोल के प्रति नीति**—पेरिस की सन्धि के अनुसार टाइरेल का ट्रेण्डिनो नामक क्षेत्र इटली को सौंप दिया गया था। टाइरोल का वह भाग जो कि जर्मन बहुल था, इटली के क्षेत्र में आ गया। इटली ने अपने इस वायदे को कि उनके साथ समानता का व्यवहार करेगा,

1 "All international or league organization crumble to the ground when ever the heart of nations is stirred deeply by sentimentaly idealist or practical considerations." —*Mussolini*

2 "Peace is a pause for war." —*Mussolini*

3 "Only war carries human energies to the highest level and puts the seal of nobility upon who have the courage to undertake it." —*Mussolini*

4 "He aspired to transform the Mediterranean into an Italian lake."
—Anderson, *Modern, Europe in Perspective*, p. 478.

भुलाकर कोई परवाह नहीं की। **मुसोलिनी ने गैरइटैलियन्स को इटैलियन प्रभाव में मानना शुरू कर दिया।** उसने यह भी स्पष्टतया घोषित किया कि वह इटली के मामलों में कोई विदेशी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार मुसोलिनी के हौंसले बढ़ते ही चले गए।

(3) करफू पर बम वर्षा—यूनान तथा अल्बानिया के सीमा विवाद को सुलझाने के लिए 'डीलिमिटेशन कमीशन' कार्य कर रहा था कि यूनान में अगस्त 1923 ई. को कुछ इटैलियन अधिकारियों की हत्या कर दी गई। मुसोलिनी ने, जो कि यूनान को चेतावानी दी कि 5 दिन के भीतर यूनान मामले की जांच कराकर अपराधियों को दण्ड दे तथा इटली को 5 करोड़ थीरा युद्ध का हर्जाना दे। यूनान ने इस बात को राष्ट्र संघ के सम्मुख रखा। मुसोलिनी ने यूनान के करफू टापू पर बम वर्षा की और उस पर अधिकार कर लिया, किन्तु इंग्लैण्ड के दबाव के कारण उसे टापू खाली करना पड़ा, परन्तु उसने क्षतिपूर्ति की रकम वसूल कर ही ली, यह मुसोलिनी की एक महत्वपूर्ण सफलता थी। इससे राष्ट्र संघ की निर्बलता सिद्ध हुई और मुसोलिनी को अग्रिम कार्यवाही हेतु प्रोत्साहन मिला।

(4) यूगोस्लाविया से सन्धि 27 जनवरी, 1924 ई.—इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं थे। दोनों के बीच प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। इटली वार्साय की सन्धि में परिवर्तन का इच्छुक था, जबकि यूगोस्लाविया वार्साय की सन्धि को यथावत रखना चाहता था। एड्रियाटिक सागर में दोनों के हित आपस में टकराते थे, किन्तु मुसोलिनी फ्यूम पर अधिकार कर भूमध्य सागर में अपनी स्थिति को दृढ़ करना चाहता था। अतः उसने यूगोस्लाविया से 27 जनवरी, 1924 ई. को सन्धि की।

इस सन्धि से जारा का बन्दरगाह और डालमेशिया का समुद्र तट यूगोस्लाविया को दिया गया। इटली का फ्यूम पर अधिकार हो गया, परन्तु फ्यूम का बन्दरगाह यूगोस्लाविया के पास ही रहा। फ्यूम का नगर प्राप्त करना मुसोलिनी की विदेश नीति के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण सफलता थी।

(5) रूस से 1924 ई. की सन्धि—मुसोलिनी यूरोप की राजनीति में किसी शक्तिशाली मित्र का साथ ढूंढ रहा था। उसने देखा कि रूस वार्साय सन्धि का विरोधी है और परिवर्तन का इच्छुक है। अतः मुसोलिनी ने फरवरी 1924 ई. में रूस के साथ व्यापारिक सन्धि की और साथ ही रूसी सरकार को मान्यता प्रदान की। इस सन्धि से हालांकि इटली को कुछ प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु उसने यूरोपीय राजनीति में रूस को मित्र बना लिया, जिससे राजनीतिक मंच पर इटली का सम्मान बढ़ गया।

(6) रोम पैक्ट 1935 ई.—इटली के साथ फ्रांस के व्यापारिक सम्बन्ध व्यापारिक मतभेदों के कारण अच्छे नहीं थे। जहां ट्यूनिस, कार्सिका और सेवाय पर मुसोलिनी अधिकार करना चाहता था, वहीं इन पर फ्रांस का अधिकार था। भूमध्यसागर में भी दोनों के हित टकराते थे, परन्तु हिटलर के उत्कर्ष ने दोनों को करीब लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिटलर एवं मुसोलिनी दोनों के आस्ट्रिया सम्बन्धी विचारों ने **रोम-पैक्ट** को जन्म दे दिया। इसके अनुसार :

(1) फ्रांस के 44,500 वर्ग मील अफ्रीकी क्षेत्र इटली को प्राप्त हो गए।
(2) दोनों देशों में प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो गई।
(3) आस्ट्रिया पर संकट आने पर दोनों देश परस्पर विचार-विमर्श करेंगे।
(4) यूरोप की स्थिति यथावत रहेगी।

(7) स्ट्रेसा की सन्धि—यह सन्धि भी हिटलर के भय से 1935 ई. में स्ट्रेसा नामक स्थान पर इंग्लैण्ड से की गई। इसका महत्व इस बात से है कि इंग्लैण्ड, इटली और फ्रांस के गठबन्धन ने हिटलर के विरोध में एक मोर्चे का कार्य किया।

(8) अन्य देशों से सन्धियां—मुसोलिनी ने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए 1926 ई. में रूमानिया और स्पेन से, 1927 ई. में हंगरी से, 1928 ई. में यूनान व टर्की से, 1932 ई. में रूस से सन्धियां कीं। इन सन्धियों से यूरोपीय जगत में इटली ने अपना सम्मानित स्थान बना लिया। वेन्स महोदय ने तो यहां तक कहा है कि 1930 ई. **तक मुसोलिनी व्यावसायिक एवं कूटनीतिक प्रभाव बढ़ाने में सफल रहा।**

(9) अबीसीनिया पर अधिकार—मुसोलिनी अबीसीनिया पर अधिकार करने का इच्छुक था। मुसोलिनी के लिए उपनिवेश स्थापित करना अत्यधिक जरूरी इसलिए भी हो चुका था, क्योंकि इटली में बेकारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। अबीसीनिया पर किसी देश ने अपना दावा घोषित नहीं किया था। अबीसीनिया व्यापारिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। वहां पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल विद्यमान था। सोमालीलैण्ड और आस्ट्रिया के बीच के इस क्षेत्र पर अधिकार कर मुसोलिनी अपने साम्राज्य का विस्तृत प्रसार करना चाहता था। उसने कहा भी था कि औद्योगिक सामग्री की प्राप्ति के लिए वह युद्ध करने को भी तैयार है।[1] उसने कहा, **"यदि उसे विजय मिलेगी तो वह अबीसीनिया का बादशाह बनेगा अन्यथा वह इटली का शासक है ही।"**[2]

5 दिसम्बर, 1934 ई. को इटेलियन सोमालीलैण्ड के पास लगे वालवाल (Walwal) के नगर में इटली और अबीसीनिया की सेनाओं में संघर्ष हो गया, मुसोलिनी ने अबीसीनिया की सीमाओं पर अपनी सेनाएं एकत्र कीं और 3 अक्टूबर, 1935 ई. को अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इटली के विरुद्ध लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्ध सफल न हो पाए। अन्ततः 7 दिसम्बर, 1935 ई. को फ्रांस के विदेश मन्त्री लावेल तथा इंग्लैण्ड के विदेश मन्त्री सैम्यूएल होर ने इटली की सन्तुष्टि हेतु पेरिस में समझौता किया, परन्तु समझौता लागू न हो सका और 5 मई, 1936 ई. को मुसोलिनी की सेना आदिस अबाबा में घुस गई और 9 मई, 1936 ई. को मुसोलिनी अबीसीनिया का सम्राट घोषित कर दिया गया। अबीसीनिया का शासक हेल हिलासी असहाय था। उसकी पुकार किसी ने न सुनी।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राष्ट्र संघ के द्वारा लगाए गए आर्थिक प्रतिबन्ध इटली का कुछ न कर सके। यदि इंग्लैण्ड और फ्रांस इटली के विरुद्ध एक हो जाते और सैनिक कार्यवाही की धमकी देते तो शायद मुसोलिनी अबीसीनिया पर अधिकार न कर पाता। कार ने लिखा है, **"यह राष्ट्र संघ के लिए भयंकर मार थी।"**[3] गैरेट के शब्दों में, **"अबीसीनिया की लाश ने यूरोप के जीवन को विषाक्त कर दिया।"**[4] लैंगसम महोदय ने तो यहां तक लिखा है, "रोम बर्लिन धुरी की सम्भावना यहीं से स्पष्ट हो चुकी थी।"[5]

1 "War is to man what maternity is to woman." —*Mussolini*
2 "If we win, I shall be king of Abyssinia. If we lose, I shall be king of Itlay." —*Mussolini*
3 "The Italian Victory was a grave blow to the League." —*Carr*
4 "The corpse of Abyssinia remained to poison the life of Europe." —*Garrat*
5 "The Rome-Berlin axis began to capitalize its nuisance value in international politics." —*Langsom*

(10) राष्ट्र संघ का परित्याग (1936 ई.)—इसके तुरन्त बाद इटली ने राष्ट्र संघ की सदस्यता से हाथ खींच लिए।

(11) रोम-बर्लिन धुरी की स्थापना—हिटलर इस बात से पूर्णतया भिज्ञ था कि मुसोलिनी को अपनी ओर करके ही आस्ट्रिया पर अधिकार पाया जा सकता है। यूरोपीय राजनीति इटली के इर्द-गिर्द घूम रही थी। अबीसीनिया के प्रति इटली के रवैये ने फ्रांस, इंग्लैण्ड एवं रूस को चौकन्ना कर दिया था। फ्रांस, इंग्लैण्ड एवं रूस के व्यवहार से भी इटली खिन्न था कष्ट के समय हिटलर ने इटली की पर्याप्त मदद की। मुसोलिनी समझ गया कि हिटलर सच्चा मित्र है। अतः इटली व जर्मनी के बीच 26 अक्टूबर, 1936 ई. को एक समझौता हुआ जो इतिहास में रोम-बर्लिन धुरी के नाम से प्रख्यात है, **इस समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं :**

(i) दोनों देश समाजवादी व्यवस्था का विरोध करेंगे।

(ii) स्पेन की रक्षा की जाएगी।

(iii) दोनों देश समय-समय पर वार्ता करेंगे।

(iv) जर्मनी का आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया पर मौन अधिकार स्वीकार कर लिया गया। आस्ट्रिया से किए गए 1919 ई. के समझौते को जैसे इटली ने भुला ही दिया था। शीघ्र ही इस सन्धि में जापान को शामिल कर लिया गया और रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी का निर्माण हो गया।

(12) अल्बानिया पर अधिकार—इटली का अल्बानिया के लिए विशेष महत्व था। इटली को भूमध्य सागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए औटेण्ड्रो के जलडमरूमध्य पर अधिकार करना जरूरी था। औटेण्ड्रो के एक ओर इटली और दूसरी और अल्बानिया थे। 1925 ई. में अल्बानिया में गणतन्त्रात्मक शासन स्थापित कर दिया गया था। इसका राष्ट्रपति जूगो (Zugo) नामक व्यक्ति हो गया। अल्बानिया आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा था। उसकी स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः 27 नवम्बर, 1926 ई. को अल्बानिया ने इटली से सन्धि की। **इस सन्धि की धाराएं अग्रांकित थीं :**

(i) अल्बानिया के सैनिकों को इटली के सैनिक पदाधिकारी प्रशिक्षित करेंगे।

(ii) अल्बानिया इटली के अहित में किसी अन्य देश से सन्धि नहीं करेगा।

(iii) दोनों देश बाह्य आक्रमणकारी का सामना मिलकर करेंगे। यह शर्त 20 वर्ष तक रहेगी।

इस प्रकार एक प्रकार से अल्बानिया पर इटली का ही प्रभुत्व छा गया। इसी समय अल्बानिया और युगोस्लाविया के बीच युद्ध का संकट दिखाई देने लगा। मुसोलिनी ने अल्बानिया में उसकी सहायता के बहाने अपनी सेनाएं भेज दीं और 1936 ई. में आक्रमण कर इटली में मिला लिया।

(13) स्पेन से सम्बन्ध—विश्वयुद्ध के दौरान स्पेन की तटस्थता की नीति ने आर्थिक रूप में अन्य देशों के मुकाबले स्पेन की आर्थिक स्थिति को बिगड़ने न दिया था, परन्तु विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भ्रष्टाचार का जो दौर स्पेन में चला, उसने स्पेन की कमर तोड़ दी। इस समय, समय के साथ-साथ समाजवादी, साम्यवादी, अराजकतावादी, गणतन्त्रवादी अनेक दल पनपने लगे। सभी स्पेन में अपना प्रभाव बढ़ाकर अपनी सरकार स्थापित करना चाहते थे। 1913 ई. में गणतन्त्र की स्थापना स्पेन में हुई। स्पेन में फासिस्टी नेता जनरल फ्रेंको गणतन्त्र को उखाड़कर अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था।

इधर इटली भूमध्य सागर में प्रभाव बढ़ाने के कारण स्पेन में रुचि लेने लगा। उसने जनरल फ्रेंको को सहायता पहुंचाना शुरू कर दिया। जर्मनी ने इटली का साथ दिया और अन्ततः 1939 ई. में जनरल फ्रेंको की विजय हुई। जनरल फ्रेंको की विजय से इटली को यह लाभ हुआ कि भूमध्य सागर में उसके विरोध में बनने वाले गुट की सम्भावना समाप्त हो गई।

(14) **सज्जन समझौता 1937**—2 जून, 1937 ई. को इटली ने इंग्लैण्ड के साथ एक समझौता किया जो सज्जन समझौता (Gentlemens Agreements) कहलाता है। इसके अनुसार स्पेन की तटस्थता पर जोर दिया गया। भूमध्य सागर में दोनों ने एक-दूसरे की स्वतन्त्रता मानी।

मुसोलिनी ने इससे ठीक बाद नौसेना बढ़ा ली। इधर इटली को सन्तुष्ट करने की ब्रिटेन की नीति से ब्रिटिश इटालियन एक्ट के अनुसार अबीसीनिया पर इटली की सत्ता को मान्यता दे दी।

(15) **इटली व जर्मनी का समझौता 22 मई, 1939 ई.**—22 मई, 1939 ई. को इटली ने जर्मनी के साथ राजनैतिक समझौता किया। इस समझौते को फौलादी समझौता (Steel Pact) भी कहा जाता है। इसके अनुसार दोनों एक-दूसरे की सैन्य सहायता करेंगे।

(16) **द्वितीय विश्वयुद्ध व इटली**—हिटलर ने 1 सितम्बर, 1939 ई. को पोलैण्ड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दे दिया। स्टील पैक्ट के अनुसार इस समय मुसोलिनी को हिटलर का साथ देना चाहिए था, किन्तु जैसा कि हेजन ने लिखा है, **"इस कारण इटली अशक्त था, जर्मनी के हित में उसका तटस्थ रहना ठीक था। स्पेन के गृहयुद्ध में वह पूर्णतया थक चुका था—वह युद्ध का विचार भी नहीं कर सकता था।"**[1] कुछ भी हो अन्ततः 11 जून, 1940 ई. को मुसोलिनी ने हिटलर की ओर से मित्र राष्ट्रों के विरोध में युद्ध की घोषणा कर दी। प्रारम्भ में उन्हें विजय मिली, किन्तु बाद में उसे असफलता मिली और एक दिन ऐसा भी आया जब 25 जुलाई, 1943 ई. को उसे बन्दी बना लिया गया और 18 अप्रैल, 1945 ई. को देश की जनता ने उसे उसकी प्रेयसी पेताच्ची (पेताच्यी) के साथ मृत्यु-दण्ड दे दिया।

इस प्रकार अन्ततः कहा जा सकता है कि मुसोलिनी ने इटली को चरम उत्कर्ष तक तो उठाया, किन्तु उसकी फासिज्म की संवर्धन की महत्वाकांक्षा उसके वध का कारण बनी।[2]

प्रश्न

1. इटली में फासिस्टवाद के उदय के कारणों व प्रगति का वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, 1996)
2. फासिस्टवाद से आप क्या समझते हैं? इसके उदय के कारणों का वर्णन कीजिए।
3. उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनके कारण इटली में मुसोलिनी की उदय हुआ। (लखनऊ, 1994)
4. मुसोलिनी की गृह-नीति व उसके परिणामों का वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
5. मुसोलिनी की वैदेशिक नीति का वर्णन कीजिए।

1 Hazen, C. D., *Modern Europe upto 1945*, p. 389.
2 "The outcome was that Fascism's 'will to power' brought not glory and Empire but the end of Fascism and the execution of Duce." —*Benns*

5

वाइमर गणतन्त्र
[WEIMAR REPUBLIC]

वाइमर संविधान और गणतन्त्र की स्थापना
(WEIMAR CONSTITUTION AND THE REPUBLIC)

कैसर विलियम द्वितीय की विश्व राजनीति ने प्रथम विश्वयुद्ध को जन्म दे दिया। इस समय जर्मन जनता ने राष्ट्रीय संकट को देख जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय का समर्थन किया था, किन्तु 4 वर्ष तक जर्मन सम्राट का पूरा साथ देने के पश्चात् जर्मन जनता ने जर्मन सम्राट का विरोध करना आरम्भ कर दिया। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि अमेरिका विश्वयुद्ध में पदार्पण कर चुका था और अब जर्मनी की विजय की आशा धूमिल हो चुकी थी। इधर मित्र राष्ट्र कैसर विलियम द्वितीय से किसी भी स्थिति में सन्धि को तैयार नहीं थे। इस स्थिति में जर्मनी में यह धारणा फैलने लगी कि कैसर विलियम के सिंहासन परित्याग के पश्चात् सम्भवतः मित्र राष्ट्र जर्मनी के प्रति उदारतापूर्ण रवैया अपनायेंगे। इसी समय जर्मनी की आन्तरिक स्थिति की भयावहता के कारण जर्मनी में यत्र-तत्र विद्रोह होने लगे। अतः 10 नवम्बर, 1918 ई. को कैसर विलियम द्वितीय ने सम्राट के पद का परित्याग कर दिया। वह हालैण्ड चला गया। 20 अन्य जर्मन शासकों को भी सिंहासन छोड़ना पड़ा। सत्ता **'सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल'** (Social Democratic Party) के हाथ में आ गयी। **दल के नेता एबर्ट** (Ebert) **ने अस्थायी सरकार का गठन किया।**

एबर्ट ने अस्थायी सरकार का गठन तो कर लिया, किन्तु एक ओर स्वयं सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल में फूट पड़ गयी दूसरी ओर अन्य राजनीतिक दल सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थे। सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल दो भागों में बंट गया। **प्रथम बहुमत दल** (Majority Party) एवं **द्वितीय अल्पमत दल** (Minority Party)। बहुमत दल के नेता एबर्ट एवं सीडमेन थे जो कि गणतन्त्रीय पद्धति में विश्वास करते थे। अल्पमत दल सांम्यवादियों से मित्रता का पक्षपाती था। इस दल ने **'इण्डिपेण्डेण्ट सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी'** (Independent Social Democratic Party) के नाम से अपना अलग संगठन बना लिया। अन्य प्रमुख राजनीतिक दल थे—सेण्ट्रिस्ट पार्टी (Centrist Party), राष्ट्रवादी दल (National Party) एवं स्पार्टसिस्ट (Spartasist)। सैण्ट्रिस्ट पार्टी एक कैथोलिक पार्टी थी। राष्ट्रवादी दल राजसत्तावादी थे। स्पार्टसिस्ट साम्यवादी पार्टी थी।

स्थिति को देखते हुए 19 जनवरी, 1919 ई. को जनतन्त्रात्मक संविधान के गठन के लिए राष्ट्रीय महासभा का चुनाव हुआ, जिसमें किसी एक दल को पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त हुआ। अतः सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने अन्य मध्यमवर्गीय दलों से गठजोड़ कर अपना बहुमत स्पष्ट किया। **अब राष्ट्रीय सभा ने बहुमत के आधार पर एबर्ट को राष्ट्रपति घोषित किया। वह जर्मनी की प्रथम राष्ट्रपति था।** राष्ट्रीय सभा ने शीघ्र ही जर्मनी के लिए वाइमर नगर में एक नवीन संविधान बताया। **इस प्रकार जर्मनी में वाइमर संविधान एवं वाइमर गणतन्त्र की स्थापना हुई।** इस गणतन्त्र और संविधान को वाइमर गणतन्त्र और वाइमर संविधान कहने का सबसे बड़ा कारण यह था कि जर्मनी का नवीन संविधानं वाइमर नामक नगर में बना था।[1]

वाइमर संविधान की रूपरेखा
(OUTLINE OF THE WEIMAR REPUBLIC)

वाइमर संविधान की रूपरेखा इस प्रकार थी :

(1) राष्ट्रपति (President)—वाइमर संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को कार्यपालिका का अध्यक्ष घोषित किया गया। राष्ट्रपति का चयन जनता द्वारा 7 वर्ष के लिए होना था। इसके चुनाव के लिए 20 वर्ष या उससे अधिक के प्रत्येक जर्मन स्त्री-पुरुष को मताधिकार दिया गया। राष्ट्रपति को यह अधिकार था कि वह अगले निर्वाचन में उम्मीदवार बन सकता था। राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व अविश्वास-प्रस्ताव द्वारा हटाया जा सकता था। इसके लिए लोकसभा के 2/3 सदस्यों की अनुमति तथा जनता का अनुमोदन आवश्यक था।

राष्ट्रपति को अधिकार था कि वह लोअर हाउस को भंग कर सकता था, 6 दिन के भीतर लोकसभा का पुनर्निर्वाचन आवश्यक था। संकट के समय राष्ट्रपति चांसलर से बिना अनुमति लिए अध्यादेश जारी कर सकता था, किन्तु अन्य स्थितियों में राष्ट्रपति को चांसलर के निर्देशों के अनुसार ही कार्य करना होता था। राष्ट्रपति का प्रत्येक आदेश तभी मान्य होता था जबकि उस पर चांसलर या अन्य किसी मन्त्री के हस्ताक्षर हों।

(2) चांसलर (Chancellor)—चांसलर की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती थी, किन्तु राष्ट्रपति को बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही चांसलर बनाना होता था। चांसलर का कार्यकाल 4 वर्ष का था। चांसलर लोकसभा के प्रति उत्तरदायी था। चांसलर के अधीन अन्य मन्त्री भी थे। चांसलर विदेश नीति का संचालन करता था।

(3) लोकसभा (Reichstag)—लोकसभा का निम्न सदन (Lower House) था, लोकसभा का निर्वाचन 4 वर्ष के लिए होता था। लोकसभा साधारण बहुमत से अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रिमण्डल को भंग कर सकती थी।

(4) राज्यपरिषद् (Reichsrat)—राज्यं परिषद् को अपर हाउस कहा जाता था। राज्य परिषद् में जर्मन राज्यों से कम-से-कम एक प्रतिनिधि होता था। सामान्यतः एक लाख से अधिक की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि आता था, किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी राज्य से अपर हाउस के समस्त सदस्यों की जनसंख्या के 1/5 भाग से अधिक सदस्य राज्य परिषद् के लिए नहीं आ सकते थे। राज्य परिषद् के अधिकार अत्यन्त सीमित थे।

---
1 कोपेल एस. पेसां, मॉडर्न जर्मनी, पृ. 392।

(5) **उच्चतम न्यायालय** (Supreme Court)—संविधान की धाराओं के सम्बन्ध में विवाद होने पर उसकी व्याख्या के लिए एक उच्चतम न्यायालय की भी व्यवस्था वाइमर संविधान में की गई।

वाइमर गणतन्त्र के कार्य
(WORK OF THE WEIMAR CONSTITUTION)

जर्मनी में वाइमर गणतन्त्र की स्थापना तो हो चुकी थी, किन्तु वाइमर गणतन्त्र की समस्याओं का निदान अभी नहीं हुआ था। भयंकर आन्तरिक व बाह्य समस्याएं नवगणतन्त्र की ओर मुंह फाड़े खड़ी थीं। वाइमर गणतन्त्र को जहां एक ओर देशव्यापी असन्तोष को समाप्त कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना था वहीं दूसरी ओर जर्मनी को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठा कायम करनी थी। वाइमर गणतन्त्र ने अपनी निम्नलिखित समस्याओं का निदान करने का प्रयत्न करते हुए **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की प्रतिष्ठा को कायम करने के लिए निम्नलिखित प्रयास किये :**

(1) **राजतन्त्रवादियों की समस्या**—वाइमर गणतन्त्र को सबसे गम्भीर चुनौती राजतन्त्रवादियों ने दी। वाइमर गणतन्त्र को बदनाम करने के लिए राजतन्त्रवादियों ने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि **युद्ध में जर्मनी की पराजय का कारण गणतन्त्रवादी हैं। वे कभी भी मित्र राष्ट्रों को जर्मन युद्ध अपराधियों को सौंप सकते हैं। गणतन्त्रवादियों ने वार्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर कर देश के मस्तक को नीचा कर दिया है।** यही नहीं, राजतन्त्रवादियों ने 12 मार्च, 1920 ई. को बर्लिन पर अधिकार कर डॉ. कैप को राष्ट्रपति घोषित कर दिया।

गणतन्त्रवादियों ने स्थिति से निपटने के लिए मजदूर वर्ग को हड़ताल के लिए प्रोत्साहित किया। बर्लिन में मजदूरों की हड़ताल के कारण यातायात, विद्युत आपूर्ति, जलापूर्ति, आदि बन्द हो गई, अतः राजतन्त्रवादियों को विवश होकर वाइमर गणतन्त्र के सम्मुख घुटने टेकने पड़े। डॉ. कैप व उसके अनुयायी बर्लिन छोड़कर स्वीडन भाग गए।

(2) **साम्यवादियों की समस्या**—वाइमर गणतन्त्र को दूसरी चुनौती साम्यवादियों की ओर से मिली। यह ठीक है कि राजतन्त्र के विरोध में साम्यवादियों ने भी भाग लिया था, किन्तु वे देश में अधिनायकतन्त्र स्थापित करना चाहते थे, अतः राजतन्त्रवादियों की पराजय के पश्चात् मजदूरों ने साम्यवादियों के प्रभाव में आकर नोस्के की सरकार के त्यागपत्र का अभियान छेड़ दिया। फलतः देश में नए चुनाव हुए इसमें बहुमत तो गणतन्त्रवादियों का ही रहा, किन्तु अब संसद में विरोधी दलों के सदस्यों की भी अधिकता हो गई।

(3) **हिटलर का विद्रोह**—नवम्बर 1923 ई. में हिटलर ने वाइमर गणतन्त्र को उस समय चुनौती दी जबकि उसने बर्लिन पर आक्रमण कर दिया, किन्तु म्यूनिख की पुलिस ने इस विद्रोह को आसानी से दबा दिया। हिटलर को 5 वर्ष का कारावास दे दिया गया। अपराधियों को दण्डित दिया गया।

(4) **क्षतिपूर्ति एवं आर्थिक संकट**—वाइमर गणतन्त्र की सबसे गम्भीर समस्या क्षतिपूर्ति एवं आर्थिक संकट की समस्या थी। क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) ने 60 अरब 60 करोड़ पौण्ड की राशि निश्चित कर दी थी जो कि अत्यधिक थी। वाइमर गणतन्त्र ने इस राशि को कम करने की मांग की। **डावेस तथा यंग योजना के तहत इस धनराशि में कमी भी की गई।** 1932 ई. में तो यह धनराशि 75 करोड़ डालर निश्चित हुई। जर्मनी ऋण

लेकर क्षतिपूर्ति कर रहा था। आर्थिक संकट उपस्थित हो जाने पर तो जर्मनी ने घोषित किया कि अब वह क्षतिपूर्ति की राशि चुकाने में असमर्थ है।

इधर जर्मनी जैसे-तैसे कागज के सिक्के छापकर कार्य चला रहा था। स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि 1922 ई. में मार्क का कोई मूल्य ही नहीं रह गया। पौण्ड का मूल्य करोड़ों व अरबों मार्क से तोला जाने लगा, वाइमर गणतन्त्र ने स्थिति से निपटने के लिए नए मार्क (Rental Mark) का सिक्का चलाया। इसी बीच विदेशी ऋण मिलना बन्द हो गया जिससे जर्मनी आर्थिक विपन्नता के द्वार पर पहुंच गया।

अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण जर्मनी क्षतिपूर्ति की राशि की किश्तों को सही समय पर चुका नहीं पा रहा था। अतः फ्रांस ने क्षतिपूर्ति की दुहाई देते हुए बेल्जियम व इटली से मिलकर जर्मनी के रूर नामक औद्योगिक नगर पर अधिकार कर लिया। इंगलैण्ड के हस्तक्षेप के कारण अन्ततः समझौता हुआ और क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में डावेस योजना लागू की गई।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की प्रतिष्ठा (विदेश नीति)—वार्साय की सन्धि से जर्मनी में देशव्यापी असन्तोष था। गणतन्त्रवादी इस असन्तोष को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की प्रतिष्ठा को पुनः कायम कर दूर करना चाहते थे। **इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वाइमर गणतन्त्र ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण कदम उठाए :**

(अ) रैपेलो की सन्धि—1922 ई. में जर्मनी ने रूस के साथ रैपेलो की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार दोनों देशों ने व्यापार के क्षेत्र में एक-दूसरे के सहयोग का आश्वासन दिया। एक गुप्त समझौते के अनुसार रूस ने प्रतिवर्ष कुछ सैनिकों को प्रशिक्षण का वचन दिया। इस सन्धि ने जर्मनी के एकाकीपन का अन्त कर दिया।

(ब) मित्र राष्ट्रों को प्रसन्न करने की नीति—वाइमर गणतन्त्र के नेताओं ने मित्र राष्ट्रों को प्रसन्न रखने की नीति अपनाई। पीपुल्स पार्टी (Peoples Party) का संस्थापक स्ट्रेसमन तो यथासम्भव वार्साय की सन्धि के अनुपालन का पक्षपाती था।

(स) लोकार्नो पैक्ट—स्ट्रेसमन के प्रयत्नों से 1925 ई. में लोकार्नो नामक स्थान पर एक पैक्ट पर जर्मनी, इटली, इंगलैण्ड, फ्रांस व बेल्जियम ने हस्ताक्षर किए। इस पैक्ट के अनुसार:

(1) जर्मनी ने अल्सेस तथा लारेन पर फ्रांस के अधिकार को मान लिया।

(2) फ्रांस व जर्मनी ने एक-दूसरे पर आक्रमण न करने का आश्वासन दिया।

(3) राइन प्रदेश सेना रहित होगा।

(द) राष्ट्र संघ की सदस्यता—1926 ई. में जर्मनी राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। जर्मनी को कौंसल की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो गयी। इससे निस्सन्देह जर्मनी की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

(य) अन्य महत्वपूर्ण कार्य—उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त वाइमर गणतन्त्र ने कतिपय अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी किए। 1927 ई. में जर्मनी ने मैण्डेट कमीशन में स्थान पा लिया। 1928 ई. में जर्मनी ने **'केलॉग ब्रियां पैक्ट'** पर हस्ताक्षर किए और 1929 ई. में यंग योजना स्वीकार की। 1930 ई. में राइन प्रदेश को खाली कराने में सफलता प्राप्त की। 1932 के लोजान सम्मेलन में क्षतिपूर्ति की राशि 75 करोड़ कराने में भी सफलता प्राप्त की, किन्तु विदेशी ऋण मिलना बन्द हो जाने से जर्मनी को 1932 ई. में यह घोषित करना ही पड़ा कि वह क्षतिपूर्ति की राशि चुकाने में असमर्थ है।

निष्कर्ष
(CONCLUSION)

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि अक्टूबर 1929 ई. में अपनी मृत्यु से पूर्व स्ट्रेसमन ने जर्मनी को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में सफलता प्राप्त की। वार्साय की आरोपित सन्धि का पालन करने का प्रयास, जर्मनी की औपनिवेशिक क्षति, राइन लैण्ड पर सहबद्ध राष्ट्रों का आधिपत्य, आल्सेस तथा लारेन पर फ्रांस का प्रभुत्व स्वीकार करना, रूर पर फ्रांस का बलात अधिकार एवं 1930-31 ई. में विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने वाइमर गणतन्त्र का पतन अवश्यम्भावी निश्चित कर दिया और अब जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी।

प्रश्न

1. वाइमर गणतन्त्र की स्थापना पर प्रकाश डालते हुए उसके कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
2. वाइमर संविधान की स्थापना व उसकी रूपरेखा पर प्रकाश डालिए।
3. वाइमर गणतन्त्र को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? क्या वह उन कठिनाइयों का निदान कर सका?
4. वाइमर गणतन्त्र की गृह एवं विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।

6

जर्मनी में नाजीवाद

[NAZISM IN GERMANY]

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी पूर्णतया पराजित हो गया था और हाहेनजालर्न राजवंश के शासक विलियम द्वितीय के शासन काल का भी अन्त हो गया। जर्मनी में हरएबर्ट के नेतृत्व में प्रजातान्त्रिक सरकार बनी। एबर्ट ने वाइमर नामक नगर में लोकसभा को बुलाया। अतः इसे **वाइमर गणतन्त्र** की सरकार भी कहा जाता है, परन्तु वाइमर गणतन्त्र जर्मनी में पूर्ण शान्ति एवं समृद्धि स्थापित करने में सफल न हुआ। इस असफलता का प्रमुख कारण उसके द्वारा उस वार्साय की सन्धि पर 28 जून, 1919 को हस्ताक्षर करना था जिसे जर्मनी की जनता ने एवं यहां तक कि उसके प्रतिनिधियों ने भी मन से कभी स्वीकार नहीं किया। इसका पूरा लाभ जर्मनी में पनप रहे नाजी[1] दल ने उठाया, जिसका नेता एल्डाफ हिटलर था, नाजी दल ने हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में अपनी तानाशाही स्थापित कर ली।

हिटलर का संक्षिप्त जीवन-परिचय
(LIFE OF ADOLF HILTER)

हिटलर का पूरा नाम एडाल्फहिटलर था। उसका जन्म आस्ट्रिया एवं बवेरिया की सीमा पर स्थित ब्रूनो (Braunau) नामक गांव में 20 अप्रैल, 1889 ई. को हुआ था। हिटलर कला-प्रेमी था। अतः वह वास्तु कला की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से विएना गया, परन्तु विद्यालय की प्रवेश परीक्षा की असफलता के कारण उसका प्रवेश न हो सका। अतः उसने अपनी अजीविका का माध्यम लोगों के घरों में चित्रकारी बना लिया। हिटलर का स्वभाव साहस एवं शौर्य की प्रतिमूर्ति था।

विएना में मजदूरों के द्वारा प्रतिस्पर्धी नजरों से देखे जाने पर हिटलर विएना से 1912 ई. में म्यूनिख आ गया। जब 1914 में महायुद्ध छिड़ा तो बवेरिया की सेना में भर्ती हो गया। युद्ध के दौरान उसने 'आयरन क्रास' (Iron Cross) की पदवी प्राप्त की। उसे विश्वास था कि विश्वयुद्ध में जर्मनी विजयी होगा, किन्तु उसकी यह आशा निराशा में बदल गई। उसकी

---

1 जर्मनी ने इटली की फासिस्टवादी विचारधारा को राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) के रूप में अपनाया। इसी विचारधारा के लोगों को नाजी (Nazi) अथवा नात्सी कहा गया। नाजीवाद का नेता हिटलर था।

यह धारणा थी कि समाजवादियों, साम्यवादियों और यहूदियों के देशद्रोह के कारण ही जर्मनी को पराजय का मुंह देखना पड़ा है। **इधर वार्साय की सन्धि ने आग में घी का कार्य किया और उसने वार्साय की व्यवस्थां को जर्मनी के लिए कलंक माना और वार्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाली वाइमर गणतन्त्र की सरकार का अन्त करने के लिए कार्यक्रम निश्चित करने का बीड़ा उठाया।**

कार्यक्रम—युद्ध समाप्त होने पर हिटलर म्यूनिख आ गया और यहां पर गुप्तचर विभाग में भर्ती हो गया। इसी समय म्यूनिख में श्रमिक दल नामक एक दल गुप्त रूप से सरकार की नीतियों के खिलाफ अपना कार्य कर रहा था। इस दल में 6 सदस्य थे। दल की बैठकें म्यूनिख में शराबखाने के एक कमरे में हुआ करती थीं। हिटलर ने इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली और इस दल का सातवां सदस्य बन गया।

शीघ्र ही हिटलर इस दल का नेता बन गया और इसका नाम बदलकर **राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक संघ** (National Socialist German Labour Party) रख दिया। इसे नाजी पार्टी (Nazi Party) भी कहा गया।

हिटलर ने दल में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए लेबर पार्टी के संस्थापक ड्रेक्सटर को पार्टी से अलग कर दिया। उसने रोजनबर्ग (Rogenberg), गोबल्स (Gobbeles), हैस (Hess) और गोयरिंग (Goering), आदि को अपना सहयोगी बनाया।

हिटलर ने 8 नवम्बर, 1923 ई. को वाइमर सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, परन्तु उसे सफलता न मिली। उसे 5 वर्ष कैद की सजा सुनाई गई, किन्तु उसके अच्छे व्यवहार के कारण 8 ही माह में उसे कारावास से मुक्त कर दिया गया। अपने 8 माह के कारावास के दौरान उसने अपनी आत्मकथा लिखी, जो इतिहास में **'मेरा संघर्ष'** के नाम से जानी जाती है। 'मेरा संघर्ष' (*Main Kampf*) में हिटलर ने अपनी पार्टी के भावी उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस पुस्तक का प्रथम भाग 1925 ई. में और द्वितीय भाग 1927 ई. में प्रकाशित हुआ।[1] **इस पुस्तक को नाजियों की बाइबिल भी कहा जाता है।**

पार्टी का संगठन—जेल से छूटने के पश्चात् हिटलर ने नाजी पार्टी का संगठन नये सिरे से किया। अपने दल को पूर्ण विकास देने में उसे 7 वर्ष का समय लगा। उसने अपने दल का एक चिन्ह बनाया। यह चिन्ह स्वास्तिक का चिन्ह था। उसने अपने दल का विकास सुदूर गांवों तक भी किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए हर क्षेत्र में एक प्रचारक भेजा। उसने हिटलर यूथ सोसाइटी (Hitler Youth Society) की स्थापना की। इस कारण उसे नवयुवकों का सहयोग मिल सका। उसने पार्टी के कार्य को सुगमता के लिए दो वर्गों में विभक्त किया।

(A) Schuiz Stufflen (S.S.)—इसके सदस्य नाजी नेताओं की रक्षा करते और काले रंग की कमीज पहनते थे।

(B) Sturm Ahteilungen (S. A.)—नाजी पार्टी की सुरक्षा तथा अन्य पार्टियों की एकता को तोड़ना इनका प्रमुख कार्य था। ये भूरे रंग की कमीज पहनते थे। इस प्रकार हिटलर ने पार्टी का संगठन इस प्रकार किया कि प्रत्येक सदस्य अलग-अलग क्षेत्र में अलग-अलग तरह से कार्य कर सका।

---

1 **सी. डी. एच. हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 680।**

हिटलर द्वारा सत्ता की प्राप्ति—हिटलर के द्वारा पार्टी के संगठन एवं तीव्र प्रचार ने पार्टी में नई जान डाल दी। हेजन के अनुसार, "उन्होंने विपत्ति तथा असन्तोष के प्रत्येक कारण से लाभ उठाया। जब 1830 का विश्वव्यापी अवनमन घटित हुआ, तब इसका उन्होंने आश्चर्यजनक लाभ उठाया। फलतः इस दल के मानने वालों की संख्या दिन-प्रतिदिन शीघ्रता से बढ़ी।[1] फलतः 1930 के चुनावों में उनको दिये गये मतों की संख्या 64 लाख 1 हजार पहुंच गई[2] और उन्होंने 107 स्थान प्राप्त कर लिये। 1932 ई. के राष्ट्रपति चुनाव में उनके प्रत्याशी को 11,300,000 मत प्राप्त हुए। उसी वर्ष अप्रैल के अन्तिम मतदान में उसको 13,40,00,000 मत प्राप्त हुए। संसदीय निर्वाचनों में उनको रैक्राटैग में 230 स्थान मिले।[3] हिटलर का सितारा बुलन्द था। उसकी विजय एक गम्भीर षड्यन्त्र, पोपन षड्यन्त्र ने सफल बना दी। चान्सलर कुर्तवान श्लीचर को उसका मित्र फ्रांस बान पापेन अपदस्थ करना चाहता था। उसने राष्ट्रपति हिण्डेनबर्ग को कहा कि जर्मनी को समाजवाद से खतरा है। इस वॉल्शेविक खतरे से जर्मनी को केवल हिटलर ही बचा सकता है। हिण्डेनवर्ग नें भयभीत होकर हिटलर को प्रधानमन्त्री बनाया और पापेन उप-प्रधानमन्त्री बना, परन्तु हिटलर चान्सलर पद से ही सन्तुष्ट नहीं था। लिप्सन के अनुसार, "**उसने सम्पूर्ण शासन सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित करने के लिए सभी उचित, अनुचित साधनों का सहारा लिया और सम्पूर्ण शासन सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित कर ली।**"[4]

चांसलर बनते ही उसने सर्वप्रथम जर्मन पार्लियामेण्ट को भंग कर दिया। इसी बीच 27 फरवरी, 1923 ई. को संसद भवन में आग लग गई। हिटलर ने इसे समाजवादियों का कृत्य बतलाया और अपने विरोधी दलों को जेल में ठूंस दिया। निर्वाचन में साधारण बहुमत प्राप्त कर हिटलर ने सत्ता अपने हाथ में ले ली और अप्रैल 1933 को संसद ने 4 वर्ष के लिए सम्पूर्ण अधिकार हिटलर को अर्पित कर दिये।

हिटलर इस पर भी सन्तुष्ट नहीं था। उसने सभी विरोधी दलों को समाप्त कर दिया। नाजी पार्टी को ही वैधानिक ठहराया गया। पुलिस के स्थान पर नाजी सुरक्षा दल के सैनिक रखे गये। हिटलर ने जैसा कि अपनी पुस्तक '**मेरा संघर्ष**' (*Main Campf*) में लिखा है। "एक चालाक विजेता विजित देश पर अपनी मांगें थोपता चला जाता," हिटलरशाही को जर्मनी में थोपना शुरू कर दिया। 30 जून, 1934 ई. को उसने अपने विरोधियों की हत्याएं करवाईं, श्लीचर का अन्त कर दिया। पापेन भाग गया। 2 अगस्त, 1934 को हिण्डेनबर्ग की मृत्यु के बाद उसने राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री के पद को एक कर दिया। कहा जा सकता है कि हिटलर के उत्थान के साथ ही जर्मनी में गणतन्त्र का एक और प्रयास असफल हो गया।[5]

हिटलर/नाजी दल के उद्देश्य
(AIMS OF HITLER/NAZI PARTY)

हिटलर ने अपनी पार्टी के अग्रांकित उद्देश्य बतलाये :

1 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 681।
2 डॉ. मथुरा लाल शर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 70C।
3 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 681।
4 ग्राण्ट और टैम्परले, यूरोप 19वीं शताब्दी में, पृ. 544-545।
5 "With Hitler's advent another experiment in German democracy had ended in failure." —*op. cit.*, p. 472.

(अ) वार्साय सन्धि का विरोध—नाजी पार्टी का मुख्य उद्देश्य वार्साय की सन्धि का विरोध था। हिटलर की धारणा थी कि इस सन्धि पर देशद्रोहियों ने हस्ताक्षर किये हैं। अतः यह जर्मन जनता को मान्य नहीं है। अतः ऐसी सन्धि की धाराओं को समाप्त कर दिया जाय। इस सन्दर्भ में उसने अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' में लिखा है, **"जर्मनी की सीमाएं अकस्मात हुई घटना का परिणाम है।"** राज्यों की सीमाओं का निर्धारण व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है। उसे निश्चित करने का कार्य भी व्यक्तियों का ही है, जिन्हें बनाया अथवा बदला जा सकता है, क्योंकि वार्साय की सन्धि के द्वारा निश्चित की गई जर्मनी की सीमाओं के कारण जर्मनी आर्थिक रूप से पंगु हो चुका था। अतः हिटलर ने जर्मनी को सुदृढ़ करने के लिए वार्साय सन्धि का विरोध किया।

(ब) एक व्यक्ति के शासन की स्थापना—वार्साय की सन्धि ने जर्मनी में वाइमर गणतन्त्र की स्थापना कर दी थी। हिटलर इस प्रकार के गणतन्त्र का घोर विरोधी था। नाजियों की धारणा थी कि वास्तविक गणतन्त्र वह है जिसमें व्यक्तियों द्वारा चुने गये केवल एक व्यक्ति द्वारा शासन किया जाना चाहिए।

(स) वृहत्तर जर्मनी का निर्माण—नाजी पार्टी का प्रमुख उद्देश्य वृहत्तर जर्मनी का निर्माण करना था। शिपेरो के अनुसार, **"हिटलर का एकमात्र उद्देश्य केवल उन प्रदेशों की प्राप्ति ही नहीं था जिन्हें कि वार्साय की सन्धि के अनुसार छीन लिया गया था, अपितु जर्मनी को एक सत्तात्मक राष्ट्र बनाने का पक्षधर था। छोटे-छोटे राज्यों को जर्मनी में मिलाकर वह अपने को सर्वश्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न बनाना चाहता था।"** दूसरे शब्दों में वह इसे तृतीय महान जर्मन साम्राज्य का निर्माण भी कहा जा सकता है।

(द) निःशस्त्रीकरण जर्मनी के लिए नहीं होना चाहिए—निःशस्त्रीकरण जर्मनी के लिए ही लागू नहीं होना चाहिए। यदि यह लागू हो तो समस्त राष्ट्रों के लिए होना चाहिए। जर्मनी का निर्माण रक्त और लौह की नीति से हुआ था। उसे पुनः अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित कर वार्साय सन्धि में किये गये अपमान का बदला लेना चाहिए।

(य) नाजी पार्टी का प्रमुख उद्देश्य था कि विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय का कारण यहूदी जाति थी। अतः यहूदियों को देश से निकाल देना चाहिए।

(र) सामाजिक उद्देश्य—जो व्यक्ति जितनी योग्यता रखता है, उसे उसकी योग्यता के अनुसार रोजगार प्रदान करना चाहिए तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना चाहिए।

(ल) आर्थिक उद्देश्य—युद्ध के दौरान पूंजीपतियों द्वारा कमाये गये समस्त लाभ नष्ट कर दिये जाने चाहिए। समस्त कारखानों, मिलों अथवा बड़ी-बड़ी दुकानों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। उसे सरकार को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। कृषकों की उन्नति के लिए कृषि को प्रोत्साहन देना होगा। अपनी पुस्तक में हिटलर ने लिखा है, **"हमारे पास यूरोप में कृषि हेतु आवश्यक भूमि होनी चाहिए......यह महत्व हमारे लिए कृषि-प्राप्ति के सवाल का प्रश्न है।"** वृद्ध लोगों को सरकार की ओर से पेंशन मिलनी चाहिए।

(व) धार्मिक उद्देश्य—धर्म अपने आप में स्वतन्त्र है, किन्तु यदि धर्म राष्ट्र की प्रगति में बाधक होगा तो उसे राज्य द्वारा समाप्त कर दिया जाना चाहिए। यह बात उल्लेखनीय है कि हिटलर की गृह एवं विदेशी नीतियां नाजियों के उद्देश्यों पर ही आधारित थीं।

हिटलर की गृह-नीति
(HOME POLICY OF HITLER)

कैटलबी ने लिखा है, "1933 ई. से लेकर अपने शासनकाल के अन्तिम समय तक हिटलर ने आतंक एवं हिंसा का आश्रय लिया और अधिनायकवादी भ्रान्त अपीलों सैन्य प्रदर्शनों, झूठे वायदों एवं छलपूर्ण उपायों से उसने अपने आपको बनाये रखा।"[1] यह बात सही है कि हिटलर ने सत्ता शक्ति के बल पर प्राप्त की थी। अतः उसे शक्ति से ही बनाये रखा जा सकता था। अतः हिटलर ने अपनी गृहनीति के अन्तर्गत निम्नलिखित महत्वपूर्ण कदम उठाये :

(1) **विरोधियों का दमन**—लिप्सन के अनुसार, "हिटलर ने अपने विरोधियों का दमन इस तरह किया मानो कोई कसाई, कसाईखाने में पशु का वध कर रहा हो।" उसके दो प्रमुख शत्रु थे। एक तो समाजवादी जो कि मार्क्स के अनुयायी थे, दूसरे यहूदी। यहूदियों के विषय में तो वह कहता भी था, "जिसने गत तीन पीढ़ियों में किसी यहूदी से विवाह किया है अथवा जर्मनी के विरोध में कोई देश द्रोहात्मक कार्य किया है, उसे यहूदी समझा जाय।[2] समाजदादियों एवं यहूदियों को जेल में ठूंस दिया गया। उस समय यहूदियों के बारे में जर्मनी में कहा जाता था '**यहूदी विश्व के दुश्मन हैं**' (Jew is the enemy of the world) तथा "**जो यहूदियों को मारता है, वह अच्छा कार्य करता है**" (who kills a Jew, does a good dead)। उन्हें कारागार में कठोर दण्ड दिया जाता था। उनसे नाजी दल की सदस्यता ग्रहण करने को कहा जाता था। उसके सहयोगी गोयरिंग ने गोस्पापों एवं समाधि स्थलों की स्थापना की थी, यही नहीं, उसने रोमन कैथोलिकों का भी दमन किया। कैटलवी के अनुसार, "जर्मनी में न केवल साम्यवादियों, यहूदियों, उदार वर्गों, शान्ति चाहने वाले लोगों, कैथोलिकों, धर्म प्रचारकों बल्कि संभी प्रकार के लोगों को सताया गया जिससे लाखों जर्मन घर छोड़कर भाग गये।"[3] उसने आतंक स्थापित कर दिया। उसके शत्रु या तो कब्रों में या जेलों में या श्रम-शिविरों में थे। उसके विरोध में कोई चूं तक नहीं कर सकता था।[4]

(2) **एक व्यक्ति के शासन का दृढ़ीकरण**—हिटलर ने जर्मनी को मजबूत बनाने का कार्य किया। राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री दोनों के पद एक में मिला दिये गये। 1935 के बाद वह प्रधान राष्ट्रपति भी हो गया। वह फ्यूरर कहलाना पसन्द करता था।[5] हरमन गोरिंग को गृहमन्त्री बनाया गया। पुलिस विभाग नाजियों से भर दिया गया। जोजेफ गोबल्स को प्रचार मन्त्री बनाकर नाजी दल के सिद्धान्तों का प्रचार किया गया। कस्बों एवं गांवों की निकायों की अध्यक्षता हिटलर में केन्द्रित कर दी गई। पार्लियामेण्ट्री शासन को भंग करने के लिए धारा सभा की शक्तियों को क्षीण कर दिया गया। कानून बनाने का एकमात्र अधिकार हिटलर तक सीमित कर दिया गया। गवर्नरों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती थी। उसने परामर्श समितियां स्थापित कीं जिनकी संख्या 14 थी, परन्तु वे उसी की इच्छा पर निर्भर होकर कार्य

1 "He set up the regime stained by an infamy that degraded the German national recovery." —Ketelbey, *A History of Modern Times from* 1789, p. 473.
2 डॉ. मथुरालाल वर्मा : यूरोप का इतिहास, पृ. 82C।
3 Ketelbey : *A History of Modern Times from* 1789, p. 473.
4 "His enemies were in the grave, or in prison, or in Labour Camps, opposition was silent." —*op. cit.*, p. 472.
5 "He was Chancellor and President, and from 1935 supreme chief of the Armed Forces, but he liked to be Known by the simple elastic title of Fuhrer." —C.D.M. Ketelbey, *A History of Modern Times from* 1789, p. 487.

करती थीं। जर्मन संघ के समस्त राज्यों की विधान सभाओं को भंग कर दिया गया। रीश्टाग केवल उसकी प्रतिनिधि मात्र बनकर रह गई।

हिटलर ने समस्य राजनैतिक पार्टियों को समाप्त कर दिया। वह कहा करता था, **"राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी ही राज्य है।"**[1] 14 जुलाई, 1933 ई. को केवल राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी को वैध माना है। नौकरी करने के लिए इसी दल की सदस्यता अनिवार्य कर दी गई।

इस प्रकार जर्मनी को पूर्ण रूप से एक व्यक्ति के हाथों सीमित कर दिया गया। वह व्यक्ति था हिटलर।

(3) **धार्मिक क्षेत्र**—हिटलर क्योंकि एक व्यक्ति के शासन पर विश्वास करता था, अतः धर्म के मामले में भी किसी दूसरी सत्ता का हस्तक्षेप वह स्वीकार नहीं कर सकता था। रोमन कैथोलिक रोम के पोप के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति रखते थे। हिटलर का विचार था कि जर्मनी के निवासी जर्मनी के वाहर की किसी सत्ता के आदेशों का पालन न करें। अतः उसने बाइबिल के आर्यन सन्दर्भ की नई व्याख्या की और कैथोलिकों पर अत्याचार किये। प्रोटेस्टेण्ट गिरजाघरों की व्यवस्था भी केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत निर्धारित कर दी गई। लुडविग मूलर नया अध्यक्ष घोषित किया गया जिसने जर्मन ईसाइत्व की कल्पना पर अधिक जोर दिया।

(4) **शिक्षा**—हिटलर का विचार था कि केवल जर्मन जाति को छोड़कर अन्य जातियां आर्य नहीं हैं। अतः उसने सभी सरकारी पदों, शिक्षालयों, विश्वविद्यालयों, आदि से गैर-आर्यन जाति के लोगों को पदच्युत कर दिया। जो लोग आर्य नहीं थे उन्हें किसी प्रकार की सुविधा स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों में न दी गई। पाठ्य-पुस्तकें नाजी दल के सिद्धान्तों एवं उसकी गाथा से पूरित की गईं। पाठ्य-विषयों का पाठ्यक्रम नाजी सिद्धान्तों के आधार पर बनाया गया। सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर कड़ी नजर रखी गई। **नाजी मानते थे कि सच्चा एवं सही इतिहास उसे कहा जायेगा जो कि रक्त एवं भूमि से सम्बन्धित हो।**[2] राइच कल्चर चैम्बर की स्थापना पत्रकारिता, रेडियो, संगीत, फिल्मों, साहित्य एवं कला पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए की गई।

(5) **आर्थिक क्षेत्र**—प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की हालत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त नाजुक हो चुकी थी और जिस तरीके से वार्साय की सन्धि लागू की गई थी, जर्मनी आर्थिक दृष्टि से पंगु हो चुका था। अतः हिटलर का प्रमुख उद्देश्य जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से समुन्नत बनाना था। उसने मई, 1934 ई. में एक नियम वनाकर हड़ताल, आदि पर रोक लगा दी। लेबर ट्रस्टी नामक संस्थाओं की स्थापना की गई जिससे श्रमिक वर्ग की समस्याओं को हल किया जा सके तथा उनके अधिकारों की रक्षा की जा सके। **बेकारी की समस्या दूर करने के लिए उसने स्त्रियों को चारदीवारी के अन्दर रहने का आदेश दिया।**[3] यहूदियों को देश से निकाल दिया गया। सेना की वृद्धि, लेबर कैम्प की स्थापनाएं, आदि उपायों से तत्काल लगभग 20 लाख बेकारों को रोजगार दिया।

जहां तक उद्योग-धन्धों का प्रश्न था, हिटलर चाहता था कि देश स्वावलम्बी बने। खेती को राज्य नियन्त्रण में ले लिया गया। जो चीजें जर्मनी की दैनिक आवश्यकता की थीं जिन्हें

1 The National Socialist Party in the State. —*Hitler*
2 "History is one of the numerous fallacies of liberalism.......the clue to German history is the growth of a nation from blood and soil." —*Kandel*
3 "The Place of a German women is her home." —*Hitler*

कि जर्मनी में उत्पादित नहीं किया जा सकता, हिटलर ने विदेशों को कच्चा माल देकर वे चीजें प्राप्त कर लीं। इस प्रकार जर्मनी ने अपना व्यापारिक क्षेत्र बढ़ा लिया। **जब हिटलर के शासन काल के पांचवें वर्ष में सरकारी आंकड़े बताये गये तो स्पष्ट हो गया कि सन् 1933 की अपेक्षा उद्योग द्वारा उत्पादन दुगना हो गया है।** फौलाद के उत्पादन में 56,50,000 टन से 2,00,00,000 टन की वृद्धि हो गई। इसी प्रकार काम में लगने वालों की संख्या भी 12,80,000 से 1,83,70,000 बढ़ गई।[1]

अन्ततः उसकी गृह-नीति के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि हिटलर ने देश के आत्माभिमान की वृद्धि की, किन्तु उसकी नीति ने विश्व में घृणा, भय एवं सन्देह का माहौल पैदा करके रख दिया।

हिटलर की विदेश नीति
(FOREIGN POLICY OF HITLER)

हिटलर ने अपनी विदेश-नीति के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' में की है। हिटलर ने अपना नारा **'वार्साय की सन्धि का नाश हो'** दिया था, स्पष्ट है कि हिटलर वार्साय की सन्धि की सम्पूर्ण व्यवस्था को कुचलना चाहता था। वह जर्मनी को एकसत्तात्मक राष्ट्र बनाना चाहता था। वह चाहता था कि जर्मनी विश्व की महान शक्ति बने। इसका मानना था कि जर्मनी को धुरी शक्ति बनाने के कार्य के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा है[2] और इस कार्य को वही कर सकता है।

हिटलर की विदेश नीति के सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में जब तक उसने जर्मनी का अच्छा-खासा सैन्यीकरण नहीं किया, तब तक उसने शान्ति समझौतों का नारा दिया और जब जर्मनी का सैन्यीकरण हो गया तो बल का पूर्ण प्रयोग कर समझौतों को ताक में रख दिया।[3]

(1) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा राष्ट्र संघ को छोड़ना—1932 ई. में जेनेवा में राष्ट्र संघ ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें 10 राष्ट्रों के 200 से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में हिटलर ने प्रस्ताव रखा कि अन्य देशों की तरह उसे भी शस्त्रीकरण का समान अधिकार दिया जाय अथवा सभी राष्ट्रों को जर्मनी के समान ही समान रूप से निःशस्त्रीकरण का पालन करना चाहिए। फ्रांस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। अतः हिटलर ने 14 अक्टूबर, 1933 ई. को निःशस्त्रीकरण सम्मेलन एवं राष्ट्र संघ से अलग होने का नोटिस दे दिया। नवम्बर 1933 में हुए जनमत संग्रह ने भी हिटलर के राष्ट्र संघ को छोड़ने का समर्थन किया।

(2) पोलैण्ड-जर्मन समझौता (23 जनवरी, 1934 ई.)—पोलैण्ड और जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्ध कुछ अच्छे नहीं थे, किन्तु दोनों की परिस्थितियों ने दोनों को समझौते के लिए प्रेरित किया। पोलैण्ड की स्थिति रूस एवं जर्मनी के मध्य थी। यदि रूस व जर्मनी में संघर्ष होता तो पोलैण्ड बीच में होने से पिस सकता था। दूसरा पोलैण्ड का मित्र फ्रांस उससे काफी दूर

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 385।
2 "He had a divine mission to make the Germans the dominant power in the world."
3 "Hitler's immediate foreign policy after getting into power in Germany was to throw dust in the eyes of leaders of foreign nations by talking of peace and to cover up his altimate objects until Germany was rearmed." —*Derry and Jarman*

था। अतः पोलैण्ड अपनी सुरक्षा के लिए कुछ परेशान था। इधर जर्मनी पोलैण्ड से समझौता कर यूरोप के राष्ट्रों को दिखाना चाहता था कि वह शान्ति का समर्थक है। यदि पोलैण्ड से मित्रता हो जाय तो वह अन्य शत्रुओं का सामना आसानी से कर सकता था। अतः हिटलर ने 23 जनवरी, 1934 ई. को पोलैण्ड के साथ 10 वर्ष के लिए **अनाक्रमण समझौता** (Non-aggression Pact) किया। **इस समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं :**

(i) जर्मनी ने यह आश्वासन दिया कि वह 10 वर्ष तक अपनी पूर्वी सीमाओं में परिवर्तन की मांग न उठायेगा जिसमें पोलिश गलियारा भी था।

(ii) दोनों देश एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे।

(3) **चार शक्तियों का समझौता** (1933 ई.)—अपने को शान्ति का दूत दर्शाने वाले हिटलर ने मुसोलिनी के प्रस्ताव पर 1933 ई. में इंगलैण्ड, फ्रांस व इटली के साथ शान्ति समझौता किया।

(4) **सार की प्राप्ति**—सार का क्षेत्र जो कि वार्साय की सन्धि के अनुसार 15 वर्षों के लिए राष्ट्र संघ के संरक्षण में था, जनमत संग्रह के पश्चात् जर्मनी को दिया गया। मतदान में कुल 5,00,000 मत पड़े जिसमें से 90% जर्मनी के पक्ष में थे। एक मार्च 1935 को यह क्षेत्र जर्मनी को दे दिया गया। इस घटना के विषय में कार ने लिखा है, "**अब जर्मनी की, जैसा कि हिटलर ने अनेक बार घोषित किया, पश्चिम में और अधिक क्षेत्रिक महत्वाकांक्षाएं नहीं रही थीं। वार्साय की सन्धि से भी जर्मनी को अब कोई और आशा नहीं थी।**"[1] अतः उसने वार्साय की सन्धि पर आक्रमण शुरू कर दिया, जिसका पहला प्रहार सैन्यीकरण पर था।

(5) **जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू करना**—वर्साय सन्धि की धाराओं को तोड़ते हुए हिटलर ने 16 मार्च, 1935 को जर्मनी में अनिवार्य सैन्य सेवा की घोषणा की। 16 मार्च, 1935 को उसने घोषणा की कि "जर्मनी अब अपने को वार्साय की सैन्य धाराओं से मुक्त मानता है। जर्मनी की शान्तिकालीन सैनिक संख्या 5,50,000 होगी और जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा लागू की जायेगी।"[2]

(6) **स्ट्रेसा सम्मेलन** (अप्रैल, 1935)—जर्मनी के द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा लागू कर दिये जाने की यूरोपीय देशों में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। यूरोपीय राष्ट्र चिन्तित हो उठे। अतः फ्रांस, इंगलैण्ड एवं इटली इन तीन राष्ट्रों का स्ट्रेसा में सम्मेलन हुआ जिसमें हिटलर के कार्य की निन्दा की गई, किन्तु स्ट्रेसा सम्मेलन का जर्मनी पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, क्योंकि अब तक जर्मनी इंगलैण्ड के साथ नौ-सैनिक वार्ता में संलग्न था।

(7) **इंगलैण्ड-जर्मन नौसेना समझौता** (जून, 1935)—हिटलर ने बड़ी सूझ-बूझ से इंगलैण्ड से नौसेना सम्बन्धी समझौता जून 1935 को किया। **इसके अनुसार :**

(i) जर्मनी को इंगलैण्ड की अपेक्षा 35 प्रतिशत नौसेना रखने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(ii) जर्मनी अपने पड़ोसियों के बरावर वायुसेना रख सकेगा। कार महोदय ने इस समझौते के विषय में लिखा है, "......**यह समझौता इतना असंगत लगता था कि फ्रांस, इटली और सोवियत संघ में इससे इतनी हैरानी हुई जितनी कि इंगलैण्ड द्वारा जेनेवा प्रस्ताव का प्रस्तोता**

1 ई. एच. कार, **दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**, 1919-1939, पृ. 188।
2 **वही**, पृ. 189।

बनने पर भी जर्मनी में नहीं हुई थी।"[1] हार्डी महोदय ने इसे इंगलैण्ड द्वारा जर्मनी के वार्साय सन्धि को तोड़े जाने का अनुमोदन माना है। कुछ भी हो इस सन्धि से वार्साय की सन्धि टूट गई। जर्मनी को बल मिला। स्ट्रेसा सम्मेलन बेकार सिद्ध हुआ। मैरियट ने लिखा है, "उस सहमति का (स्ट्रेसा सम्मेलन का) कुछ भी मूल्य रहा हो, उसमें जून 1935 में ब्रिटेन तथा जर्मनी की नाविक सन्धि ने एक घातक दरार डाल दी।[2]

(8) **राइन क्षेत्र का सैन्यीकरण** (7 मार्च, 1936)—वार्साय की सन्धि के अनुसार राइन का क्षेत्र विसैन्यीकृत घोषित कर दिया गया था। हिटलर इस क्षेत्र में सेनाएं भेजना चाहता था।1935 ई. में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया तो फ्रांस और इंगलैण्ड ने इटली के विरोध में आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये, किन्तु जर्मनी ने इटली की सहायता कर मुसोलिनी की मित्रता प्राप्त कर ली।

7 मार्च, 1936 ई. को हिटलर ने राइन क्षेत्र में अपनी सेनाएं भेज दी और राइनलैण्ड पर अधिकार कर लिया। इस सम्बन्ध में मैरियट ने लिखा है, "**.......यदि इंगलैण्ड और फ्रांस इस कार्य का विरोध करते तो हिटलर पीछे हट जाता। लोकार्नो के करार को घृणा के साथ फाड़ दिया गया, फ्रांस ने सोवियत रूस के साथ जो सन्धि (मई 1935 में) की थी, उसका डंक खींच लिया गया था।"**[3]

हिटलर के इस कार्य के दूरगामी परिणाम निकले। प्रथम तो फ्रांस की कमजोरी प्रदर्शित हो गई, फ्रांस के मित्रों ने उसका साथ छोड़ दिया। उदाहरण के लिए, बेल्जियम तटस्थ हो गया। द्वितीय, राष्ट्र संघ एवं वार्साय और लोकार्नो सन्धियों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया।

(9) **रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी की स्थापना**—अबीसीनिया पर किये गये मुसोलिनी के आक्रमण की हिटलर द्वारा सराहना ही नहीं की गई, बल्कि हिटलर ने इटली को आर्थिक सहायता भी प्रदान की थी। उसके इस कार्य ने मुसोलिनी को हिटलर के नजदीक ला दिया। 21 अक्टूबर, 1936 ई. को दोनों देशों के विदेश मन्त्रियों ने एक समझौता किया। **इसके अनुसार :**

(i) जर्मनी ने स्वीकार किया कि अबीसीनिया पर इटली का अधिकार न्यायोचित है।

(ii) इटली ने स्वीकार किया कि जर्मनी आस्ट्रिया पर अधिकार कर सकता है।

हिटलर ने इटली को तो अपनी ओर मिला लिया, किन्तु वह चाहता था कि यूरोप में कोई ऐसी शक्ति की मित्रता उसे और प्राप्त हो जाय जो कि रूस के विरोध में उसका साथ दे। हिटलर ने देखा कि जापान रूस का विरोधी है। अतः उसने 25 नवम्बर, 1936 ई. को रूस के खिलाफ जापान से सन्धि कर ली। यह सन्धि इतिहास में एण्टी कामिण्टर्न पैक्ट (Anti Comintern Pact) के नाम से जानी जाती, किन्तु इस पैक्ट ने शीघ्र ही **रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी** (Roman-Berlin Tokyo Axis) का रूप धारण कर लिया।[4] कहने का तात्पर्य है कि एण्टी कामिण्टर्न पैक्ट को इटली ने भी स्वीकार कर लिया। कैटलबी ने सत्य ही लिखा है,

---

1 वही, पृ. 191।

2 मैरियट, आधुनिक इंगलैण्ड का इतिहास, पृ. 511।

3 वही, पृ. 512।

4 इसके विषय में मुसोलिनी ने कहा था :
"An axis around which can revolve all those European States with a will to collaboration and peace."
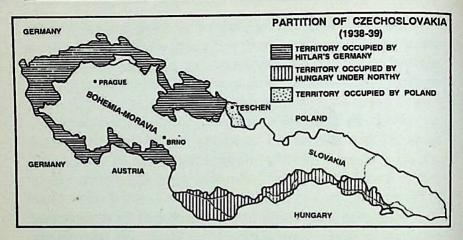
"यहीं से नाजियों की प्रगति बढ़ती गई। उनकी, भूख, क्षमता और दृढ़ता की कोई सीमा न रही। यूरोप के राष्ट्र दो धुरी में बंट गये। एक ओर इंगलैण्ड, फ्रांस एवं रूस हो गये तो दूसरी ओर जर्मनी इटली और जापान।"

(10) आस्ट्रिया पर अधिकार—सत्ता संभालते ही हिटलर का एक मुख्य उद्देश्य आस्ट्रिया पर अधिकार करना रहा था। 1934 ई. में हिटलर के द्वारा आस्ट्रिया को हड़पने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इटली के द्वारा ब्रेनर दर्रे पर सेना भेज दिये जाने के कारण हिटलर को अपने अभियान में सफलता न मिली। मुसोलिनी के इस तरह आड़े आने से हिटलर समझ गया कि अपनें इस अभियान की सफलता के लिए इटली की मित्रता आवश्यक है। इसी कारण उसने इटली द्वारा अबीसीनिया को हड़पने का स्वागत किया। **रोग-बर्लिन-टोक्यो धुरी ने दोनों की मित्रता गाढ़ी कर दी।** 13 मार्च, 1938 को हिटलर की फौजें आस्ट्रिया में घुस गईं और आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य का एक प्रान्त निर्विरोध घोषित कर दिया गया। डॉ. शुस्निमा ने इस विषय में कहा था, "हमें जबरदस्ती के आगे समर्पण करना पड़ रहा है, ईश्वर ही आस्ट्रिया की रक्षा कर सकता है।"[1] इस प्रकार आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने से हिटलर ब्रेनर दर्रे से इटली, यूगोस्लाविया एवं हंगरी के साथ सम्बन्ध स्थापित बेरोकटोक कर सका। इसीलिए हिटलर ने कहा था कि जर्मनी विजय की घड़ी से गुजर रहा है।[2]

(11) चैकोस्लोवाकिया को हस्तगत करना—आस्ट्रिया पर विजय प्राप्त कर लेने से हिटलर चैकोस्लोवाकिया को आसानी से हस्तगत कर सकता था। चैकोस्लोवाकिया में एक करोड़ पचास लाख नागरिकों में से 16 प्रतिशत स्लोवाक्स, 50 प्रतिशत चैक्स, 22 प्रतिशत जर्मन, 4 प्रतिशत हंगेरियन और 4 प्रतिशत रूमानियन थे, चैक्स लोगों का सरकारी पदों पर अधिक प्रभाव था। अतः गैर-चैक्स जातियां चाहती थीं कि सरकारी पदों पर उनका अनुपात भी बराबर का हो। हंगेरियन हंगरी में मिलना चाहते थे। जर्मन चाहते थे कि सीमान्त प्रदेशों को जर्मनी में मिला दिया जाय। स्लाव स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। अवसर का लाभ उठाकर हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया में रहने वाले जर्मनों को विद्रोह के लिए भड़काया, स्वेडटन जर्मन संघ पूर्ण

1 **"We have yielded to force. God Proctect Austria."** —*Schuschingg*
2 **"All Germany is living through the hour of victory—Seventy four millions in one united Reich. No threats, no hardships, no force can make us break our oath to be united for ever."** —*Hitler*

स्वराज्य की मांग करने लगा। इधर हिटलर स्वेडटन जर्मन संघ की मदद करने लगा। चैकोस्लोवाकिया और जर्मनी के बीच युद्ध का वातावरण पैदा हो गया, **परन्तु इंगलैण्ड ने हस्तक्षेप करके एक समझौता कराया जो कि म्यूनिख समझौता कहलाता है। इसके अनुसार :**

(i) स्युडेटनलैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया।
(ii) इंगलैण्ड व फ्रांस ने चैकोस्लोवाकिया की नई सीमाओं की रक्षा का आश्वासन दिया।
(iii) हिटलर ने स्वीकार किया कि वह अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान करेगा।
(iv) हिटलर ने वचन दिया कि स्युडेटनलैण्ड यूरोप में उसका अन्तिम सीमा विस्तार है।

म्यूनिख समझौते के विषय में शूमेन ने लिखा है, **"म्यूनिख समझौता शान्ति स्थापित करने की नीति की चरम सीमा, पश्चिमी प्रजातन्त्र व्यवस्था के लिए मौत का आह्वान एवं मिलकर सुरक्षा की भावना की व्यवस्था के अन्त का प्रतीक था।"**[1]

म्यूनिख समझौता वास्तव में हिटलर की प्यास को और बढ़ाने के समान था। हिटलर की प्यास इतने से ही न बुझी। उसने तुरन्त स्लोवाकों को भी इस आशय से उत्साहित करवाया कि वे स्वतन्त्र राज्य की मांग करें। उसने स्लोवाकों का मन्त्रिमण्डल भी बनवा डाला। यहां तक चैक राष्ट्रपति डॉ. हाशा को अन्ततः विवश किया कि वह चैकोस्लोवाकिया को जर्मनी में मिलाने के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने को विवश हो गया। हिटलर ने यह कार्य सैन्य-वल के आधार पर किया। इंगलैण्ड और फ्रांस ने समझ लिया था कि यह उनकी पराजय है और जर्मन की जीत।[2]

(12) **हिटलर द्वारा मेमल पर अधिकार**—हिटलर ने इसी बीच सैन्यबल से लिथुआनिया को डराकर मेमल के बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया।

(13) **रूस से सन्धि**—हिटलर पूर्वी यूरोप तथा मध्य यूरोप में अधिकार का इच्छुक था। इधर मित्रराष्ट्र उसके मेमल पर अधिकार से सतर्क हो चुके थे। स्पष्ट था कि हिटलर का अगला निशाना पोलैण्ड ही था। हिटलर ने परिस्थिति का अवलोकन कर तुरन्त अगस्त 1939 को रूस का अनाक्रमण समझौता कर लिया। **इसी शर्तों के अनुसार :**

(i) दोनों एक दूसरे के मित्र रहेंगे।
(ii) पोलैण्ड को जर्मनी एवं रूस में बांटा जायेगा।
(iii) रूस जर्मनी को युद्ध सामग्री एवं खाद्य सामग्री देगा।
(iv) वाल्टिक राज्यों में रूस की स्वतन्त्रता घोषित की गई। इस समझौते की आलोचना की गई, किन्तु इतना निश्चित था कि फ्रांस व इंगलैण्ड की गलत नीतियों, के कारण ही रूस ने यह व्यावहारिक कदम उठाया था।[3] इस प्रकार हिटलर ने एक निर्णायक सन्धि कर अपना पलड़ा भारी कर लिया और पोलैण्ड पर आक्रमण

---

1 "The Munich Pact was the culmination of appeasement and warrant of death for the Western Democracies. It was the symbol of collapse of the system of collective security." —*Schuman.*

2 "England and France had suffered a major, diplomatic defeat, Hiter was triumphant." —*Derry and Jarman*

3 "This agreement is not an indication of Russia's cunningness but is a practical step taken by it to ensure its defence." —*Hazen*

करने की तैयारी में जुट गया जिसकी पृष्ठभूमि उसने पोलैण्ड से डांजिंग मांगकर इस समझौते से पूर्व ही डाल दी थी।

पौलेण्ड पर आक्रमण—हिटलर की मांग से स्पष्ट था कि वह पोलैण्ड को भी हड़पना चाहता है, क्योंकि डांजिंग पर अधिकार करके वह आसानी से पूर्वी पोलैण्ड, जर्मनी और समुद्र का सीधा सम्बन्ध कर सकता था। उसने 1934 ई. का समझौता रद्द करने की घोषणा की। जर्मनी को रूस के साथ की गई सन्धि ने साहस प्रदान कर ही दिया था। **अतः हिटलर ने पोलिश सरकार पर यह आरोप लगाकर कि पोल जर्मनों के साथ अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते हैं, एक सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण करके द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दे डाला।**
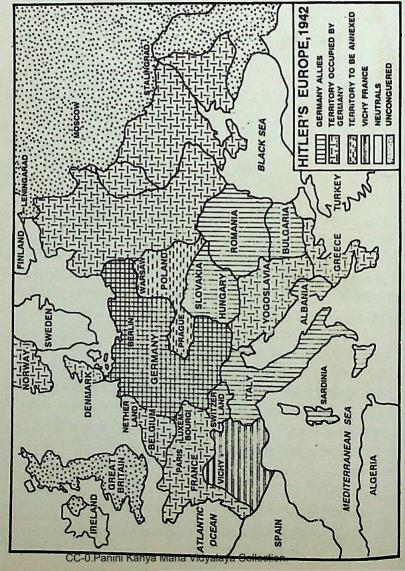
हिटलर या नाजी दल के उत्कर्ष के कारण
(CAUSES OF THE RISE OF HITLER/NAZI PARTY)

हिटलर ने तानाशाही शासन की स्थापना की। उसने सत्ता को रक्तपात के जरिए काबू में रखा। फिर भी उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और नाजी दल का दिन-प्रतिदिन उत्कर्ष होता चला गया। हिटलर को दिन-प्रतिदिन सफलताएं मिलती गईं। **उसकी सफलता (अथवा नाजी दल) के निम्न कारण थे :**

(अ) वर्साय की सन्धि—हिटलर के उदय या उत्कर्ष के कारणों का मूल्यांकन करते समय सर्वप्रथम ध्यान वार्साय की सन्धि पर जाता है। हार्डी एवं लिप्सन[1] जैसे विद्वान मानते हैं कि यदि हिटलर या नाजी दल का उत्कर्ष वार्साय सन्धि का परिणाम होता तो उसका उदय सन्धि के 3 या 4 वर्ष पश्चात् ही हो जाता। 14 वर्ष के पश्चात् हिटलर के उत्कर्ष के लिए वार्साय की सन्धि को कारण बनाना उचित नहीं है। 1927 ई. में जर्मनी को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान कर दी गई थी। 1930 ई. में विदेशी सेना जर्मनी से हटा ली गई थी। डावेस यंग प्लान और लोजान सम्मेलन के अन्तर्गत जर्मनी की क्षतिपूर्ति की राशि कम कर दी गई थी।

परन्तु यह कह देना कि हिटलर के उत्कर्ष के लिए वार्साय की सन्धि बिल्कुल उत्तरदायी नहीं थी। तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार फ्रांस 1871 ई. की फ्रैंकफोर्ट की सन्धि को लम्बे अरसे तक भुला नहीं सका, उसी प्रकार जर्मन भी वार्साय की सन्धि की अपमानजनक शर्तों को भूल नहीं पाये थे। रूर प्रदेश पर फ्रांस तथा बेल्जियम का अधिकार उन्हें अभी भी अखर रहा था। केवल जर्मनी के लिए निःशस्त्रीकरण उन्हें अखर रहा था। जर्मनी का युवा वर्ग बिस्मार्क सदृश वीरों के लिए आहें भर रहा था। वे अपने अतीत गौरव की कल्पना किया करते थे। ऐसे समय हिटलर ने नारा दिया, "**वार्साय की सन्धि का अन्त हो।**" उसने अपना उद्देश्य वार्साय की सन्धि की व्यवस्था को भंग करना बताया, जर्मन जनता जो कि एक बार निराश हो चुकी थी, पुनः हिटलर की ओर आशा की नजरों से निहारने लगी। उनकी सुप्त भावनाएं प्रज्ज्वलित हो उठीं, जर्मन जनता ने हिटलर के 'हम पुनः हथियार रखेंगे' इस नारे को सहर्ष स्वीकार किया।

(ब) आर्थिक कारण—हिटलर के उत्कर्ष में आर्थिक संकट ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1930 में हुए भयंकर आर्थिक संकट का सर्वाधिक प्रभाव जर्मनी पर ही पड़ा। सीमा कर संघ की योजना असफल हो जाने पर कर्टियस ने अवकाश ले लिया। चांसलर ब्रूनिंग के पदभार संभालते ही वार्साय सन्धि के विरुद्ध नात्सियों ने जोर-शोर से प्रचार एवं प्रसार शुरू कर दिया।[2] डेरी एवं जारमेन के शब्दों में, "**बुरी तरह अस्त-व्यस्त हुई आर्थिक स्थिति की प्रत्येक स्थान पर आलोचना की जा रही थी। प्रत्येक जगह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा गणतन्त्र कमजोर पड़ चुका था। जनता नई व्यवस्था तथा नये नेता को चाहती थी।**[3] जून 1931 तक जर्मनी के किसान लगभग तीन अरब डालर के ऋण के भार से दबे थे। हिटलर ने कृषकों को ऋण का आश्वासन

1 Lipson : *Europe in the 19th and the 20th Centuries.*
2 ई. एच. कार, दो विश्वयुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।
3 "Ever where there was fundamental criticism of an economic system which had broken down so disastrously every where people began to look to new men and new methods." —*Derry and Jarman.*

दिया। छोटे व्यापारियों को बड़े स्टोर्स के राष्ट्रीयकरण की बात कही गई। बड़े पूंजीपति समाजवाद से घबराकर उसका समर्थन कर रहे थे। इस प्रकार हिटलर ने 1930 के आर्थिक संकट का पूर्ण लाभ उठाया।

(स) गणतन्त्र के प्रति जनता का रोष—जर्मनी में गणतन्त्र का उदय वार्साय की सन्धि का परिणाम था। वाइमर गणतन्त्र का वार्साय की सन्धि से जुड़ा होना उसके पतन एवं नाजीवाद के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हुआ। वाइमर गणतन्त्र ने ही वार्साय की अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे। गणतन्त्र की विदेश नीति पूर्णतया असफल रही। डेंजिंग एवं पोलिश गलियारे की प्राप्ति, आस्ट्रिया के साथ एकीकरण, उपनिवेशों की प्राप्ति तथा सैन्यीकरण के प्रश्नों में उसे पूर्ण असफलता मिली, जिससे उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा और जर्मनी की जनता ने गणतन्त्र शासन का विरोध किया। जनता प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की असफलता देख रही थी। जर्मन जनता की भावना का पूर्ण लाभ हिटलर ने उठाया।

(द) हिटलर का व्यक्तित्व एवं उसका प्रचार—नाजी दल के उत्कर्ष में हिटलर का स्वयं का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण था। उसका व्यक्तित्व विभिन्न विशेषताओं से युक्त था। हार्डी ने लिखा है, **"उसमें आश्चर्यजनक प्रतिभा थी।"**[1] वह प्रतिभाशाली वक्ता था। वह अपने भाषणों से जर्मन जनता को अपने उद्देश्यों को समझकर अपने विचारों को प्रस्तुत करता था। वेन्स ने इस सन्दर्भ में लिखा भी है, **"हिटलर में एक मनोवैज्ञानिक, कुशल नेता, उत्तम अभिनेता एवं प्रवीण संगठनकर्ता के गुण विद्यमान थे।"** उसने जिस प्रकार पार्टी का संगठन किया, उससे उसकी पार्टी में नवीनता आ गई।

हिटलर का प्रचार कार्य अपने आप में आकर्षक एवं अद्भुत था। कैटलबी के अनुसार, **"नाजियों के सामने आई प्रत्येक समस्या का समाधान आवश्यकतानुसार होता था।"**[2] उसके प्रधानमन्त्री गोबल्स का विचार था, "झूठी बात को इतना दोहराओ कि वह सत्य का रूप धारण कर ले।" युद्ध के पश्चात् जर्मनी में बेरोजगारी अत्यधिक बढ़ गई थी। हिटलर ने रोजगार प्रदान करना अपना नारा दिया और युवा वर्ग का समर्थन प्राप्त कर लिया। शस्त्रीकरण के उसके प्रचार ने सैनिकों का समर्थन उसे दिया। उसने लोकतन्त्र का चिल्ला-चिल्लाकर जनाजा निकाला। उसने कहा, **"प्रजातन्त्र पागलों, डरपोक तथा भूखे लोगों की व्यवस्था है।**[3] इस प्रकार कैटलबी के शब्दों में कहा जा सकता है, **"जर्मनी के वृद्ध वर्ग ने बड़ी असमंजस में, युवा वर्ग ने उत्साह से उसे अपना नेता इस प्रकार स्वीकार किया कि वे उसकी अनर्गल बातों का शिकार हो गये।"**[4]

इस प्रकार कहा जा सकता है, **"भाषण, विज्ञापन, झण्डे, गीत, वर्दियां, आयोजन, अनुशासन, ऐतिहासिक परम्पराएं, जातीय अभिमान के सिद्धान्त, उत्साह और हिटलर का व्यक्तित्व**

1 Gathorne Hardy : *A Short History of International Affairs*, p. 358.
2 "The approach to each problem was tactical."
—Ketelbey, *A History of Modern Times From* 1789, p. 473.
3 डॉ. मथुरालाल वर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 770।
4 "In this scarcely credible story not the least incredible feature in that the German people should have come to accept, and follow this rule—the old certainly with misgiving and doubt, but the young with enthusiasm."
—Ketelbey, *A History of Modern Times From* 1789, p. 473.

आदि ने लाखों जर्मन निवासियों को मूल्य की बढ़ोत्तरी और विदेशी आतंक की तुलना में नाजियों का अन्ध भक्त बना दिया।"

फासीवाद और नाजीवाद में अन्तर
(DIFFERENCE BETWEEN FASCISM AND NAZISM)

फासीवाद व नाजीवाद में अनेक समानताएं थीं, क्योंकि नाजीवाद की उत्पत्ति भी फासीवाद से ही हुई थी। **दोनों में निम्न समानताएं थीं :**

(i) दोनों के सिद्धान्त एक समान थे।
(ii) दोनों राष्ट्र/राज्य को सर्वोपरि मानते थे।
(iii) दोनों हिंसा व युद्ध में विश्वास रखते थे।
(iv) दोनों तानाशाही व सैनिक राज्य के समर्थक थे।

एक समान होते हुए भी **दोनों में कुछ अन्तर थे :**

(i) नाजी रक्त की शुद्धता पर बल देते थे, फासीवादी नहीं।
(ii) फासीवादी चर्च को मानते थे, नाजी नहीं।
(iii) फासीवादी नाजियों की तुलना में अधिक नैतिकतावादी थे।
(iv) फासीवादी अपने तानाशाह को **ड्यूस** (Duce) व नाजी **फ्यूहरर** (Fuhrer) कहते थे।

प्रश्न

1. हिटलर के प्रारम्भिक जीवन व उसकी उन्नति के कारणों पर प्रकाश डालिए। (गोरखपुर, 1990, 92, 96)
2. नाजीवाद से आप क्या समझते हैं? जर्मनी में नाजीवाद के उदय के कारणों का वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
3. जर्मनी में हिटलर के उत्थान पर एक लेख लिखिए। (पूर्वांचल, 1990)
4. हिटलर की वैदेशिक नीति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, 1989, 91, 93; पूर्वांचल, 91; लखनऊ, 92, 94)
5. जर्मनी के गणतन्त्र को किन समस्याओं का सामना करना पड़ा? वर्णन कीजिए।

7

1917 ई. की क्रान्ति के पश्चात् रूस
[RUSSIA AFTER THE REVOLUTION OF 1917]

क्रान्ति का अर्थ
(MEANING OF REVOLUTION)

किसी भी व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन क्रान्ति कहलाता है। किसी भी देश में होने वाली क्रान्ति के बीज उस देश की जनता की स्थिति और मनोदशा में निहित रहते हैं। असन्तोष को जन्म देने वाली भौतिक परिस्थितियां क्रान्ति हेतु आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। ऐसी स्थिति में जब सरकार के लिए पुरानी लीक पर चलना कठिन हो जाता है और वह सफल सुधार योजना द्वारा समयानुकूल नया पथ खोजने में असमर्थ हो जाती है तो देश में क्रान्ति का होना स्वाभाविक हो जाता है।

अठारहवीं से बीसवीं सदी तक का यूरोप का इतिहास क्रान्तियों से भरा है। यूरोप के लगभग सभी देश क्रान्ति से अछूते न रहे था। रूस भी इसका अपवाद नहीं रहा। **रूस में 1917 ई. की समाजवादी क्रान्ति हुई जो कि यूरोप के इतिहास की ही नहीं, अपितु विश्व-इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी।** इसने रूस को ही नहीं, अपितु संसार के समस्त देशों को प्रभावित किया।

रूसी क्रान्ति के दो चरण
(TWO PHASES OF THE RUSSIAN REVOLUTION)

1917 में रूस की दो क्रान्तियां हुईं। एक **'मार्च की क्रान्ति'** कही जाती है और दूसरी **'नवम्बर की क्रान्ति'**, परन्तु यदि यह कहा जाय कि ये दोनों क्रान्तियां एक ही क्रान्ति के दो दौर या दो अध्याय थे तो अनुचित न होगा। वास्तव में, मार्च की क्रान्ति का स्वरूप राजनीतिक और नवम्बर की क्रान्ति का सामाजिक दौर था।

रूसी क्रान्ति के कारण
(CAUSES OF THE RUSSIAN REVOLUTION)

क्रान्ति एक छोटे-से समय का परिणाम नहीं होती, वरन् इसके पीछे लम्बे समयं से चले आ रहे कुछ आधारभूत मौलिक कारण होते हैं। रूस में भी वस्तुतः क्रान्ति के लक्षण 1905 से ही दृष्टिगोचर हो रहे थे, किन्तु जारशाही की निरंकुशता उन्हें दबाने में सफल रही। जहां एक ओर जार निकोलस ने प्रारम्भ में शासन सम्बन्धी सुधारों की घोषणा की और ड्यूमा की स्थापना का वचन देकर स्थिति को काबू में रखा, वहीं बाद में प्रतिक्रियावादी शासन लागू

कर जनता को क्रोधित कर दिया। समय आने पर यह क्रोध 1917 की महान क्रान्ति के रूप में प्रकट हुआ, जिसने रूस ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को अपनी ज्वाला से प्रभावित किया। संक्षेप में **रूसी क्रान्ति के निम्न कारण थे :**

(1) **निरंकुश राजतन्त्र (Autocratic Monarchy)**—रूस के शासक (जार) निरंकुशता के पक्षपाती थे। वे दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। जार एलेक्जेण्डर प्रथम एवं निकोलस प्रथम ने प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी नीतियों का मार्ग अपनाया। जार एलेक्जेण्डर II सुधार योजना का पक्षपाती था, किन्तु उसके द्वारा किये गये न्यायिक एवं स्थानीय शासन सम्बन्धी सुधारों का सामन्तों व जमींदारों ने विरोध किया। दूसरी ओर जनता उसके द्वारा किये गये सुधारों के कारण संवैधानिक सुधारों की आशा करने लगी, किन्तु जनता की आशा पर पानी फिर गया क्योंकि जार पुनः निरंकुश हो चुका था। निहिलिस्ट आन्दोलन का दमन कर दिया। जार निकोलस I की हत्या के बाद एजेक्जेण्डर III और फिर उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र निकोलस II रूढ़िवादिता के कट्टर समर्थक थे। जार निकोलस II के समय हुए रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय से जनता उखड़ चुकी थी और रूस क्रान्ति के दौर पर था। स्थिति पर नियन्त्रण करने के लिए निकोलस ने कुछ सुधार किये, किन्तु बाद में वह पुनः निरंकुश हो गया। **हेजन ने लिखा है "कई मास तक विवाद, प्रकाशन (प्रेस) और भाषण की असाधारण स्वतन्त्रता रही जो बीच-बीच में जब-तब अधिकारियों द्वारा समाप्त कर दी जाती थी, परन्तु वह समाप्ति उसकी केवल पुनः स्थापना के लिए होती थी।**[1]

जारशाही की निरंकुशता इतनी बढ़ गई थी कि 1905 में परिस्थिति को संभालने के लिए जार निकोलस ने ड्यूमा की स्थापना करने की घोषणा यह कहकर की थी कि ड्यूमा के सदस्य जनता द्वारा चुने जायेंगे और उसी की स्वीकृति से कानूनों का निर्माण होगा, विद्रोह के शान्त हो जाने पर ड्यूमा को संसद का प्रथम सदन माना गया। हेजन के अनुसार, **ड्यूमा जो कि विधि निर्मात्री संस्था होनी थी तथा जिसको राज्याधिकारियों की देखभाल का अधिकार प्राप्त होना था, परन्तु इसके अधिवेशन आरम्भ होने के पूर्व ही इसके पर काट दिये गये।"**[2] साम्राज्य परिषद् नामक दूसरे सदन का निर्माण किया गया। प्रथम ड्यूमा को जुलाई 1906 और द्वितीय ड्यूमा को जून 1907 में भंग कर दिया गया। मताधिकार सीमित कर दिया गया। निर्वाचन विधि में परिवर्तन करते हुए लगभग 1,30,000 भूमिपतियों को अधिकांश सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया। **हेजन ने लिखा है,** "अब तक प्रदान की गई सांविधानिक स्वतन्त्रताओं का यह भी गम्भीर अतिक्रमण था, क्योंकि इन स्वतन्त्रताओं में इस बात का वचन दिया गया था कि ड्यूमा की सहमति के बिना निर्वाचन विधि में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।[3] परिणामस्वरूप तृतीय ड्यूमा में प्रतिक्रियावादी बड़े जमींदार चुने गये। अतः ड्यूमा नाममात्र की प्रतिनिधि संस्था रह गई।

(2) **कृषकों की स्थिति (Condition of Peasants)**—औद्योगिक दौड़ में रूस यूरोप के प्रमुख राज्यों की तुलना में काफी पीछे था। रूस अभी तक कृषि-प्रधान देश था, किन्तु कृषि-प्रधान देश होते हुए भी किसानों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। दूसरे शब्दों में, किसानों

1 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 506।
2 वही, पृ. 508।
3 वही, पृ. 510।

को कृषि-दास की संज्ञा दी गई। उनकी स्थिति अर्द्धदासों की तरह थी। किसानों पर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। फलतः 1902 में पोल्टावा और हारकोव के कृषक-विद्रोह हुए। 1905 में किसानों ने अनेक स्थानों पर दंगे भी किये। फलतः 1906 और 1910 में कुछ भूमि सम्बन्धी सुधार हुए, परन्तु ये भूमिहीनों की समस्या को सुलझा न सके। ड्यूमा के कैडट दल का विसम्पत्तिकरण का सुझाव शासन द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। लेनिन ने कृषकों को समझाया कि, **"हमें संसदीय गणतन्त्र की आवश्यकता नहीं है। हमें मध्यवर्गीय जनतन्त्र नहीं चाहिए। हमें मजदूरों, कृषकों एवं सैनिकों के द्वारा संगठित सरकार के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की सरकार नहीं चाहिए।"**

(3) **मजदूर वर्ग व पूंजीवाद** (Labours and the Capitalism)—जार एलेक्जैण्डर के समय से रूस में औद्योगीकरण की गति तीव्र हो गई थी। औद्योगिक संस्थानों के मालिक धनाढ्य व्यक्ति थे। इससे पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिला। **पूंजीवाद का मुख्य उद्देश्य 'काम अधिक वेतन कम' रहा है।** अतः श्रमिक वर्ग से अधिक से अधिक काम लिया जाता था और कम से कम वेतन दिया जाता था। भूमिहीन किसान रोजगार की खोज में औद्योगिक संस्थानों की ओर मुड़ रहे थे। इससे पूंजीपतियों को पूर्ण मनमानी का अवसर प्राप्त हुआ। श्रमिक गन्दी व तंग गलियों में रहते थे। वे कोई मजदूर संघ नहीं बना सकते थे। शासन हर सम्भव उद्योगपतियों का साथ दे रहा था। परिणामस्वरूप श्रमिकों पर समाजवादी सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। श्रमिकों ने 1905 में तो सैण्टपीटर्सबर्ग में श्रमिकों की सोवियत तक बना डाली। फिशर के अनुसार, **"इस साम्यवादी प्रचार ने देश के श्रमिकों में जारशाही के प्रति घोर असन्तोष एवं घृणा उत्पन्न कर दी, जिसके कारण लोग जार के शासन का अन्त करने के लिए क्रान्तिकारियों का साथ देने लगे।"**[1]

(4) **अल्पसंख्यकों का विद्रोह** (Revolt of the Minorities)—**रूस में यहूदी, पाल, फिन और अल्पसंख्यक जातियां निवास करती थीं।** ये सभी जातियां रूसी साम्राज्य के अधीन थीं और पराधीनता का अनुभव करती थीं। जार इन जातियों का रूसीकरण करना चाहता था। शिक्षा का माध्यम रूसी भाषा कर दिया गया। उच्च पदों पर रूसी नियुक्त किये गये। रूसी प्रशासन ने अल्पसंख्यक जातियों की राष्ट्रीय भावनाओं का दमन करने का प्रयत्न किया। यहूदियों व आर्मेनियनों पर भीषण अत्याचार किये गये। 1905 में जार्जिया, पोलैण्ड और वाल्टिक प्रान्तों में विद्रोह हुए। इन्हें जिस तरह कुचला गया, ये सभी निरंकुश शासन के अन्त करने के पक्षपाती हो गये।

(5) **प्रबुद्ध वर्ग का प्रभाव** (Impact of the Intellectuals)—**टालस्टाय, वास्तोविस्की, तुर्गनेव, मैक्जिम गोर्की, मार्क्स और वाकुनिन के विचारों ने रूसी जनता को अत्यधिक प्रभावित किया।** इनके विचारों ने रूसी जनता में बौद्धिक विप्लव पैदा कर दिया और रूसी जनता समाजवादी विचारों से प्रभावित हुई। वह निरंकुशता की समाप्ति चाहने लगी। जार ने साम्यवादी विचारों के देश में आगमन पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न भी किया, किन्तु उसे सफलता प्राप्त न हो सकी।

(6) **यूरोपीय लोकतन्त्रों का प्रभाव** (Impact of the Democratic Countries of Europe)—प्रथम विश्व-युद्ध में रूस इंगलैण्ड तथा फ्रांस की ओर से लड़ा। **इंगलैण्ड और फ्रांस**

1 H. A. L. Fisher, *A History of Europe*, p. 1209.

का युद्ध का नारा राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र की रक्षा करना था। वे इसी के लिए लड़ रहे थे। उनके इस प्रचार का रूस पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूसी जनता ने देखा कि जब रूसी सेना राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के लिए लड़ रही है तो देश में निरंकुशता क्यों है? अतः वह देश में लोकतन्त्र की स्थापना की आकांक्षा करने लगी।

(7) समाजवाद का विकास एवं बोल्शेविक दल के प्रचार का प्रभाव (Growth of Socialism)—कृषकों की दयनीय स्थिति ने, सामान्य जनता की अभावग्रस्त परिस्थितियों ने रूस में समाजवादी प्रवृत्ति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। समाजवादी विचारों से प्रभावित होकर रूस में आन्दोलन चलाया गया जिसे बासेदनिकी कहा जाता था। आन्दोलनकारियों ने अपना आन्दोलन कृषकों की भूमिहीनता के विरुद्ध किया था। 1903 में समाजवादी लोकतन्त्र—बोल्शेविक और मैन्शेविक दो दलों में विभक्त हो गया। **प्रथम का नेतृत्व लेनिन ने किया।** लेनिन सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व रूस में चाहता था, जबकि दूसरा दल अन्य वर्गों का सहयोग प्राप्त कर जनतन्त्र का पक्षपाती था, परन्तु जारशाही का अन्त इन दोनों का उद्देश्य था। **अतः दोनों ने रूसी जनता को जारों के विरुद्ध शासन सुधारों के लिए प्रेरित किया।**

(8) जार निकोलस II का व्यक्तित्व एवं भ्रष्ट शासन (Corrupt Rule of Zar Nicholas II)—फिशर के अनुसार, "रूस का जार निकोलस द्वितीय बड़ा अन्धविश्वासी था और अयोग्य था। वह दुर्बल और हठी स्वभाव का मन्दबुद्धि था, जिसमें घटनाओं के महत्व और व्यक्तियों के चरित्र को समझने की शक्ति नहीं थी।[1] **उस पर महारानी अलैक्जैण्ड्रा का विशेष प्रभाव था। वह स्वेच्छाचारी शासन की पक्षपाती थी। जारीना रासपुटिन नामक साधु के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी।**"[2] रासपुटिन ने अपने व्यापक प्रभाव का लाभ उठाकर प्रशासन में हस्तक्षेप शुरू कर दिया। उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं पदच्युति रासपुटिन के हाथ में आश्रित हो गई। इससे प्रशासन में बड़ी गड़बड़ी फैल गई। फलतः राजदरबार में रासपुटिन के विरोध में एक दल बन गया, जिसने दिसम्बर, 1916 में रासपुटिन की हत्या कर दी। जार इससे अत्यन्त दुःखी हुआ उसने हत्यारों का पता लगाने के आदेश दिये, जिससे सम्पूर्ण दरबारी भी रुष्ट हो गये और वे भी उसके विरोधी बन गये।

(9) प्रथम महायुद्ध में रूस का प्रवेश एवं आर्थिक संकट (First World War and the Economic Crisis)—अगस्त, 1914 में प्रारम्भ हुए प्रथम विश्व-युद्ध में रूस ने मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ना स्वीकार किया। इसी समय संसद के लगभग सभी सदस्यों ने इसे स्वीकार भी किया, परन्तु जार व जारीना की विवेकहीनता, युद्ध कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप एवं कर्तव्यहीनता ने सेना के मनोबल को गिरा दिया। सैनिक युद्ध लड़ने गये, परन्तु उनके पास युद्ध सामग्री का अभाव रहा। युद्ध के प्रारम्भिक दो वर्षों में रूस को घोर पराजय का मुंह देखना पड़ा।

इधर वाल्टिक सागर एवं काले सागर के बन्द हो जाने से रूस पश्चिमी संसार से बिल्कुल अलग-थलग पड़ गया। फलस्वरूप अनाज का अभाव हो गया। महंगाई बढ़ गई।

1 "Nicholas was not the man of ride the storm. Like Louis XVI, he not for private rather than for public life." —Fisher, *A History of Europe*, pp. 1209-1210.

2 "In the choice of these blind and desperate expendients he was influenced by his tragic and melancholy wife, whose infltuation for Rasputin." —*op. cit.*, p. 1210.

कीमतें आकाश छूने लगीं और 1917 तक निर्वाह व्यय 1914 की तुलना में लगभग 700 गुना बढ़ गया।[1] **डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है,** "रूस में अनाज, कपड़े और ईंधन के मूल्य इतने अधिक बढ़ गये थे कि निर्धन लोगों के लिए उन्हें खरीद पाना कठिन हो गया। लोग यह समझते थे कि रूस में सब वस्तुएं प्रचुर मात्रा में हैं और पूंजीपतियों ने उन्हें अपने कब्जे में कर लिया है।[2] **इसी प्रकार लिप्सन ने लिखा है,** "क्रान्ति का तात्कालिक कारण खाद्य सामग्री की कमी पर जनता का असन्तोष था। डबलरोटी खरीदने के लिए लोगों की लम्बी कतारें लगने लगीं, जिनके कारण हड़तालें और उपद्रव होने लगे और उन्होंने अचानक ही युद्ध के और राजतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह का रूप धारण कर लिया।[3]

मार्च, 1917 की क्रान्ति
(REVOLUTION OF MARCH, 1817)

मार्च, 1917 में रूस की राजधानी पेट्रोगाड में क्रान्ति अप्रत्याशित रूप से हो गई। फिशर ने लिखा है, "**क्रान्ति जो बहुत पहले से घुमड़ रही थी, एक उग्र और संगठित विप्लव के रूप में नहीं, अपितु आकस्मिक और पहले से अचिन्तित घटनाओं के रूप में फैली।**"[4] वास्तव में लग तो ऐसा रहा था कि क्रान्ति फूट पड़ेगी, परन्तु एकाएक 7 मार्च को ही इसके फूट पड़ने की कल्पना तक किसी ने न की थी।

7 मार्च को भूख-प्यास से पीड़ित असहाय मजदूरों ने पेट्रोगाड की सड़कों पर जुलूस निकाला। सड़कों के किनारे होटलों पर गरम-गरम डबलरोटियों के अम्बारों को देखकर वे उस पर टूट पड़े। ये रोटी के नारे लगाते हुए सड़कों पर घूमने लगे। जार ने सेना को आदेश दिया कि इन पर गोलियां चलाये, परन्तु सैनिकों ने आज्ञा पालन नहीं किया। 8 मार्च को कारखानों में काम करने वाले मजदूरों ने हड़ताल कर दी। शहर की सड़कों पर "**रोटी दो, युद्ध बन्द करो, अत्याचारी शासन का नाश हो**" जैसे नारे सुनाई देने लगे। 11 मार्च को जार ने ड्यूमा को भंग कर दिया। सैनिक आन्दोलनकारियों से जा मिले। 13 मार्च को राजधानी पर मजदूरों का अधिकार हो गया। **14 मार्च को ड्यूमा ने रोजियांको के नेतृत्व में कार्यकारिणी सभा की स्थापना की। पेट्रोगाड की सोवियत ने भी एक कार्यकारिणी बनाई।** 14 मार्च के दिन दोनों समितियों को मिलाकर एक कर दिया गया और अस्थायी सरकार बनाई गई। इस अस्थायी सरकार का नेता प्रिन्स ल्वाव (Prince Lvov) था। इसमें एलेक्जैण्डर करेन्स्की (Alexander Keransky), मिल्यूकोव (Milukov) और गुचकोव (Guchkov) को शामिल किया गया। 15 मार्च, 1917 को जार को विश्वास हो गया कि स्थिति पर काबू नहीं पाया जा सकता। अतः उसने सिंहासन त्याग दिया। "**इस प्रकार रोमानॉफ नामक वंश के अन्तिम शासक जार निकोलस द्वितीय का राज्यकाल समाप्त हुआ, इस वंश ने 300 वर्षों से अधिक तक**

1 डॉ. मथुरालाल वर्मा, **यूरोप का इतिहास**, पृ. 256-b।
2 डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, **यूरोप का इतिहास**, पृ. 697।
3 E. Lipson, *Europe in the 19th and 20th Centuries*, p. 343.
4 "The revolution, which had been long impending, burst out, not, as might have been expeceted, with a violent and organized upheavel, but in a series of apparently causal and undermeditated protests, accumulating in volume and significance until it was clear that the whole country, nobles as well as bourgeois: the soldiers as well as the liberals and socialists, had fallen away from their allegiance to the Tzar."
—Fisher, *A History of Europe*, p. 1241.

रूस पर शासन किया।"[1] लिप्सन ने लिखा है, "जार से शासन सत्ता मजदूरों ने छीनी थी, पर उन्होंने उसे तुरन्त ही मध्यम वर्ग को सौंप दिया।"[2]

अस्थायी सरकार का मन्त्रिमण्डल

जिस अन्तरिम सरकार की स्थापना की गई थी, उसके नेता प्रिन्स ल्वोव ने मन्त्रिमण्डल बनाया जो कि व्यापारियों और उदार भूस्वामियों का प्रतिनिधित्व करता था। गुचकोव युद्ध मन्त्री बना। मिल्यूकोव जो सांविधानिक लोकतन्त्र दल का प्रतिनिधित्व करता था, विदेश मन्त्री बना और करेन्स्की, जो सैनिकों और श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता था, न्याय मन्त्री बना। मित्र राष्ट्रों ने भी इस अन्तरिम सरकार को तुरन्त मान्यता दे दी।

अस्थायी सरकार की घोषणाएं (कार्य)

अस्थायी सरकार क्योंकि उदारवादी सिद्धान्तों में विश्वास करती थी और क्योंकि इसके मन्त्रिमण्डल के प्रमुख नेता विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। अतः इसने आश्चर्यजनक परिवर्तन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। **अस्थायी सरकार ने तुरन्त निम्नलिखित घोषणाएं कीं :**

(1) **राजनीतिक घोषणाएं**—जार के शासनकाल में जो राजनीतिक बन्दी बनाये गये थें, उन्हें छोड़ दिया गया। जिन लोगों को देश से निष्कासित किया गया था, उन्हें पुनः रूस आने की अनुमति दी गई। एक अन्य घोषणा के अनुसार, पोलैण्ड को स्वायत्त शासन का प्रण किया गया तथा फिनलैण्ड के वैध अधिकारों को मान्यता दी गई। अस्थायी सरकार ने युद्ध जारी करने की घोषणा भी की। देश में नवीन संविधान सभा की स्थापना की घोषणा की गई।

(2) **स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणाएं**—जार के निरंकुश शासन के अन्तर्गत भाषण, प्रेस, लेखन, आदि पर लगे प्रतिबन्धों को अस्थायी सरकार ने रद्द कर दिया। घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को भाषण, लेखन, प्रेस, आदि की स्वतन्त्रता दी गई। मजदूरों को संघ बनाने का अधिकार दिया गया। वयस्क मताधिकार की घोषणा की गई।

(3) **न्यायिक घोषणाएं**—31 मार्च को मृत्युदण्ड जैसे भयंकर दण्ड को समाप्त कर दिया गया। पुलिस के अधिकार सीमित कर दिये गये। अब पुलिस का कोई अधिकारी किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से बन्दी नहीं बना सकता था।

(4) **यहूदियों के प्रति उदार घोषणा**—रूस के जारों ने रूस के रूसीकरण करने के उद्देश्य से यहूदियों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये थे। अस्थायी सरकार ने उन सभी कानूनों को रद्द कर दिया जो कि यहूदियों के विरुद्ध थे।

अस्थायी सरकार की कठिनाइयां

अस्थायी सरकार ने यद्यपि राजनैतिक, सामाजिक, न्यायिक, आदि क्षेत्रों में विभिन्न घोषणाएं कीं, जिससे काफी हद तक जारशाही की पुरातन व्यवस्था की जड़ पर करारी चोट पड़ी। रूसी जनता को अनेक सुधार प्रदान दिये गये थे, किन्तु इसके बावजूद भी अस्थायी सरकार को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा था। **उसके सम्मुख आयी प्रमुख कठिनाइयां निम्न थीं :**

1 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 563।
2 F. Lipson, *Europe in the 19th and 20th Centuries*, p. 344.

(1) युद्ध सम्बन्धी कठिनाई—सैनिकों के विचार में क्रान्ति का प्रमुख लक्ष्य युद्ध की समाप्ति था, किन्तु अस्थायी सरकार मित्र राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध जारी रखना चाहती थी। वह टर्की, स्टेटस तथा बाल्कान क्षेत्र पर अधिकार की पक्षधर थी। यही कारण था कि उसने अपनी विभिन्न घोषणाओं में युद्ध को जारी रखने का भी ऐलान किया था, परन्तु सैनिक युद्ध से अब ऊब चुके थे। वे युद्ध के भार से छूटना चाहते थे। जनता का कहना था कि युद्ध में रत रहने से रूस का अत्यधिक व्यय युद्ध में होगा। यदि युद्ध न हो तो वह व्यय शासन सुधार में लगाया जाय। जब युद्ध की घोषणा की गई तो विदेश मन्त्री मिल्यूकोव को त्याग-पत्र देना पड़ा। गुचकोव ने भी त्यागपत्र दे दिया। करेन्स्की युद्ध मन्त्री बनाया गया।

(2) सत्ता के दृढ़ीकरण की समस्या—क्रान्ति में मजदूरों, श्रमिकों, किसानों का महत्वपूर्ण योगदान था, किन्तु शासन सत्ता मध्यमवर्गीय उदारवादी विचारधारा के प्रतिनिधियों के पास चली गई थी। श्रमिक सत्ता अपने हाथ में लेना चाहते थे। अस्थायी सरकार को संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की आशा थी। उसका विचार था कि लोगों को व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार होना चाहिए, परन्तु श्रमिक वर्ग एवं रूसी सैनिकों की सोवियत का विचार था कि भूमि किसानों को मुआबजे के बिना दे दी जाय तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(3) सोवियतों के संगठनों का विस्तृत प्रचार—श्रमिक, मजदूरों एवं किसानों ने सुदूर गांवों में जा जाकर अस्थायी सरकार के विरोध में प्रचार करना शुरू कर दिया। इनके साथ सैनिक प्रतिनिधि भी शामिल थे। स्थान-स्थान पर सोवियतें (संगठन) बना दिये गये। इन सोवियतों ने सरकार से सम्बन्धित कार्यों को करना शुरू कर दिया जिससे अस्थायी सरकार की स्थिति प्रारम्भ से ही निर्बल रही। ये सोवियतें उसके लिए एक विकट चुनौती बनकर सामने आयीं।

(4) श्रमिकों द्वारा हड़तालों का आह्वान—श्रमिकों ने कारखानों में समय-समय पर हड़तालें करना प्रारम्भ कर दिया। श्रमिकों ने आतंकवादी कार्यों को अपनाया जिससे अस्थायी सरकार की स्थिति और भी जटिल हो गई।

परन्तु इन सभी समस्याओं को सुलझाने में अस्थायी सरकार सफल नहीं हो सकी। लिप्सन ने लिखा है, **"सैनिकों की दृष्टि में रूसी क्रान्ति का उद्देश्य था—युद्ध की समाप्ति; शहरी मजदूरों की दृष्टि में इसका उद्देश्य था—पूंजीवाद का यदि उन्मूलन न भी सही तो नियन्त्रण और किसानों की दृष्टि में इस क्रान्ति का उद्देश्य था—भूमि की प्राप्ति। मध्यमवर्गीय अन्तरिम सरकार इन तीनों आशाओं में से एक भी पूरा न कर सकी।"**[1]

अखिल रूसी कांग्रेस का सम्मेलन
(ALL RUSSIAN CONGRESS OF SOVIETS)

पैट्रोगाड की क्रान्तिकारी सोवियत ने अपना एक आज्ञा-पत्र 15 मार्च, 1917 ई. को प्रसारित किया। इसके अनुसार जल और थल सेना उन्हीं कार्यों को करेगी जिन मामलों में अस्थाई सरकार और सोवियत के विचार आपस में न टकराते हों। अस्थायी सरकार के इस आज्ञा-पत्र के विरोध किये जाने पर जून, 1917 में सोवियत पेट्रोगाड ने सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस (All Russian Congress of Soviets) बुलवाई। इस सम्मेलन में क्रान्तिकारी, समाजवादी, बोल्शेविक तथा मेन्शेविक दलों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। इस कांग्रेस ने

1 E. Lipson, *Europe in the 19th and 20th Centuries*, p. 344.

घोषित किया, **"केवल राजनैतिक क्रान्ति से काम नहीं चलेगा। सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति भी जरूरी है।"** इसमें अखिल रूसी सोवियत कार्यकारिणी समिति (All Russian Executive Committee of Soviets) एवं एक 20 सदस्यों की प्रेसीडियम (Presidium) बनाई गई। जुलाई, 1917 में सरकार के खिलाफ विद्रोह हो गया। अस्थायी सरकार ने देखा कि विद्रोह को भड़काने में बोल्शेविकों का प्रमुख हाथ है। अतः बोल्शेविक दल का प्रमुख रूस छोड़कर भाग गया।

ल्वोव मन्त्रिमण्डल का पतन : करेन्स्की का मन्त्रिमण्डल

परन्तु जनता का क्रोध बढ़ता ही चला गया। फलतः ल्वोव को त्यागपत्र देना पड़ा। करेन्स्की ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया, परन्तु बोल्शेविक सन्तुष्ट न थे। जर्मन सेनाएं तेजी से रूस की ओर बढ़ रही थीं। रीगा का पतन हो चुका था। मेन्शेविक भी मन्त्रिमण्डल से अलग हो गये।

बोल्शेविक क्रान्ति
(BOLSHEVIK REVOLUTION)

बोल्शेविकों ने प्रावदा (Pravada) नामक समाचार-पत्र के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार एवं प्रसार शुरू कर दिया। सम्पूर्ण रूस में बोल्शेविकों का स्वर गूंज रहा था, **"युद्ध समाप्त हो, किसानों को खेत मिलें तथा गरीबों को रोटी।"**[1] 3 अप्रैल को लेनिन पेट्रोगाड पहुंचा। मई, 1917 को ट्रास्टस्की अमेरिका से पैट्रोगाड पहुंचा। ट्राटस्की ने जो कि एक अन्य दल का नेता था बोल्शेविक दल से सहयोग किया। जुलाई में करेन्स्की सरकार ने बोल्शेविकों को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। लेनिन भागकर फिनलैण्ड चला गया उसने वहीं से बोल्शेविकों को पत्र लिखकर उनका मार्ग दर्शन किया।[2] उसने अपनी नीतियों एवं विचारों से उन्हें गुप्त पत्रों द्वारा अवगत कराया। लेनिन ने 23 अक्टूबर, को सशस्त्र क्रान्ति का दिन चुनने का आदेश दिया। सेना ने युद्ध करने से इंकार कर दिया। मजदूरों ने हड़ताल कर दी। 6 नवम्बर को लाल रक्षकों (Red Gaurds) ने पैट्रोगाड के रेलवे स्टेशनों, टेलीफोन केन्द्रों, सरकारी भवनों में अधिकार कर लिया। ये रेड गार्ड बोल्शेविक दल के स्वयं-सेवक थे। इनकी संख्या 25 हजार थी, परन्तु पैट्रोगाड की सेना का सहयोग प्राप्त होने से इनकी शक्ति अत्यधिक बढ़ गई थी। 7 नवम्बर को करेन्स्की रूस छोड़कर भाग गया। बिना रक्त बहाये रूस की राजधानी पर बोल्शेविक दल का अधिकार हो गया। ट्राटस्की ने सोवियत के पैट्रोगाड को जो अपनी रिपोर्ट भेजी थी उसमें कहा था, **"लोग कहते थे कि जब बलवा होगा तो क्रान्ति रक्त की नदियों से डूब जायेगी, परन्तु हमने एक भी व्यक्ति की मृत्यु की खबर नहीं सुनी। इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं है कि किसी क्रान्ति में इतने लोग सम्मिलित हों और वह रक्तहीन हो।"**[3]

8 नवम्बर, 1917 को नई सरकार ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। इस सरकार का अध्यक्ष लेनिन बना। ट्राटस्की को विदेश मन्त्रालय दिया गया और संविधान सभा के चुनाव की घोषणा की गई जो कि 15 नवम्बर को हुए, परन्तु बोल्शेविक दल को बहुमत न मिल पाने पर लेनिन ने इस सभा को प्रतिक्रियावादी सभा कहा और इसे भंग कर दिया। इस

1 डॉ. मथुरालाल वर्मा, यूरोप का इतिहास, पृ. 58-b।
2 वही, पृ. 250-b।
3 डॉ. मथुरालाल वर्मा, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 260।

प्रकार रूस में पूर्णतया सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित कर दिया गया। डेरी और जारमेन के शब्दों में **"युद्ध ने अवसर दिया और भाग्य ने लेनिन जैसा नेता पैदा किया। इस नेता की आत्मशक्ति और बुद्धि ने अवसर को परख कर परिस्थिति पर विजय पा ली।"**[1]

ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि (Treaty of Brest Litovsk)—बोल्शेविक सरकार ने तुरन्त ही रूस के युद्ध से हाथ खींच लिये जाने की घोषणा की। मित्र राष्ट्रों के उस ओर ध्यान न दिये जाने से लेनिन के प्रयत्नों से रूस ने जर्मनी के साथ 3 मार्च, 1918 को ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार :

(1) रूस ने एस्टोनिया, लिथोनिया, लिटेविया, फिनलैण्ड, आलैण्ड, पोलैण्ड, लिथुआनिआ, कोरलैण्ड से अपने अधिकार त्याग दिये। उसने यूक्रेन से अपनी सेनाएं हटा लीं। रूस ने जर्मनी को तीन करोड़ पौण्ड युद्ध का हर्जाना देने का वचन लिया।

हालांकि यह सन्धि रूस के लिए अपमानजनक थी, परन्तु वह युद्ध से अलग हो गया और आन्तरिक समस्याओं की ओर अपना ध्यान दे सका। रूस में सरकार के विरोधियों की कमी न थी। रूस में तुरन्त ही गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, किन्तु लेनिन ने बड़ी कार्यकुशलता से अपने विरोधियों को कुचल दिया और रूस को आर्थिक दृढ़ता प्रदान की।

बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के कारण

बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के निम्नलिखित कारण थे :

(1) **युद्ध का विरोध**—1905 से 1917 तक के समय में जारशाही नीतियों में कोई परिवर्तन न देखकर जनता सशंकित हो गई थी। अब उसका यह विचार बन चुका था कि जारशाही का ही अन्त करके ही रूसी सन्तुलन को ठीक किया जा सकता है। अतः जैसे-जैसे क्रान्तिकारी भावनाएं देश में बढ़ती गईं, जारशाही निरंकुश होती चली गई और अन्ततः रूस में अस्थायी सरकार की स्थापना हुई, किन्तु अस्थायी सरकार ने भी युद्ध जारी रखने की नीति अपनाई। कैटलबी ने लिखा है। **"युद्ध और क्रान्ति दोनों को एक साथ जारी रखने के निष्फल प्रयास के पश्चात करेन्स्की की नरम दल की सरकार नवम्बर, 1917 में लेनिन और ट्राटस्की के नेतृत्व में बोल्शेविकों द्वारा पलट दी गयी। बोल्शेविक पार्टी का यद्यपि अल्पमत था, किन्तु उसकी स्थिति फ्रांस के जैकोबिनों के समान कार्य और निर्णय करने वालों की थी।"**[2]

(2) **यूरोपीय राष्ट्रों का हस्तक्षेप नहीं**—प्रथम विश्व युद्ध जारी होने के कारण यूरोपीय राष्ट्र रूसी क्रान्ति में सशस्त्र हस्तक्षेप न कर सके।

(3) **विरोधियों में फूट**—विरोधियों की दोषपूर्ण नीति एवं फूट का लाभ बोल्शेविकों ने उठाया।

(4) **समय की अनुकूलता**—कठिन समय में भी बोल्शेविक गुपचुप अपना प्रचार अभियान चलाते रहे। वे लेनिन के निर्देशों का पालन करते रहे। बोल्शेविकों ने उचित समय में क्रान्ति करके सत्ता पर अधिकार कर सफलता प्राप्त की।

1 "The war, then, produced the opportunity. Fate produced the leader in Lenin. His great and intellectual and personal powers enabled him to dominate the situation, he saw the opportunity when others did not." —*Derry and Jarman.*

2 "After a vain attempt to conduct a war and a revolution at the same time Kerensky's moderates were overthrown in Nov. 1917, by the Bolshevik's party under Lenin and Trotsky a party which, though in minority, was like the Jacobins of France, one of action and decision." —*Ketelbey*

(5) जनता का समर्थन—डेविड थामसन के अनुसार, "लेनिन द्वारा निर्मित बोल्शेविकों का **कार्यक्रम चार-सूत्रीय था :** (1) कृषकों को भूमि, (2) भूखों को भोजन, (3) सोवियतों को शक्ति, (4) जर्मनी के साथ सन्धि।"[1]

इस प्रकार की घोषणाओं से सेना, मजदूर, कृषक, आदि सभी बोल्शेविकों के समर्थक बन गये। लेनिन ने शासन सम्बन्धी सुधार करके रूस को समाजवादी सोवियतों का लोकतान्त्रिक देश बना डाला।

महत्व

फ्रांस की 1789 ई. की राज्य क्रान्ति के समान ही रूस की 1917 की रूसी क्रान्ति ने रूस को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। क्रान्ति का महत्व तब स्वतः और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जबकि हम देखते हैं कि क्रान्ति के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए रूस आज संसार की प्रमुख महाशक्ति है। **रूस की 1917 की क्रान्ति के निम्न महत्वपूर्ण परिणाम निकले :**

(1) रूस की 1917 की क्रान्ति ने 300 वर्षों से चले आ रहे **निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी जार शासन की समाप्ति कर दी।**

(2) रूस में **सर्वहारा वर्ग की सरकार की स्थापना हुई।** इसने रूस में एक नये प्रकार का समाजवादी ढांचा तैयार किया।

(3) रूस में स्थापित हुई साम्यवादी सरकार ने पूंजीवाद का घोर विरोध किया। फलतः **रूस में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।** जमींदारों व पूंजीपतियों को समाप्त कर दिया गया। कृषक वर्ग को उनकी जरूरत के अनुसार भूमि प्रदान की गई। इस प्रकार रूस ने जिस नई आर्थिक नीति का आह्वान किया, उसके सम्बन्ध में वेन्स के शब्दों में कहा जा सकता है, **"रूस का वह आर्थिक जीवन एक राज्य समानता, सरकारी पूंजीवाद का एक विलक्षण चित्र था।"**[2]

(4) रूस की क्रान्ति ने रूस में ही प्रभाव नहीं डाला, अपितु **विश्व को भी प्रभावित किया।** रूसी क्रान्ति का सबसे प्रथम परिणाम विश्वयुद्ध से रूस का हाथ खींच लेना था, जिसका सीधा सम्बन्ध 3 मार्च, 1918 की ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि इस सन्धि से रूस को अत्यधिक अपमान सहन करना पड़ा, किन्तु युद्ध से अलग होकर वह देश की आर्थिक व्यवस्था एवं पुनर्निर्माण की ओर ध्यान दे सका। रूस ने जिस नवीन पद्धति से कार्य किया, जिसे हम आज **'समाजवादी सोवियत गणतन्त्र संघ'** के नाम से भी जानते हैं जो कि क्रान्ति की देन है, रूस को आज संसार की महाशक्ति के रूप में स्थान दिया है। रूस का विचार था कि यूरोप में सर्वहारा वर्ग की सरकार स्थापित की जायेगी। अतः 1919 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल स्थापित किया गया। इसी कारण विश्व दो गुटों में बंट गया। एक गुट में पूंजीवादी देश आ गये और दूसरे में साम्यवादी। दूसरे शब्दों में, विश्व पुनः दो गुटों में विभाजित हो गया।

(5) **रूसी क्रान्ति की महत्वपूर्ण उपलब्धि लेनिन का उदय** भी कहा जा सकता है जिसने रूस की भावी नीति को पूर्णतया एक नई दिशा दे दी। आज भी रूस में लेनिन का बड़े

1 "Its Programme, formulated by Lenin, was fourfold, land to the peasants, food to the starving, power to the Soviets and peace with Germany." —*David Thomson.*

2 "Russia's economic life came to present a strange picture of intermingled state socialism, state capitalism and private capitalism." —*Benns*

आदर के साथ नाम लिया जाता है। अतः क्रान्ति के इसी क्रम में लेनिन की भूमिका का विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा।

लेनिन और स्टालिन के अधीन रूस
(RUSSIA UNDER LENIN AND STALIN)

बीसवीं शताब्दी की प्रमुख घटनाओं में रूस की 1917 ई. की क्रान्ति भी थी, जिसने निरंकुश राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति पर कुठाराघात किया था। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप रूस में **बोल्शेविक सरकार** (Bolshevik Government) की स्थापना हुई जिसने 7 नवम्बर, 1917 को कार्य-भार संभाला। बोल्शेविक दल का अध्यक्ष लेनिन (Lenin) था, जिसने रूस में 1917 ई. से 1924 ई. तक शासन किया। 1924 ई. में लेनिन की मृत्यु हो गई।

लेनिन का युग (1917 ई. -1924 ई.)
(THE AGE OF LENIN)

1917 ई. की रूसी क्रान्ति तथा बोल्शेविकों द्वारा सत्ता प्राप्त करने में जिस व्यक्ति का सर्वाधिक योगदान रहा था, उसका नाम **ब्लाडीमिर इलियच यूलियानोव** (Vladimar Ilyich Ulyanov) था, जो निकोलाई लेनिन के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। लेनिन का जन्म 1870 ई. में सिमविर्स्क में हुआ था। सिमविर्स्क का नाम अब लेनिन के नाम पर लैनिनिस्क रख दिया गया है। 17 वर्ष की आयु में लेनिन ने काजान विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया, किन्तु उग्रवादी गतिविधियों के कारण उसे विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया, तब उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया तथा 1891 ई. में विधि की उपाधि प्राप्त की, किन्तु उसने अपनी आन्दोलनकारी प्रवृत्ति को न छोड़ा। अतः उसे दण्डस्वरूप 1897 ई. में साइबेरिया भेज दिया गया। साइबेरिया में उसे 1900 ई. तक रहना पड़ा। साइबेरिया में रहना भी लेनिन की विचारधारा को परिवर्तित न कर सका तथा वह पूर्ववत् मजदूरों के उत्थान के लिए कार्य करता रहा। अपने विचारों को रूस में कार्यान्वित न होता देखकर लेनिन स्विटजरलैण्ड चला गया व वहां रहकर क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करता रहा। 1917 ई. में वह रूस आ गया व क्रान्ति का नेतृत्व कर पुरातन व्यवस्था व अत्याचारी शासन का अन्त करने में सफल हुआ।

लेनिन के कार्य (Works of Lenin)

बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार के समक्ष अनेक समस्याएं थीं जिनका समाधान करना आवश्यक था। इन समस्याओं में प्रमुख रूस में शान्ति की स्थापना करना, साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर रूस की सामाजिक एवं आर्थिक दशा में परिवर्तन करना तथा रूस में बाह्य शक्तियों के हस्तक्षेप को रोकना था। तत्कालीन सरकार के समक्ष विद्यमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए स्वयं लेनिन ने कहा था, **"हमारा उद्देश्य किसानों को भूमि, भूखों को खाना, रूस को शक्ति एवं जर्मनी में शान्ति स्थापित करना है।"**[1] अतः उपरोक्त समस्याओं के समाधान के लिए लेनिन ने निम्नलिखित कार्य किये :

शान्ति की स्थापना (Peace in Russia)—7 नवम्बर, 1917 ई. को यद्यपि बोल्शेविकों ने सत्ता प्राप्त कर ली थी, किन्तु उन्हें आगामी तीन वर्षों तक गणतन्त्र विरोधियों से संघर्ष

1 Land to the peasants, food to the starving, power to Soviets and peace with Germany."
—*Lenin*

करना पड़ा। बोल्शेविकों के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी मेन्शेविक थे, जिन्हें बाह्य देशों में सहायता प्राप्त हो रही थी। बोल्शेविकों ने इन शक्तियों का जमकर विरोध किया। अन्ततः 1920 ई. के अन्त तक बोल्शेविक रूस में शान्ति स्थापना करने में सफल हो गये।

नवीन संविधान (New Constitution)—बोल्शेविक सरकार ने एक नवीन संविधान की भी रचना की जिसे 1918 ई. की ग्रीष्मकालीन ऋतु से लागू कर दिया। इस संविधान के द्वारा ही **'रूसी साम्यवादी संघीय सोवियत गणतन्त्र'** की स्थापना हुई। इस संविधान के द्वारा रूस के सभी वयस्कों को मताधिकार प्रदान किया गया। शासन की समस्त सत्ता **'अखिल रूसी कांग्रेस'** में निहित हो गई। कानूनों को पारित करने के लिए एक समिति का गठन किया गया जिसे **'अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति'** कहा गया। इस समिति के सदस्यों का निर्वाचन 'अखिल रूसी कांग्रेस' द्वारा किया जाता था। इसके अतिरिक्त भी अनेक कांग्रेसें थीं, उदाहरणार्थ—जिला कांग्रेस, काउण्टी कांग्रेस, मण्डलीय कांग्रेस तथा प्रान्तीय कांग्रेस। इन कांग्रेसों में एक 'पीपुल्स कमीसार कांग्रेस' प्रमुख थी व इसके कार्य व अधिकार 'कैबिनेट' (मन्त्रिमण्डल) के समान थे।

लेनिन की नवीन आर्थिक नीति
(NEW ECONOMIC POLICY OF LENIN)

1917 ई. में बोल्शेविक सरकार के गठन के पश्चात लेनिन ने जिस नीति को अपनाया, उसे **'राजकीय पूंजीवाद'** या **'नियन्त्रित पूंजीवाद'** (State Capitalism or Controlled Capitalism) कहा जाता है। यह नीति नवम्बर 1917 ई. से जुलाई 1918 ई. तक चलती रही तथा इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा आर्थिक नियन्त्रण पूंजीपतियों से छीनकर अपने हाथों में ले लिया गया। उत्पादन पर भी इस नीति के अन्तर्गत नियन्त्रण रखा गया। इस व्यवस्था में उद्योगों का आंशिक प्रवन्ध अपने पास रखा था। इसी कारण इस नीति को **'नियन्त्रित पूंजीवाद'** भी कहा गया। रूसी जनता की इच्छा थी कि सरकार को उद्योगों पर पूर्ण नियन्त्रण कर लेना चाहिए, अर्थात् जनता उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थी। अतः रूस में गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसने अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। अतः रूस की सरकार ने नियन्त्रित पूंजीवाद की इस नीति का परित्याग कर **'यौद्धिक साम्यवाद'** (War Communism) को अपनाया। **इस नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख कार्य किए गए :**

(i) नियन्त्रित पूंजीवाद को समाप्त कर दिया गया।
(ii) समाजवादी तथा साम्यवादी कार्यक्रम लागू किए गए।
(iii) कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया।
(iv) राजकीय तथा सामूहिक फार्मों (Collective Farms) की स्थापना की गई।
(v) सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का अधिकार माना गया।
(vi) खाद्यान्नों के मूल्य निर्धारित किये गये।
(vii) उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया।

सरकार द्वारा उपरोक्त कार्य किये जाने से स्थिति और भी खराब हो गई। किसान खेती छोड़कर सेना में भर्ती होने लगे, जिससे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। उद्योगों का भी ह्रास हुआ तथा उत्पादन क्षमता कम हो गई। इसी समय मुद्रा स्फीति के कारण मजदूरों की स्थिति अत्यन्त खराब हो गई। बोल्शेविक सरकार की यौद्धिक साम्यवाद की नीति पूर्णतया असफल प्रमाणित हुई। इससे रूस की स्थिति और भी खराब हो गई व सम्पूर्ण देश में असन्तोष

की भावना प्रबल होने लगी। स्वयं लेनिन ने भी इस नीति के दोषों को स्वीकार करते हुए कहा था, **"यह आर्थिक संकट और सैनिक समस्याओं का परिणाम था, किसी सिद्धान्त का नहीं। आवश्यकतावश एक ऐसी नीति का पालन करना पड़ा था जो पूंजीवाद के समाज से संक्रमण से पूर्णतया प्रतिकूल थी।"**

इस प्रकार 1918 ई. में लागू की गई यौद्धिक साम्यवाद की नीति का मार्च 1921 ई. में परित्याग कर दिया गया।

इस प्रकार 1921 ई. में यौद्धिक साम्यवाद के असफल होने पर सरकार के समक्ष पुनः आर्थिक समस्या उत्पन्न हो गई। **इस समय बोल्शेविकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि कृषकों को परिवर्तित करने की अपेक्षा अपनी ही नीति को बदलना उचित था।**[1] अतः लेनिन ने 1921 ई. में एक आर्थिक नीति की घोषणा की जिसे नवीन आर्थिक नीति (New Economic Policy) कहा गया।

नवीन आर्थिक नीति के कारण (Causes of the New Economic Policy)—1921 ई. में लेनिन द्वारा नवीन आर्थिक नीति अपनाने के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे :

(i) रूस में राजकीय पूंजीवाद व यौद्धिक साम्यवादी नीतियां असफल हो चुकी थीं, अतः एक नवीन आर्थिक नीति की आवश्यकता थी।

(ii) पिछली नीतियों द्वारा बोल्शेविक सरकार को यह स्पष्ट हो गया था कि समाजवाद की उतनी स्थापना की जानी चाहिए, जितने की आवश्यकता है। इस नीति के अन्तर्गत ऐसा ही किया गया था।

(iii) मजदूरों व किसानों की खराब आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक था कि नीतियों में परिवर्तन किया जाय।

(iv) व्यापारी वर्ग भी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से रुष्ट था।

(v) कृषक विद्रोहों से बोल्शेविक सरकार चिन्तित थी, किन्तु मार्च, 1921 ई. में लाल नौ-सेना द्वारा विद्रोह किये जाने से सरकार के लिए तत्काल कोई कदम उठाना आवश्यक हो गया।

ग्राण्ट और टेम्परले ने नवीन आर्थिक नीति के विषय में लिखा है, **"गृह-युद्ध की समाप्ति पर देश को फिर भी अव्यवस्था, भय और दुर्भिक्ष पीड़ित देखकर कुछ हद तक निजी उद्योगों को पुनः प्रचलित किया गया। इसी को लेनिन की नई आर्थिक नीति कहा गया।"**[2]

आर्थिक नीति के प्रमुख उद्देश्य (Main Aims of the N. E. P.)—लेनिन की नवीन आर्थिक नीति का उद्देश्य मजदूर वर्ग तथा किसानों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना, देश में रहने वाले श्रमजीवियों को रूस की अर्थव्यवस्था की उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन देना तथा अर्थव्यवस्था के प्रमुख सूत्रों को शासन के अधिकार में रखते हुए आंशिक रूप से पूंजीवादी व्यवस्था को कार्य करने की अनुमति प्रदान करना था। लेनिन ने स्वयं ही अपनी आर्थिक नीति के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि वास्तव में मजदूर वर्ग और किसानों के सम्बन्धों पर और उनके संघर्ष व समझौते पर ही हमारी क्रान्ति के भाग्य का निर्णय होगा। मजदूर वर्ग और किसानों के हित अलग-अलग हैं। लेनिन का विचार था कि कृषकों के साथ समझौता

1 हेजन, पूर्वोक्त, पृ. 618।

2 ग्राण्ट और टेम्परले, यूरोप, 19वीं तथा 20वीं सदी में, पृ. 521।

होने से ही साम्यवादी (कम्युनिस्ट) क्रान्ति को सुरक्षित रखा जा सकता है। लेनिन का मानना था कि किसानों को आर्थिक दृष्टि से सन्तुष्ट रखना आवश्यक था।

लेनिन द्वारा आरम्भ की गई आर्थिक नीति के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य थे :

(1) लेनिन की आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य रूस के किसानों को आर्थिक रूप से सम्पन्न बनाकर उनमें व्याप्त असन्तोष को दूर करना था। इसके साथ ही मजदूर वर्ग को प्रोत्साहित कर रूसी क्रान्ति को सशक्त बनाना भी लेनिन का उद्देश्य था।

(2) नवीन आर्थिक नीति का उद्देश्य उत्पादन को बढ़ाने वाले कार्यक्रमों को लागू करना था ताकि श्रमिकों व किसानों की स्थिति में सुधार हो सके।

(3) जनता का कल्याण करना भी इस नीति का उद्देश्य था।

(4) लेनिन अपनी नवीन आर्थिक नीति के द्वारा रूस में मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed economy) की स्थापना करना चाहता था। इसी का पालन करने के लिए सीमित राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई।

पश्चिमी देशों ने रूस की इस नवीन आर्थिक नीति की आलोचना की। प्रसिद्ध रूसी इतिहासकार बर्नादस्की ने लिखा है, **"उनकी (पश्चिमी देशों की) दृष्टि में नवीन आर्थिक नीति का अर्थ बोल्शेविकों का पूंजीवादी विश्व के सम्मुख आत्मसमर्पण मात्र था और लगभग निरपवाद रूप से उसे दुर्बलता का लक्षण माना गया। महाद्वीपीय लोग यह समझने लगे थे कि बोल्शेविकों की तथाकथित शक्तिहीनता से विदेशी हितधारियों को रूस के प्राकृतिक साधनों के उपयोग के अवसर प्राप्त होंगे।**[1]

नवीन आर्थिक नीति के कार्यक्रम (Programmes of N. E. P.)—लेनिन ने नवीन आर्थिक नीति को लागू करने के उद्देश्य से अनेक कार्यक्रम अपनाये जिनमें प्रमुख निम्नवत् थे :

(i) लेनिन ने इस नीति के अन्तर्गत सर्वप्रथम यौद्धिक साम्यवाद की आवश्यक अधिग्रहण की नीति को समाप्त कर दिया। इस प्रकार किसानों के अतिरिक्त उपज, जो पहले अनिवार्य रूप से वसूल की जाती थी बन्द कर दी गई। नवीन नीति के अन्तर्गत किसानों से कृषि उत्पादन कर लिया जाने लगा। बर्नादस्की ने लिखा है, **"पहले कर वस्तु के रूप में लिया जाता था, बाद में वह राशि के रूप में चुकाया जाने लगा। अब कृषकों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे अपनी अतिरिक्त फसल की व्यवस्था अपनी इच्छानुसार कर सकेंगे, अर्थात उसे खुले बाजार (Open Market) में बेच सकते थे। उगाही के बदले कर की प्रतिस्थापना करने वाली प्रज्ञप्ति ने आर्थिक पद्धति के पूर्ण परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया, क्योंकि इस प्रक्रिया से व्यापार की स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ।"**[2] इस प्रकार गांव व शहर आर्थिक रूप से परस्पर जुड़े।

(ii) नवीन कर प्रणाली के द्वारा आर्थिक स्थिति के अनुसार कर निर्धारित किया गया। धनी व्यक्ति से अधिक व गरीब से कम कर लिया जाता था।

(iii) कृषक-सहकारिता (Co-operative Farming) को भी प्रोत्साहित किया गया व किसानों को वेतन-भोगी श्रमिक रखने की सुविधा प्रदान की गई।

---

1 जार्ज वर्नादस्की, रूस का इतिहास, पृ. 303।

2 वही, पृ. 303।

(vi) राजकीय व सहकारी व्यापार को भी प्रोत्साहित किया गया। इससे व्यापारियों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी।

(v) कृषि के समान उद्योगों में भी सुधार किया गया। बड़े उद्योगों को सरकार के अधीन रखा गया, किन्तु उनकी व्यवस्था में अनेक परिवर्तन किये गये। वस्तु-विनिमय (Barter System) को त्याग दिया गया व मुद्रा प्रणाली लागू की गई। उद्योगों को आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरित किया गया।

(vi) छोटे उद्योगों को उद्योगपतियों के अधीन ही रहने दिया गया।

(vii) एक सहकारी बैंक की भी स्थापना की गई।

(viii) रूस में बड़े उद्योग लगाने के लिए विदेशियों को आमन्त्रित व प्रोत्साहित किया गया।

(ix) श्रमिकों की नियुक्ति के लिए रोजगार कार्यालयों की स्थापना की गई जहां से उन्हें उनकी योग्यतानुसार काम दिलाया जाता था।

(x) निर्यात को बढ़ावा दिया गया। इसके लिए निजी व्यापारियों को विदेशी व्यापार करने की अनुमति दी गई। विदेशी व्यापार पर कर भी कम किया गया।

इस प्रकार लेनिन ने अपनी इस नीति के द्वारा रूस की अर्थव्यवस्था को एक नया रूप प्रदान किया। डेविड थामसन ने लिखा हैं, **"लेनिन का नवीन प्रयोग, नवीन आर्थिक नीति यौद्धिक साम्यवाद की नीति के बिलकुल विपरीत था।"**[1]

नवीन आर्थिक नीति के प्रभाव (Impact of the N. E. P.)—लेनिन की आर्थिक नीति से रूस को अत्यधिक लाभ हुआ। इस नीति ने मजदूर वर्ग तथा किसानों के आर्थिक गठबन्धन को मजबूत बनाया, उत्पादक शक्तियों को समाजवादी दिशा प्रदान की, समाजवादी अर्थव्यवस्था की भूमिका तैयार की तथा रूसी शासन को सुदृढ़ बनाया। इस नीति से उद्योग, कृषि, यातायात, वैदेशिक व्यापार, प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय में उल्लेखनीय उन्नति हुई। मात्र 4 वर्षों में राष्ट्रीय आय में 15% की वृद्धि हुई।

लेनिन की नवीन आर्थिक नीति की सबसे बड़ी उपलब्धि रूस का आर्थिक पुनर्निर्माण करना था। इस सन्दर्भ में डेविड थामसन का कथन उल्लेखनीय है, **"इस नीति के सर्वाधिक नाटकीय एवं दूरगामी प्रभावों में महत्वपूर्ण यह था कि इसके परिणामस्वरूप रूस का आर्थिक पुनर्निर्माण हुआ।"**[2] इस नीति द्वारा कृषि का पुनरुद्धार हुआ। यद्यपि 1921 ई. में रूस में अकाल पड़ा, किन्तु सरकार के सहयोग से किसानों ने इस स्थिति का सामना किया। 1922 व 1923 ई. में फसलों के अच्छे रहने के कारण स्थिति में सुधार हुआ। इसके साथ ही इस नीति के अन्तर्गत किसानों को दी गई सुविधाओं के कारण कृषि की स्थिति में व्यापक उन्नति हुई। विदेशों से भी कृषि मशीनों तथा विभिन्न उपकरणों का आयात कर कृषि-उत्पादन को बढ़ाया गया। परिणामस्वरूप रूस में कृषि क्षेत्र 1921 ई. की तुलना में 1927 ई. तक डेढ़ गुना हो गया।

---

1 "His new improvisation, the New Economic Policy (NEP), was a reversal of the policies of War Communism." —David Thomson, *Europe Since Napoleon*, p. 549.

2 "Most dramatic of all, and most far-reaching in its eventual Consequences, was the economic recovery of Soviet Union as a result of Lenin's New Economic Policy." —*Ibid.*, p. 621.

कृषि के साथ-साथ नवीन आर्थिक नीति से उद्योगों का भी पुनरुद्धार हुआ। 1921 ई. में लेनिन ने अपने मित्र क्रजिजानोत्सकी को राष्ट्रीय योजना का अध्यक्ष नियुक्त किया। क्रजिजानोत्सकी प्रसिद्ध ऊर्जा इंजीनियर था। अतः उसके प्रयासों से अनेक बिजलीघरों का निर्माण किया गया। इसके परिणामस्वरूप बड़े व छोटे उद्योगों का विकास द्रुत गति से हुआ। मानफ्रेद ने लिखा है कि राजकीय उद्यमों में अधिक कुशल और योग्य श्रमजीवियों को अधिक वेतन व पुरस्कार देने तथा उन्हें **'श्रमवीर'** की उपाधि देने के निर्णय से उत्पादन बढ़ा।[1] 1924-25 ई. में रूस में उत्पादन बढ़ाओ आन्दोलन (Increase Production Movement) चला जिससे उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। उत्पादन बढ़ाने में सरकार की नीति से प्रोत्साहित श्रमिकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रूस की सर्वोच्च राष्ट्रीय अर्थ परिषद के अध्यक्ष फेलिक्स दजेरजीस्की ने श्रमिकों की प्रशंसा करते हुए कहा, **अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में हमारे मजदूरों व किसानों द्वारा दिखाया गया यह पराक्रम युद्ध के मोर्चे पर दिखाए गए पराक्रम से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है।**

लेनिन की आर्थिक नीति से जहां रूस को भी अत्यधिक लाभ हुआ वहीं उसके समक्ष अनेक संकट उत्पन्न हुए। इन संकटों में प्रमुख—**ईंधन संकट** (Fuel Crisis), **बिक्री संकट** (Sales Crisis) तथा **कैंची संकट** (Scissors Crisis) थे।1921 ई. में जब नवीन आर्थिक नीति को लागू किया गया था। उस समय रूस में ईंधन संकट विद्यमान था। इसको दूर किये बिना उद्योगों का विकास सम्भव न था। ईंधन संकट के कारण यातायात व उद्योगों की स्थिति खराब होती जा रही थी। रूसी सरकार ने इस संकट को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाए तथा इस संकट को 1922 ई. तक समाप्त कर दिया गया।

दूसरा संकट बिक्री से सम्बन्धित उत्पन्न हुआ। इस संकट के उत्पन्न होने के दो प्रमुख कारण थे। पहला, कार्यशील पूंजी (Working Capital) का अभाव होना व दूसरा बिक्री के लिए तैयार वस्तुओं का भण्डार हो जाना। इस समय कच्चे माल को खरीदने के लिए धन की आवश्यकता थी। दूसरी ओर बने हुए माल का भण्डार अधिक होने के कारण शहरों व गांवों के मध्य आर्थिक सन्तुलन न होना था। इस स्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने शहरों व गांवों के मध्य आर्थिक सन्तुलन को सुधारा। सरकार ने वितरण प्रणाली में भी सुधार किये। इसके अतिरिक्त अत्यन्त महत्वपूर्ण औद्योगिक प्रतिष्ठानों को छोड़कर शेष को बन्द कर दिया। इस प्रकार यह संकट भी समाप्त हो गया।

इसी समय रूस में **कैंची संकट** उत्पन्न हो गया। इसके मूल में बिक्री संकट ही था। बिक्री संकट के कारण औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य में भारी गिरावट आई थी। इसके विपरीत कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के मूल्य अधिक हो गए। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में विषम स्थिति हो गई। इस संकट में क्योंकि औद्योगिक व कृषि उत्पादनों के मूल्य एक-दूसरे के विपरीत (कैंची की दो पत्तियों के समान) थे, इस कारण, इस संकट को **'कैंची संकट'** कहा गया। सन्तुलित अर्थव्यवस्था के लिए औद्योगिक व कृषि उत्पादनों में सन्तुलन बना रहना आवश्यक है, अतः सरकार को इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाने पड़े। जब अन्य सभी प्रयास असफल हो गए तो 'स्टालिन ने **'राशनिंग'** (Rationing) के द्वारा मूल्यों पर नियन्त्रण कर इस संकट को समाप्त किया।

1 अ. ज. मानफ्रेद, **संक्षिप्त विश्व का इतिहास**, खण्ड 5 पृ. 69।

इन सब संकटों के पश्चात भी लेनिन की नवीन आर्थिक नीति 1927 ई. तक चलती रही। लेनिन की इस आर्थिक नीति के विषय में बर्नादस्की ने लिखा है, **"इस समय से 1927 ई. तक रूस में जो आर्थिक पद्धति प्रचलित रही वह संकर-योजना (Mixed Planning) थी। वह न तो समाजवादी, न पूंजीवादी; बल्कि इस दोनों के बीच की थी। वह नवीन आर्थिक नीति के तथा आरम्भ किये गये सभी सुधारों की सीमा तक वास्तविक समाजवादी पद्धति से भिन्न थी। वह पूंजीवादी स्वरूप से इसलिए भिन्न थी कि उसमें आर्थिक मामलों में विशेषकर विदेशी व्यापार में, शासकीय नियन्त्रण अन्तर्निहित था।"**[1] लेनिन ने इस नवीन आर्थिक नीति के द्वारा अपनी उस घोषणा को सही प्रमाणित करने का प्रयास किया जो उसने क्रान्ति के तुरन्त पश्चात् की थी। उसने कहा था, **"हम पुरातन-व्यवस्था को समाप्त कर उसके खण्डहरों पर अपना मन्दिर बनायेंगे। यह एक ऐसा मन्दिर होगा जो सबके लिए खुशियां लाएगा।"**[2]

21 जनवरी, 1924 ई. को विश्व के इस महान् नेता की मृत्यु हो गई। हेजन ने लेनिन की अत्यधिक प्रशंसा की है। उनके शब्दों में, **"जूलियस सीजर के समय से इतिहास का वह (लेनिन) सम्भवतः सबसे प्रभावशाली व्यक्ति था।"**[3]

स्टालिन का युग (1928-1953)
(THE AGE OF STALIN)

प्रारम्भिक जीवन (Early Life)—स्टालिन[4] रूस के इतिहास का एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व था। उसने अपनी नीतियों से न केवल रूस अपितु सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। स्टालिन का जन्म 1879 ई. में गोरी नामक गांव में हुआ था। स्टालिन के पिता अपने पुत्र को पादरी बनाना चाहते थे, किन्तु स्टालिन प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी विचारों का था, अतः युवा होते ही उसने क्रान्तिकारियों का साथ देना प्रारम्भ कर दिया। उसकी क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण उसे अनेक बार गिरफ्तार किया गया। लेनिन के सम्पर्क में आकर उसने साम्यवादी दल (Communist Party) की सदस्यता ग्रहण कर ली।

स्टालिन व ट्राटस्की (Stalin and Trotsky)—21 जनवरी, 1924 ई. को लेनिन की मृत्यु हो गई। लेनिन के उत्तराधिकार के लिए दो प्रमुख दावेदार थे—ट्राटस्की (Trotsky Leon) व जोसेफ स्टालिन (Joseph Stalin)। रूस की मार्च 1917 ई. में हुई क्रान्ति के समय इन दोनों ही नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः लेनिन की मृत्यु के पश्चात् दोनों में ही संघर्ष हुआ। यह संघर्ष 1924 ई. से 1929 ई. तक चलता रहा। दोनों के मध्य वैचारिक मतभेद भी थे। ट्राटस्की का विचार था कि रूस को विश्व में बोल्शेविक क्रान्ति करने की आशा नहीं करनी चाहिए। उसका विचार था कि यदि रूस में यह क्रान्ति सफल हो जायेगी तो विश्व के देश स्वतः ही उसका अनुकरण करेंगे। इसके विपरीत स्टालिन का विचार था कि बोल्शेविक क्रान्ति अन्य देशों में कराने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ट्राटस्की पूंजीवाद का घोर विरोधी था व उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था, जबकि

1 बर्नादस्की, रूस का इतिहास, पृ. 322-23।

2 "We will destroy everything and on the ruins we will build our temple. It will be a temple for the happiness of all." —*Lenin*

3 He was probably the most influential man in history from the time of Julius Caesar." —Hazen, *Modern Europe*, p. 566.

4 स्टालिन का वास्तविक नाम जोसेफ विसलियोरोविच जगोश्विली था। एक वार पुलिस से बचने के लिए उसने अपना नाम जोसेफ बी स्टील रख लिया था। स्टील (लौह पुरुष) से ही उसका नाम स्टालिन पड़ा।

स्टालिन रूस का औद्योगिक विकास करना चाहता था तथा इसके लिए अन्य देशों से मशीनें मंगवाना चाहता था। ट्राटस्की भूमि पर राज्य का स्वामित्व रखने के पक्ष में था, जबकि स्टालिन चाहता था कि भूमि का स्वामित्व किसानों के पास होना चाहिए।

इस प्रकार ट्राटस्की व स्टालिन के मतों में भिन्नता होने के कारण, दोनों के मध्य 1929 ई. तक संघर्ष चलता रहा। 1929 ई. में ट्राटस्की को दल से निष्कासित कर दिया गया। अन्ततः ट्राटस्की रूस छोड़कर भागने के लिए विवश हो गया। इस प्रकार लेनिन की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात स्टालिन रूस में सर्वेसर्वा बन बैठा।[1]

स्टालिन की गृह-नीति
(HOME POLICY OF STALIN)

स्टालिन 1929 ई. में रूस का शासक तो वन गया, किन्तु उसके समक्ष अनेक समस्याएं विद्यमान थीं। स्टालिन रूस को प्रत्येक दृष्टि से उन्नत देखना चाहता था। स्टालिन ने 1931 ई. में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, **"हम (रूस) उन्नत देशों की तुलना से पचास अथवा कहना चाहिए सौ वर्ष पिछड़े हुए हैं। हमें हर हालत में इस खाई को दस वर्षों के अन्दर भरना है। या तो हम ऐसा करने में सफल हों अन्यथा वे (उन्नत देश) हमें कुचल देंगे।**[2]

आर्थिक सुधार (Economic Reforms)—स्टालिन के समक्ष सबसे बड़ी समस्या रूस का आर्थिक विकास करने की थी। स्टालिन का विचार था कि आर्थिक विकास करने के लिए योजनाबद्ध नीतियों का होना आवश्यक है, अतः 1925 ई. में स्टालिन ने रूस में **योजना आयोग** (Planning Commission) की नियुक्ति की। इस योजना आयोग के द्वारा **पंचवर्षीय योजना** (Five Years Plan) को प्रारम्भ किया जिसे रूस में **'प्यातीलेत्का'** कहते थे। रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना 1929 ई. में लागू की गई। हेजन ने लिखा है कि, **"यह एक विशद एवं विवरणपूर्ण योजना थी जिसको एक विशेषज्ञ मण्डल ने सावधानी से तैयार किया था और एक ठोस आर्थिक विकास कार्य के लिए बनाई थी।"**[3] रूस में लागू की गई इस प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि व उद्योग दोनों के लिए ही विकास की योजना बनाई गई थी। इस योजना के द्वारा नवीन व्यापारिक विधियों का निर्माण, उत्पादक कारखानों की स्थापना, कृषि-सम्बन्धी उपकरणों के कारखानों की स्थापना, इस्पात कारखानों की स्थापना व रेल मार्गों का निर्माण किया जाना था। इस प्रकार इन उपायों के द्वारा देश के उद्योग की स्थिति सुधारने का प्रयास किया गया था। इसके साथ ही कृषि के विकास के लिए सामूहिक खेती व राजकीय फार्मों (Collective and State Farms) की संख्या में वृद्धि करना व उसका समाजीकरण करना निश्चित किया गया था। यह व्यवस्था व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित थी तथा यह निश्चित किया गया कि बढ़ा हुआ उत्पादन कृषकों में विभाजित कर दिया जाएगा।

रूस में द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1934 ई. में लागू की गई। इस योजना को पहली पंचवर्षीय योजना से भी अधिक कुशलता से तैयार किया गया। इसमें श्रम की उत्पादकता में वृद्धि और उत्पादन व्यय में कमी की ओर विशेष ध्यान दिया गया। यूरोप में उस समय हिटलर का भय बढ़ता जा रहा था, अतः युद्ध सामग्री के उत्पादन की ओर भी इस योजना

---

1 "Within three years of Lenin's death, Stalin outmaneuvered his rivals and became the most powerfull leader in the Soviet government. For a quarter of century (1928—1953) he exercised dictatorial authority." —Ferguson, Bruun, *op. cit.*

2 We (Russians) are fifty or a hundred years behind the advanced countries. We must make good this lag in ten years. Either We do it or they crush us."—*Stalin*

3 हेजन, पूर्वोक्त, पृ. 621।

में ध्यान रखा गया। भविष्य में, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय, रूस को इस दूरदर्शी योजना के कारण बहुत लाभ हुआ। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के समय रूसी सेनाओं के पास अधिकांश सामान स्वदेशी था।

स्टालिन द्वारा लागू की गई पंचवर्षीय योजनाओं व इनके क्रियान्वयन से रूस की आर्थिक स्थिति में अद्‌भुत सुधार हुआ। इस दौरान रूस में अनेक औद्योगिक कारखाने, जल-विद्युत कारखाने, बांध, मजदूरों के लिए मकान, कृषि सम्बन्धी कारखाने, इत्यादि बनाए गए थे जिससे वह रूस जो 1921 ई. में पिछड़े हुए देशों की गिनती में आता था, अब उन्नत देशों की बराबरी करने लगा। इन योजनाओं के कारण रूस यूरोप के प्रमुख देशों में से एक बन गया। हार्डी ने स्टालिन की इस नीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है, **"स्टालिन की आन्तरिक विकास की विशाल योजना सम्बन्धी नीति विश्व के देशों के लिए दोहरे लाभ की प्रमाणित हुई। एक ओर तो इससे रूस द्वारा अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भय दूर हुआ वहीं विश्व शान्ति को बनाए रखने में भी यह नीति सहायक रही।"**

सांस्कृतिक उन्नति (Cultural Development)—स्टालिन ने संस्कृति के क्षेत्र में भी उन्नति करने का प्रयत्न किया। रूसी जनता में अशिक्षितों की संख्या बहुत अधिक थी, अतः शिक्षा पर सरकार द्वारा बहुत अधिक ध्यान दिया गया। सरकार ने 3 वर्ष से 16 वर्ष के बच्चों के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। शिक्षा को निःशुल्क भी बनाया गया। बोल्शेविक सरकार द्वारा तकनीकी शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया। उच्चस्तरीय शोध-कार्यों के लिए प्रयोगशालाओं का भी निर्माण कराया गया। इस प्रकार बोल्शेविक सरकार के प्रयत्नों से शिक्षितों की संख्या में असाधारण गति से वृद्धि हुई। शिक्षा के साथ ही स्त्रियों पर लगे हुए अनेक प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया गया। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये गये। रूस में वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के लिए भी सरकार ने कदम उठाए।

रूसी सरकार ने क्षेत्रीय भाषाओं (Regional languages) को भी प्रोत्साहित किया। भाषा को आधार मानकर प्रान्तों का पुनर्गठन किया गया। अनेक रूसी भाषाओं को लिपिबद्ध किया गया व प्रान्तीय भाषाओं में शिक्षा व कामकाज करने की अनुमति दी गई।

रूसी सरकार के द्वारा मनोरंजन के साधनों का विकास भी किया गया। बच्चों के व बड़ों के लिए क्रीड़ागृह का निर्माण किया गया। नृत्यशालाओं व थिएटरों को भी बनवाया गया।

विरोधियों का दमन (Rebels were Punished)—रूस में अभी तक बोल्शेविक क्रान्ति के अनेक विरोधी विद्यमान थे। बोल्शेविक क्रान्ति को पूर्णता प्रदान करने के लिए स्टालिन इन विद्रोहियों का दमन करना आवश्यक समझता था। अतः स्टालिन ने ढूंढ़-ढूंढ़ कर इन विद्रोहियों को दण्डित किया व अनेक को मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार स्टालिन ने अपनी व सरकार की स्थिति को सुदृढ़ बनाया व रूस में शान्ति की स्थापना की।

नवीन संविधान को लागू करना (1936 ई.) (New Constitution was Implemented)—रूस में 1917 ई. में क्रान्ति हुई थी, तत्पश्चात् 1918 ई. पुनः एक नए संविधान का निर्माण किया गया था। इन दोनों ही संविधानों से समाजवादी व्यवस्था पूर्णतया स्थापित नहीं हो सकी थी। इसके अतिरिक्त 1923 ई. के पश्चात् रूस में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सके थे। अतः रूस में पूर्ण समाजवादी व्यवस्था लागू करने व नवीन परिस्थितियों के अनुरूप नवीन संविधान की आवश्यकता को स्टालिन ने अनुभव किया। अतः 1936 ई. में रूस में

एक नवीन संविधान की रचना की गई, जिसे '**स्टालिन संविधान** (Stalin Constitution) कहा जाता है।

इस संविधान के द्वारा रूस में संघ-राज्य (Federal Government) की स्थापना की गई। इस प्रकार इस नवीन संविधान के द्वारा बने देश को **समाजवादी गणराज्य संघ**[1] (Union of Soviet Socialist Republic) कहा गया। इस संघ में 11 गणराज्य थे।

इस संविधान के द्वारा सर्वोच्च शक्ति **सुप्रीम कौंसिल** (Supreme Council) में निहित थी। सुप्रीम कौंसिल की एक कार्यकारिणी को '**प्रेसीडियम** (Presidium) कहा गया। सुप्रीम कौंसिल की एक अन्य समिति को **लोक प्रबन्धक परिषद्** (Council of Peoples Commissar) कहा गया। संसद में दो सदन थे—(i) **संघीय परिषद्** (Council of Union) व (ii) **राष्ट्रीयताओं की परिषद्** (Council of Nationalities)। संघीय परिषद् जनता के प्रतिनिधियों की संस्था थी, जबकि राष्ट्रीयताओं की परिषद् में जातियों, राज्यों व राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते थे। इन दोनों ही परिषदों का कार्यकाल चार वर्ष था। संघीय परिषद् व राष्ट्रीयताओं की परिषद् को संयुक्त रूप से सुप्रीम कौंसिल (Supreme Council) कहते थे। शासन की सत्ता मन्त्रिमण्डल में निहित थी। प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी था। जिस समय संसद का अधिवेशन न चल रहा हो तब मन्त्री प्रेसीडियम के प्रति उत्तरदायी होते थे।

इस संविधान के द्वारा रूस में विभिन्न स्तर के न्यायालयों की स्थापना की गई। सर्वोच्च न्यायालय 'संघीय सर्वोच्च न्यायालय' था, तत्पश्चात् गणराज्यों के सर्वोच्च न्यायालय, क्षेत्रीय न्यायालय, क्षेत्रीय न्यायालय, लोक न्यायालय तथा विशेष न्यायालय थे।

1936 ई. के संविधान के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। इनके अन्तर्गत काम का अधिकार, निःशुल्क चिकित्सा, वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता, निःशुल्क शिक्षा, आदि थे। प्रत्येक व्यक्ति को सीमित सम्पत्ति रखने का ही अधिकार था तथा श्रम का शोषण किये जाने का घोर विरोध किया गया था।

1936 ई. के रूसी संविधान को निम्नवत् तालिका से समझा जा सकता है।

प्रेसीडियम
(Presidium)
↓
सुप्रीम कौंसिल
(Supreme Council)
↓

संघीय परिषद् (Council of Union) [जनता के चुने हुए प्रतिनिधि, कार्यकाल चार वर्ष]	**राष्ट्रीयताओं की परिषद्** (Council of Nationalities) [जातियों, राष्ट्रों व राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित सदस्य, कार्यकाल 4 वर्ष]

1 इसी समय से रूस को यू. एस. एस. आर. (U. S. S. R.) कहा जाने लगा।

लेनिन एवं स्टालिनकालीन रूस की विदेश नीति
(FOREIGN POLICY OF RUSSIA UNDER LENIN AND STALIN)

1917 ई. में रूस में क्रान्ति हुई। क्रान्ति के परिणामस्वरूप रूस से जार के तानाशाही शासन का अन्त हुआ व बोल्शेविक सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार के समय में रूस में साम्यवादी शासन को लागू किया गया। यूरोप के अन्य देशों के लिए यह एक चौंकाने वाली घटना थी, क्योंकि अधिकांश देश पूंजीवादी थे तथा वहां प्रजातान्त्रिक अथवा राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था विद्यमान थी। रूसी क्रान्तिकारियों को विश्वास था कि उनकी क्रान्ति का प्रभाव विश्व के अन्य देशों पर भी पड़ेगा व वहां भी क्रान्तियां होंगी। लेनिन ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहा था, **"हम सभी राष्ट्रों से शान्ति का आह्वान करेंगे और सभी उपनिवेशों एवं अधीन राज्यों को स्वतन्त्र किये जाने की मांग करेंगे........जर्मनी, इंगलैण्ड और फ्रांस की सरकारें इन मांगों को स्वीकार नहीं करेंगी। अतः हमें संघर्ष के लिए तैयार रहना पड़ेगा हम एशिया के उपनिवेशों एवं अधीनस्थ देशों की पीड़ित एवं शोषित जनता को विद्रोह करने के लिए सुनियोजित ढंग से प्रेरित करेंगे। हम समाजवादी सर्वहारा वर्ग को भी, अपनी-अपनी सरकारों के विरुद्ध विद्रोही बनाएंगे।"**[1] पूंजीवादी देशों ने इस प्रकार की रूसी नीति का घोर विरोध किया व प्रत्युत्तर में यूरोप में फासीवाद व नाजीवाद का जन्म हुआ, क्योंकि यूरोपीय देशों का विचार था कि साम्यवाद का जवाब अधिनायकवाद ही था। रूस में साम्यवाद व साम्यवादी विचारधाराओं को फैलने से रोकने के लिए यूरोप के पूंजीवादी देशों ने यथासम्भव प्रयास किया। इन परिस्थितियों में रूस के लिए किसी भी देश से सम्बन्ध बनाना कठिन था।

1917 ई. से 1945 ई. के बीच रूस को विभिन्न परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। अध्ययन की सुविधा के लिए रूसी वैदेशिक नीति को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(i)	रूसी विदेश नीति	(1917—1921 ई.)
(ii)	,, ,,	(1921—1934 ई.)
(iii)	,, ,,	(1934—1938 ई.)
(iv)	,, ,,	(1938—1939 ई.)
(v)	,, ,,	(1939—1941 ई.)
(vi)	,, ,,	(1941—1946 ई.)

प्रत्येक काल में रूसी वैदेशिक नीति का क्रमवार वर्णन निम्नवत् है :

(i) रूसी विदेश नीति (1917—1921 ई.) (Russian Foreign Policy)—1917 ई. के पश्चात् रूसी वैदेशिक नीति के दो प्रमुख उद्देश्य थे—प्रथम तो यह कि साम्यवादी (बोल्शेविक) क्रान्ति को विश्वव्यापी किस प्रकार बनाया जाय तथा दूसरा, पश्चिमी देशों द्वारा किये जा रहे साम्यवाद के विरोध का सामना किस प्रकार किया जाय। अपने इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए रूस ने अनेक कार्य किये। लेनिन का विचार था कि क्रान्ति साम्यवाद की सफलता का प्रथम चरण था व यह क्रान्ति शीघ्र ही अन्य देशों में भी फैलेगी। लेनिन ने कहा था, **"यूरोप में एक समाजवादी क्रान्ति होगी, यह एक वैज्ञानिक भविष्यवाणी है।"** इस भविष्यवाणी को साकार रूप प्रदान करने के लिए साम्यवादियों ने **"विश्व के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हें**

1 डी. शब, लेनिन पृ. 144।

अपने बन्धनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं खोना है" का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इसी उद्देश्य के लिए मार्च 1918 ई. में **'तृतीय साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय संगठन'** (कामिन्टर्न) की स्थापना मास्को में की। इसका मुख्य कार्य विश्व क्रान्ति की योजना बनाना, पूंजीवादी देशों में साम्यवादी साहित्य भेजना, कृषकों व मजदूरों को क्रान्ति के लिए प्रेरित करना था। इसी कारण पूंजीवादी राष्ट्र कामिन्टर्न पर विशेष नजर रखते थे। कामिन्टर्न के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वानलाव ने लिखा है, **"कामिन्टर्न की स्थापना के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन, सोवियत संघ के वैदेशिक सम्बन्धों का एक स्थायी तत्व बन गया था।"**[1]

रूस के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अनेक देशों में क्रान्तियां तथा विद्रोह हुए। 1919 ई. में हंगरी में साम्यवादी (Communist) शासन की स्थापना हुई, किन्तु पूंजीवादी राष्ट्रों ने इसे असफल बना दिया। कामिन्टर्न ने 1919 ई. में बवेरिया में भी विद्रोह कराया। 1920 ई. में इटली के विभिन्न भागों में भी साम्यवादी आन्दोलन हुए। कामिन्टर्न द्वारा अनेक देशों में साम्यवादी आन्दोलन कराने के प्रयास किये गए, किन्तु वह सफल न हो सके।

3 मार्च, 1918 ई. को रूस द्वारा जर्मनी के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि की गयी। इससे मित्र राष्ट्र रूस से नाराज हो गए, क्योंकि उन्होंने इसे इन्हें हराने के लिए उठाया हुआ एक कदम समझा। रूस की सरकार ने जार द्वारा पश्चिमी देशों से लिये गये ऋण को भी लौटाने से इन्कार कर दिया। इससे भी रूस व पश्चिमी देशों के सम्बन्ध 1917 ई. से 1921 ई. के मध्य अत्यन्त कटु बने रहे।

(ii) रूसी विदेश नीति (1921 ई.—1934 ई.) (Foreign Policy of Russia)—रूसी विदेश नीति के इस चरण में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रूस अपनी आन्तरिक स्थिति व जर्जर आर्थिक स्थिति के कारण इस बात के लिए विवश हुआ कि वह अपनी नीति में परिवर्तन करे। शूमां ने लिखा है, "1921 ई. का वर्ष **सोवियत रूस की आन्तरिक एवं बाह्य नीति में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन का समय था।"**[2] रूस की वैदेशिक नीति के इस समय तीन प्रमुख उद्देश्य थे :

(अ) जर्मनी को पश्चिमी देशों के गुट में न जाने देना।

(ब) पश्चिमी देशों से कूटनीति सम्बन्ध स्थापित करना।

(स) पश्चिमी राष्ट्रों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करके अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना।

अपनी इस नीति के अन्तर्गत रूस ने अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु पश्चिमी देश ऐसा करने के लिए उत्सुक न थे। रूस के विदेशमन्त्री चिचेरिन के प्रयत्नों से को जेनेवा में होने वाले सम्मेलन में आमन्त्रित किया गया। रूस ने इस सम्मेलन में पश्चिमी देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। फिर भी अप्रैल, 1922 ई. में हुए इस जेनेवा सम्मेलन से रूस को अनेक लाभ हुए। रूस व इटली के मध्य एक व्यापारिक सन्धि हो गई। इससे अधिक महत्वपूर्ण जर्मनी के साथ 16 अप्रैल, 1922 ई. को हुई **रैपेलो की सन्धि** (Teraty of

---

1 वान लाव, द डिप्लोमेट्स, पृ. 237।
2 **"The year 1921 marked a sharp turning point, both in the internal politics and in the foreign relations of the Soviet Government."** —***Schuman***

Rapallo) थी। इस सम्मेलन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए हार्डी ने लिखा है **"इस सम्मेलन का एक-मात्र मूर्त परिणाम रूस और जर्मनी के बीच रैपेलो की सन्धि का होना था जिसने अन्य देशों के संशय व अविश्वास को और बढ़ा दिया।"**[1]

रैपेलो की सन्धि के द्वारा जर्मनी ने रूस को मान्यता (Recognition) प्रदान की व दोनों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इस प्रकार इस सन्धि से रूस को बहुत लाभ हुआ। लैंगसम ने इसके महत्व के विषय में लिखा है : **"इस सन्धि ने रूस की लन्दन और पेरिस पर निर्भरता को कम कर दिया।"**[2] ई. एफ. कार ने भी इसके विषय में लिखा है, **"दो अभिशक्त स्वाभाविक रूप से एक साथ मिल गए तथा रैपेलो की सन्धि ने दोनों को दस वर्षों से भी अधिक समय के लिए मित्र बनाए रखा।"**[3]

इसके अतिरिक्त भी रूस ने अनेक सन्धियां कीं। 1922 ई. में तुर्की, 1926 ई. में जर्मनी व लिथुआनिआ, 1927 ई. में ईरान, पोलैण्ड, लाटविया व 1932 ई. में इस्टानियों से सन्धि की। इसी बीच इंगलैण्ड, फ्रांस व इटली ने रूस को मान्यता प्रदान कर दी। रूस यद्यपि पश्चिमी देशों से सम्वन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु कामिन्टर्न के कारण इस कार्य में कठिनाई होती थी। इस विषय में शूमां का उपरोक्त कथन उल्लेखनीय है, **"सोवियत राजनीतिज्ञ सहयोग की बातें करते, लेकिन कामिन्टर्न क्रान्ति का उपदेश देता था।"**[4]

(ii) रूसी विदेशी नीति (1934 ई.—1938 ई.) (Russian Foreign Policy)—यूरोप में इस काल में कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिन्होंने रूसी विदेश नीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इसी काल में जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ जो साम्यवाद का घोर दुश्मन था तथा साम्यवाद को जड़ से समाप्त करना चाहता था। हिटलर के अभ्युदय ने रूस में घोर संकट उत्पन्न कर दिया, क्योंकि पश्चिमी राष्ट्र पहले से ही उसके विरोधी थे। अतः रूस के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी सुरक्षा के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से मित्रता करे। शूमां ने तत्कालीन स्थिति के विषय में लिखा है, **"फासीवाद के कारण रूस का समाजवादी व उदारवादी राष्ट्रों के साथ सहयोग अनिवार्य हो गया.......इसका परिणाम सोवियत कूटनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का पुनर्वाचन था।"**[5]

अतः रूस ने पोलैण्ड, ईरान, लाटविया, अफगानिस्तान, आदि के साथ समझौते किए। रूस ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता भी ग्रहण कर ली व उसका घोर समर्थक बन गया। 1932 ई. में रूस ने फ्रांस के साथ परस्पर सहयोग की सन्धि की। फ्रांस भी जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत था, अतः वह इस सन्धि के लिए तैयार हो गया। इसी वर्ष रूस ने चैकोस्लोवाकिया

1 गैथार्न हार्डी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 87।

2 "It lessened the Soviet dependence upon the good will of London and Paris." —*Langsam*

3 "The two outcasts naturally joined hands and the Rapallo treaty established friendly relations between them for more than ten years." —*E. H. Carr*

4 "Soviet diplomates offered Co-operation but Comintern preached revolution." —*Schuman*

5 "To Prevent Destruction of the Communist movement throughout the world. Moscow must co-operate with socialists and liberals against Fascism. The Result was revolution in Soviet diplomacy and a reorientation of international Communalism." —*Schuman*

से भी सन्धि की। रूस की इस नीति को फासिस्टवादी शक्तियों ने गम्भीरता से लिया व साम्यवाद के विरुद्ध **एण्टी कामिन्टर्न समझौता** (Anti-Commintern Pact) किया।

इस प्रकार 1934—1938 ई. के मध्य यद्यपि रूस ने पश्चिमी देशों के साथ सहयोग की नीति अपनाई, किन्तु व्यावहारिक रूप में यह मित्रता वास्तविक न हो सकी। पश्चिमी देश फासिस्टवाद व साम्यवाद में परस्पर संघर्ष कराना चाहते थे, रूस से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। शूमां ने लिखा है, **"इस उद्वेगपूर्ण मैत्री भाव में पारस्परिक विश्वास का अभाव था।"**[1] इस प्रकार पश्चिमी देश साम्यवाद व फासिस्टवाद दोनों को ही रोकना चाहते थे। इसी कारण 1938 ई. के म्यूनिख सम्मेलन में इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली व जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया का विभाजन कर दिया तथा रूस को इस सम्मेलन में आमन्त्रित भी नहीं किया गया। रूस के लिए यह अत्यन्त चिन्ता का विषय बन गया व उसे इंगलैण्ड और फ्रांस पर विश्वास न रहा।

(iv) रूस की विदेश नीति (1934 ई.—1939 ई.) (Russian Foreign Policy)— म्यूनिख समझौते के कारण रूस की स्थिति अत्यन्त दुरूह हो गई। इस समझौते ने उसे पुनः मित्रविहीन कर दिया था। यूरोप में युद्ध की आशंका बढ़ती जा रही थी। रूस स्वयं को युद्ध से अलग रखना चाहता था। रूस को यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध से बचने का एक मात्र रास्ता जर्मनी से सन्धि करने का था। अतः उसने इस दिशा में प्रयत्न किये व अगस्त 1939 ई. में जर्मनी से उसने अनाक्रमण सन्धि कर ली।

(v) रूस की विदेश नीति (1939 ई.—1941 ई.) (Foreign Policy of Russia)—रूस व जर्मनी के मध्य हुई इस सन्धि ने पश्चिमी देशों को चिन्तित कर दिया। रूस व जर्मनी के मध्य सन्धि हिटलर की महान् उपलब्धि थी। इस सन्धि के होते ही जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस ने प्रारम्भ में इस युद्ध में भाग नहीं लिया व अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि करने में लगा रहा। जर्मनी की सेनाओं के पोलैण्ड में प्रवेश करने के बाद रूस ने भी पूर्वी पोलैण्ड पर अधिकार कर लिया। इसके बाद रूस ने एस्टोनिया, लेटेविया तथा लिथुआनिआ पर जुलाई 1940 मेंअधिकार कर लिया। रूस ने फिनलैण्ड के भी अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात रूमानिया के भी कुछ भू-भाग पर रूस ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार इस अवधि में रूस ने अपनी सीमाओं को सुरक्षित किया, लेकिन रूस की बढ़ती हुई शक्ति ने हिटलर को चिन्ता में डाल दिया व वह रूस पर आक्रमण की योजना बनाने लगा, ताकि उसकी शक्ति को कुचला जा सके तथा उन स्थानों पर भी अधिकार किया जा सके जहां तेल व अनाज के भण्डार थे।[2] जापान ने जर्मनी का विरोध किया व रूस के साथ अप्रैल 1914 ई. अनाक्रमण की सन्धि कर ली।

(vi) रूस की विदेश नीति (1941 ई.—1945 ई.) (Foreign Policy of Russia)—22 जून, 1941 ई. को जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के कारण रूस ने पुनः पश्चिमी देशों से मित्रता का हाथ बढ़ाया। रूस इस समय तक शक्तिशाली हो चुका था तथा मित्र राष्ट्रों को जर्मनी के विरुद्ध सहायता की आवश्यकता थी। अतः मई,

1 शूमां, इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स, पृ. 530।

2 यूक्रेन में अनाज के भण्डार व काकेशस में तेल के कुएं थे।

1941 में इंगलैण्ड व जून में रूस की विशेष सहायता न की, तथापि रूस ने जर्मनी की सेनाओं को सफल न होने दिया। अन्ततः जर्मनी की पराजय हुई।

स्टालिन का मूल्यांकन
(ESTIMATE OF STALIN)

स्टालिन निःसन्देह एक योग्य प्रशासक था। उसने वास्तविक अर्थों में रूस का निर्माण किया। जिस समय वह शक्ति में आया रूस की आन्तरिक स्थिति, आर्थिक स्थिति जर्जरित थी तथा विदेशों में सम्मान न था। रूस को एक पिछड़ा हुआ देश माना जाता था, किन्तु अपनी कुशल नीतियों के द्वारा न केवल उसने रूस को एक समृद्धशाली देश बनाया वरन् ऐसा संविधान भी प्रदान किया जो आज भी लगभग उसी रूप में विद्यमान है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उसने न केवल रूस के लिए सम्मान अर्जित किया वरन् रूस को विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में ला खड़ा किया। स्टालिन के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए वेन्स ने लिखा है, "1941 ई. में रूस नेतृत्व, जनशक्ति, सैन्य शक्ति, कृषि एवं औद्योगिक संसाधनों के कारण उस पर (रूस) होने वाले आक्रमण का सामना करने के लिए 1914 ई. की तुलना में कहीं अधिक सुसज्जित था। निःसन्देह यह सब कुछ रूस को स्टालिन ने ही उपलब्ध कराया था।

6 मार्च, 1953 ई. को स्टालिन की मृत्यु हुई।

प्रश्न

1. रूस की 1917 ई. की क्रान्ति के कारणों एवं परिणामों का वर्णन कीजिए।
2. रूस की बोल्शेविक क्रान्ति से आप क्या समझते हैं? इसके कारणों एवं परिणामों का वर्णन कीजिए।
3. लेनिन की नवीन आर्थिक नीति (N. E. P.) का वर्णन कीजिए। रूस को इससे क्या लाभ हुए? (पूर्वांचल, 1990, 92; लखनऊ, 93)
4. रूस के उत्थान के लिए लेनिन द्वारा किये गये कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. स्टालिन द्वारा रूस की उन्नति के लिए किये गये कार्यों का वर्णन कीजिए।
6. स्टालिन की गृह-नीति का वर्णन कीजिए।
7. लेनिन एवं स्टालिन की वैदेशिक नीति का वर्णन कीजिए।
8. 1929 ई. से 1945 ई. तक रूस की विदेश नीति के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, 1991, 93; पूर्वांचल, 91)
9. स्टालिन के नेतृत्व में समाजवाद के विकास को रेखांकित करें। (गोरखपुर, 1990)
10. स्टालिन द्वारा प्रारम्भ किये गए सुधारों एवं सोवियत संघ पर उनके प्रभावों की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, 1996)

8

मुस्तफा कमाल पाशा एवं तुर्की का नवनिर्माण

[MUSTAFA KEMAL PASHA AND REGENERATION OF TURKEY]

भूमिका
(INTRODUCTION)

लगभग 18वीं शताब्दी से टर्की-साम्राज्य लड़खड़ा रहा था और उसकी इस हालत के कारण ही उसे 'यूरोप का रोगी' कहकर पुकारा जाता था। इस स्थिति के होते हुए भी टर्की का अस्तित्व अभी भी बना हुआ था। इतिहासकार लिप्सन के शब्दों में, **"18वीं और 19वीं शताब्दी में टर्की के जीवित रहने का कारण उसकी अपनी शक्ति न थी वरन् उसके पड़ोसियों की स्पर्धा एवं दुर्बलता थी।"**[1] प्रथम महायुद्ध ने तो उसे विनाश के कगार पर ही लाकर खड़ा कर दिया था। प्रथम विश्व-युद्ध में सम्पूर्ण केन्द्रीय यूरोपीय देशों में टर्की की पराजय सर्वाधिक भीषण थी। युद्ध के पश्चात् उसे सेव्र की अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे और उसका साम्राज्य केवल अनातोलिया के पर्वतीय भाग एवं कुस्तुन्तुनिया के कतिपय प्रदेश तक ही सीमित रह गया था, किन्तु युद्धोपरान्त टर्की को भाग्य से मुस्तफा कमाल पाशा का नेतृत्व प्राप्त हो गया। गैथॉर्न हार्डी के शब्दों में, **"तुर्की की राष्ट्रीय भावना को उसका भाग्य निर्माता मिल गया था।"**[2] तुर्की के हताश एवं निरुत्साहित लोगों में मुस्तफा कमाल पाशा ने एक नया विश्वास जगाया एवं शीघ्र ही तुर्की का नवनिर्माण कर डाला।

मुस्तफा कमाल पाशा का जीवन-परिचय
(LIFE-SKETCH OF MUSTAFA KEMAL PASHA)

'आधुनिक तुर्की का जनक' (अतातुर्क) के नाम से प्रसिद्ध मुस्तफा कमाल पाशा का जन्म 1881 ई. में सलोनिका के अलबेयिन परिवार में अली रजा एफन्दी के घर में हुआ था। उसका पिता अली रजा एफन्दी प्रारम्भ में एक साधारण सरकारी कर्मचारी था, परन्तु कालान्तर में वह लकड़ी का व्यापारी हो गया, किन्तु मुस्तफा कमाल पाशा को बाल्यकाल से ही पिता सुख से वंचित होना पड़ा। 1888 में अली रजा एफन्दी की मृत्यु हो गई। मुस्तफा कमाल का

---

1 "In the eighteenth and nineteenth centuries Turkey owed her survival not her own inhernet but to the weakness and jealousies of her neighbours." —*Lipson*

2 Grathorne Hardy, *A Short History of International Affairs*, p. 188.

पालन-पोषण उसकी मां जुबेद ने किया। अपनी मां की इच्छा की परवाह न करते हुए उसने सलोनिका सैनिक विद्यालय में प्रवेश लिया। तदुपरान्त उसने मोनार्सटर एकेडमी (Monarster Military Academy) में शिक्षा प्राप्त की। 1899 ई. में उसने इस्ताम्बुल के युद्ध महाविद्यालय (war college) में प्रवेश लिया जहां पर अध्ययन करते हुए कमाल पर फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो एवं वाल्टेयर के विचारों का गम्भीर प्रभाव पड़ा। तुर्की के महान् राजनीतिज्ञ एवं लेखक जिनमें मिद्दत पाशा, जिया पाशा एवं नामी कमाल विशेष उल्लेखनीय हैं उसके आदर्श बन गए। इसका गम्भीर प्रभाव यह पड़ा कि मुस्तफा कमाल पाशा तुर्की के नवनिर्माण का स्वप्न देखने लगा। **युद्ध महाविद्यालय के शिक्षकों ने मुस्तफा की योग्यता से प्रभावित होकर 'कमाल' के नाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया।** 1905 ई. में अपनी शिक्षा पूर्ण कर वह एक सैनिक पदाधिकारी बन गया।

मुस्तफा कमाल की शक्ति में आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई जो कि उस जैसे योग्य व्यक्ति को ही मिल सकती थी। जब उसे दमिश्क में द्रुज के विद्रोहियों के दमन हेतु भेजा गया तो उसने वहां वतन नामक स्थानीय क्रान्तिकारी संगठन का पुनर्गठन कर उसे **'फादरलैण्ड एण्ड फ्रीडम सोसाइटी'** (Fatherland & Freedom Society) का नाम दिया। 1907 ई. में उसे मेजर बनाकर सलोनिका भेजा गया जहां वह **'एकता एवं प्रगति समिति'** की कार्यवाहियों में भाग लेने गया, किन्तु 1908 की युवा-तुर्क क्रान्ति से वह सन्तुष्ट न हुआ। 1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध में मेल्लीपोली के युद्ध ने तो उसे लोकनायक बना दिया फलतः 1916 में वह जनरल बन गया। 1918 ई. में उसे नवीं सेना का इन्सपेक्टर जनरल बनाकर समसून (Samsun) भेजा गया, जहां उसे ओटोमन सेना को विखण्डित करना था, परन्तु मुस्तफा ने वहां ओटोमन सेना का संगठन आरम्भ कर दिया। तुर्की की सरकार ने उसे वापस बुला लिया। कमाल ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया एवं अब वह पूर्वी एनातोलिया के अधिकारों के लिए कार्य करने लगा। 23 जुलाई, 1919 ई. को अजेरुम (Ezerum) में होने वाले पूर्वी प्रदेशों के प्रतिनिधि सम्मेलन का उसने सभापतित्व किया। 14 सितम्बर, 1919 को सवास के सम्मेलन में तो कमाल के नेतृत्व में एक स्थायी कार्य समिति का गठन हुआ। उसके अंगोरा में एक **महान् राष्ट्रीय परिषद** (Grand National Council) की स्थापना की और इसका अध्यक्ष बना, और नारा दिया **'तुर्की—तुर्की वालों के लिए है'**[1]। उसने परिषद् को मान्यता दिलाने में भी सफलता प्राप्त कर ली। 11 मई, 1919 ई. को एक सैनिक अदालत ने कमाल को मृत्युदण्ड देने की घोषणा की—इस पर अंगोरा की राष्ट्रीय परिषद् ने सुल्तान के विरुद्ध कदम उठाते हुए सेव्र की सन्धि का विरोध करना आरम्भ कर दिया और मुस्तफा को देश की रक्षा का दायित्व सौंप दिया। सेव्र की सन्धि को बलपूर्वक लागू कराने के लिए तत्पर यूनानी फौजों को कमाल की राष्ट्रवादी सेना ने सितम्बर 1922 तक एशिया माइनर से खदेड़ दिया। तुर्की के देशभक्त कमाल के साथ थे जो कि सेव्र की अपमानजनक सन्धि को सहन करने को तैयार न थे। 1 नवम्बर, 1922 को तुर्की में सुल्तान के पद को भंग कर दिया गया। तुर्की को एक स्वतन्त्र गणतन्त्र घोषित कर दिया गया, जिसका प्रथम राष्ट्रपति मुस्तफा कमाल पाशा बना।

1 "Turkey for the Turks."

शत्रु पक्ष सेव्र की सन्धि के स्थान पर लोजान की सन्धि करने पर बाध्य हुए जो कि तुर्की के राष्ट्रवादियों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। Lenczowski **के शब्दों में, "लोजान की सन्धि तुर्की राष्ट्रवादियों के लिए विजय का एक संकेत थी। इस संकेत से कमाल की सरकार ने औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय पहचान प्राप्त कर ली और ओटोमन परम्परा के अवशेषों को सदा के लिए दफना दिया।"**[1]

सदियों से चला आ रहा ओटोमन राजतन्त्र धराशायी हो गया और उसके स्थान पर सशक्त गणतन्त्र का बीजारोपण हुआ, जिसे मुस्तफा ने अपनी मृत्यु (10 नवम्बर, 1938 तक) पर्यन्त अपने कुशल नेतृत्व से सिंचित किया और तुर्की को एक नवजीवन प्रदान किया। उसके कार्यों के कारण उसे **'गाजी'** की उपाधि प्रदान की गई एवं पश्चात् में वह **'अतातुर्क'** (तुर्कों का पिता) के नाम से विख्यात हुआ।

तुर्की की गृह-नीति/कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की का नवनिर्माण
[HOME POLICY OF TURKEY (REGENERATION OF TURKEY UNDER KEMAL PAHSA)]

मुस्तफा कमाल पाशा ने अपने अदम्य उत्साह से प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की को नष्ट होने से बचा तो लिया था, किन्तु अभी उसे तुर्की का नव-निर्माण भी करना था क्योंकि नवरोपित गणतन्त्र की जड़ें तभी जम सकती थीं और विश्व के देशों में तुर्की का सम्मान से नाम तभी लिया जा सकता था। वह एक अत्यन्त कठिन एवं परीक्षा का समय था। **मुस्तफा कमाल पाशा ने जो कि विद्यार्थी काल से तुर्की के नवनिर्माण का स्वप्न देखा करता था इस गम्भीर चुनौती को स्वीकार किया और नए सिरे से तुर्की का गठन करने के लिए एक राजनीतिक दल (लोक दल—Peoples Party) का गठन किया।** यह दल पश्चात् में गणतन्त्र दल (Republic Party) के नाम से विख्यात हुआ। दल का सर्वोच्च नेता वह स्वयं था, जिसकी बात दल के सभी सदस्य मानते थे। एक प्रकार से उसने तुर्की में प्रबुद्ध निरंकुश शासक की भांति शासन किया जो कि तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता पर नियन्त्रण के लिए आवश्यक था।

कमाल पाशा अपने स्वप्न के तुर्की के लिए तुर्की में आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति को आवश्यक मानता था। देश के आर्थिक ढांचे में क्रान्तिकारी पुनर्गठन एवं तुर्की के राजनीतिक जीवन को एक नई दिशा की आवश्यकता थी। अतः कमाल ने पश्चिमी शक्तियों की अवहेलना करके भी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को अपना कोई संकोच नहीं किया। अतः उसने एक विस्तृत सुधार योजना बनाई। Lenczowski के शब्दों में, **"सामान्यतः तुर्की सुधार का प्रमुख उद्देश्य तुर्की को प्राचीन एशियाई-अरबी संस्कृति एवं परम्परा से दूर रखना था और उसे एक आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में रंगे हुए राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना था।"**[2]

कमाल की विस्तृत सुधार योजना को जो कि 6 सिद्धान्तों पर आधारित थी, अंकारा की तीसरी कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। 'गणतन्त्रवाद, राष्ट्रवाद, लोकवाद, अर्थवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद

1 "The treaty of Lausanne was a singal victory for the Turkish nationalists, By signing it, Kemal's government obtained formal international recognition and buried for ever the remnants of Ottoman tradition."
—Lenczowski, *The Middle East in the World Affair*, p. 109.

2 "The major objective of Turkish reform was in general sense to separate Turkey from the ancient Asiatic-Arabic sphere of culture and tradition and to transform her into a modern, westernised nation."
—Lenczowski, *The Middle East in the World Affair*, p. 121.

एवं क्रान्तिवाद'—ये सिद्धान्त जो कि नव तुर्की गणतन्त्र के मौलिक राजनीतिक सिद्धान्त थे और जिन्हें 1931 में 'गणतन्त्र दल' ने मान्यता भी दे दी थी। इतिहास में **'कमालवाद के 6 सिद्धान्त'** (Six Principles of Kemalism) के नाम से भी जाने जाते हैं। **इन सिद्धान्तों को** 1936 में तुर्की संविधान का अंग स्वीकार कर लिया गया। **कमाल के उक्त 6 सिद्धान्तों और उन पर आधारित किए गए सुधारों जिसने तुर्की की कायापलट कर दी, का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है :**

(1) **गणतन्त्रवाद** (Republicanism)—मुस्तफा कमाल पाशा का प्रथम सिद्धान्त गणतन्त्रवाद का था। वह तुर्की में गणराज्य की स्थापना करना चाहता था। 20 जनवरी, 1921 ई. को उसने स्पष्ट घोषित किया कि प्रभुसत्ता पूर्णतः राष्ट्र में निहित है। अतः सर्वप्रथम उसने 1 नवम्बर, 1922 को सुल्तान के पद की समाप्ति की घोषणा कर दी। 29 अक्टूबर, 1923 को तुर्की को एक गणतन्त्रात्मक राज्य घोषित कर दिया गया। कमाल पाशा इस गणतन्त्रात्मक राज्य का अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। नया संविधान 20 अप्रैल, 1924 को लागू किया गया। **संविधान में जनता की सम्प्रभुता को सर्वोच्च बताते हुए राज्य के अधिकारों का स्रोत भी जनता को ही बताया गया।** संविधान में देश में एक राष्ट्रीय सभा नामक संसद का प्रावधान रखा गया, जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होने थे। संसद की कार्यकाल की अवधि चार वर्ष निश्चित की गई तथा कार्यपालिका को इसके प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। यही नहीं, व्यक्ति के मूल अधिकारों की भी बात कही गई।

इस प्रकार मुस्तफा कमाल पाशा ने तुर्की में प्रजातान्त्रिक शासन पद्धति की नींव डाल दी। लम्बे समय से तुर्की के देशभक्त एवं राष्ट्रवादी जिस प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए संघर्षरत थे, उसे कमाल ने पूर्ण कर तुर्की के इतिहास की धारा को ही बदल दिया। निःसन्देह यह तुर्की के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस सन्दर्भ में यह भी विवेच्य है कि उसके द्वारा प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति का जो स्वरूप निर्धारित किया गया वह **पाश्चात्य प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति पर आधारित था।**[1]

तुर्की में प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की नींव तो पड़ चुकी थी, किन्तु उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के उन्मूलन हेतु प्रतिक्रियावादियों ने षड्यन्त्र आरम्भ कर दिया। 15 जून, 1926 को इजमिर में जिया खुरशीद के नेतृत्व में कतिपय प्रतिक्रियावादी तत्वों द्वारा कमाल की असफल हत्या का प्रयत्न इसका स्पष्ट उदाहरण था। अतः कमाल ने तुरन्त आपातकालीन अधिनियम लागू कर दिया, किन्तु 4 मार्च, 1929 को इस अधिनियम की अवधि समाप्त होते ही कमाल ने लोकतन्त्र के पुनरुद्धार पर बल दिया, और जनतन्त्र के सफल संचालन हेतु विरोधी दल के विकास पर बल दिया। यह एक अलग बात है कि तुर्की में विरोधी दल का विकास न हो पाया, किन्तु कमाल के प्रयत्नों की महत्ता को इस आधार पर कम नहीं आंका जा सकता।

(2) **राष्ट्रवाद** (Nationalism)—मुस्तफा कमाल पाशा राष्ट्रवादी था। उसका राष्ट्रवाद किसी धर्म या जाति पर आधारित न होकर सामान्य नागरिकता एवं राष्ट्रीय आदर्शों पर

1 "The letter of the constitution thus provided a legal framework for the new Turkish State. It was characteristic of new Turkish trends that the constitution followed a western, democratic pattern."

—Lenczowski, *The Middle East in the World Affair*, p. 118.

आधारित था। उसकी धारणा थी कि तुर्की में राष्ट्रवाद के विकास का आधार पश्चिमी संस्कृति पर आधारित होना चाहिए जिससे तुर्की पश्चिमी देशों के समकक्ष अपना स्थान निर्धारित कर सके। यह तभी सम्भव हो सकता था जबकि तुर्की प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों से सम्पर्क तोड़कर नवोदित पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के आलोक में प्रवेश करता, अतः कमाल ने तुर्की में निम्नलिखित क्षेत्रों में सुधार योजना लागू की :

(अ) **शिक्षा सम्बन्धी सुधार**—राष्ट्रीयता की भावना के विकास में शिक्षा की महत्ता को समझकर मुस्तफा ने तुर्की में प्रचलित धर्म-प्रभावित एवं रूढ़िवादी शिक्षण पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन कर प्राइमरी माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा प्रबन्ध आधुनिक पाश्चात्य पद्धति पर किया। **प्राथमिक शिक्षा** को अनिवार्य एवं निःशुल्क कर दिया गया। **शिक्षण संस्थाओं** में उद्योग एवं कृषि आदि विषयों का अध्यापन आरम्भ हुआ, शिक्षा का स्तर ऊंचा करने के लिए विदेशों से शिक्षकों को तुर्की में आमन्त्रित किया गया। स्विट्ज़रलैण्ड के **'प्रोफेसर माल्के'** को विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षण पद्धति हेतु एक योजना बनाने हेतु आमन्त्रित किया गया। उसके द्वारा प्रस्तुत योजना के अनुरूप कालेजों में **औषधि विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास** एवं **नागरिक सेना** का अध्ययन कराया गया। इस्ताम्बुल में एक मेडिकल कालेज खोला गया। इस कालेज में 20 विदेशी प्राध्यापक रखे गए। **कूटनीतिशास्त्र** एवं **नागरिक सेना** के विशेष अध्ययन हेतु **अंकारा** में एक कालेज खोला गया। खेलकूद एवं शारीरिक व्यायाम पर विशेष बल दिया गया।

(ब) **भाषा एवं लिपि सम्बन्धी सुधार**—शिक्षा के प्रसार के लिए भाषा एवं लिपि का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः शिक्षा व्यवस्था तभी पूर्ण से सुधारात्मक हो सकती थी जबकि भाषा एवं लिपि में भी सुधार होता। अभी तक तुर्कों की अपनी लिपि नहीं थी। वे अरबी लिपि का प्रयोग करते थे। मुस्तफा कमाल पाशा राष्ट्रीय एकता के लिए तुर्कों की अपनी लिपि का प्रयोग आवश्यक मानता था। 1926 ई. में आयोजित तुर्क-भाषा भाषी सम्मेलन ने अरबी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि के प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया था। अतः कमाल ने 1928 ई. में रोमन लिपि के प्रयोग हेतु प्रचार अभियान आरम्भ कर दिया। 3 नवम्बर, 1928 को एक कानून द्वारा यह घोषणा कर दी गई कि वर्ष का अन्त होते-होते तुर्की भाषा के लिए रोमन लिपि का प्रयोग आवश्यक कर दिया और यह भी स्पष्ट घोषित कर दिया कि अरबी लिपि का प्रयोग सार्वजनिक रूप में नहीं होना चाहिए। 1929 ई. में तो अरबी एवं फारसी शिक्षा को ही माध्यमिक स्कूलों में दिया जाना बन्द कर दिया गया। सरकारी नौकरी हेतु रोमन लिपि का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया और कुरान व हदीस की आयतों का रोमन लिपि में अनुवाद कराया गया। नवीन लिपि के प्रसार हेतु विदेशों से छापेखाने एवं मशीनें आयात की गईं। सरकार ने स्वयं **'अनातोलियन न्यूज एजेन्सी'** नामक समाचार एजेन्सी स्थापित की। यही नहीं, 12 जुलाई, 1932 को **'तुर्की भाषा परिषद्'** की स्थापना की गई जिसका मूल उद्देश्य तुर्की भाषा के **प्राचीन गौरव की पुनः स्थापना था। प्रथम तुर्की भाषा सम्मेलन** में जिसका आयोजन सितम्बर 1932 में हुआ तुर्की भाषा से अरबी-फारसी शब्दों को निकालने का कार्य किया गया और प्राचीन लेखों को खोजकर नए शब्द व परिभाषाएं तैयार की गयीं। **फलस्वरूप शीघ्र ही शुद्ध तुर्की भाषा का अस्तित्व सामने आ गया। शिक्षा के क्षेत्र में नवीन जागृति आ गई। सम्पर्क तुर्की एक बड़ा स्कूल हो गया और प्रत्येक व्यक्ति नई तुर्की लिपि सीखने लगा।''** इस प्रकार भाषा व लिपि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन सामने आए।

(स) नए इतिहास की परिकल्पना—1930 ई. में तुर्की इतिहास-परिषद् की स्थापना की गई जिसका मूल उद्देश्य तुर्की परम्परा को ऐतिहासिक आधार प्रदान करना था। इस परिषद् का पहला सम्मेलन 1932 ई. में अंकारा में हुआ। कमाल के निर्देशानुसार सम्मेलन में तुर्क जाति को आर्य बताया गया और कहा गया कि पश्चिमी एशिया में सभ्यता एवं संस्कृति का प्रथम वाहक तुर्क ही थे। अनातोलिया को प्रारम्भ से ही तुर्कों का देश कहा गया। इस प्रकार कल्पित नए इतिहास में तुर्कों की असली नस्ल[1] को छिपाकर यह कहा गया कि तुर्क अंकारा के मूल निवासी हैं। तुर्की के सभी स्कूलों में इसी नए कल्पित इतिहास को पढ़ाया जाने लगा।

(द) शहरों के नाम में परिवर्तन—शहरों के प्राचीन नाम बदलकर यूरोपीय शहरों पर आधारित नए नाम दिए गए। कान्स्टेण्टिनोपुल का नाम बदलकर इस्ताम्बुल, अंगोरा का नाम अंकारा, एड्रियानोपुल को एडिरने एवं स्मर्ना को इजमीर के नाम से पुकारा जाने लगा।

(य) फारसी उपाधियों का अन्त—तुर्कों में फारसी उपाधि धारण करने का अत्यधिक प्रचलन था। कमाल ने इसे राष्ट्रीयता के विकास में बाधा समझकर फारसी उपाधि धारण करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, उसने स्वयं **'मुस्तफा'** की उपाधि का त्याग कर अपना **'अतातुर्क'** उपनाम रखा। 1 जनवरी, 1935 से सभी लोगों के लिए फारसी उपनामों के स्थान पर तुर्की उपनाम रखना अनिवार्य कर दिया गया।

(र) वेशभूषा में सुधार—कमाल पाशा तुर्कों के परिधान का भी यूरोपीयकरण करना चाहता था। अतः उसने 25 नवम्बर, 1925 को एक कानून द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए फेज की टोपी पहनने एवं स्त्रियों को बुरका पहनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। सभी के लिए छज्जेदार टोपी पहनना अनिवार्य कर दिया। ऐसा न करने पर इसे अपराध घोषित किया गया। कट्टरपन्थियों के लिए एक असह्य घटना थी क्योंकि टोप पहनकर नमाज नहीं पढ़ी जा सकती थी, परन्तु कानूनन छज्जेदार टोप न पहनना अपराध घोषित किया जा चुका था। अतः प्रतिक्रियावादियों ने कमाल का जबरदस्त विरोध किया, परन्तु कमाल ने विरोधियों का कठोरतापूर्वक दमन ही नहीं किया अपितु अब सभी तुर्कों के लिए यूरोपीय पोशाक पहनने की आज्ञा भी घोषित कर दी गई।

(ल) स्त्रियों की स्थिति में सुधार—तुर्की में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी, कमाल पाशा ने स्त्री जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उसने पर्दा प्रथा का अन्त किया। स्त्रियों की शिक्षा हेतु स्कूल खोले गए, सामाजिक स्तर में सुधार लाने के लिए मनोरंजन क्लब खोले गए तथा प्रेम विवाह को कानूनी मान्यता दे दी गई। **बहु-विवाह प्रथा का अन्त कर दिया गया।** तलाक के सम्बन्ध में स्त्री एवं पुरुष दोनों को समान अधिकार प्रदान किए गए। 17 वर्ष से कम उम्र की लड़की से विवाह कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया। स्त्रियों को मतदान का अधिकार प्रदान किया गया तथा सरकारी पदों पर स्त्रियों की नियुक्ति की गई। उन्हें राजनीति में भी भाग लेने का अवसर दिया गया। स्वयं उसके काल में राष्ट्रीय सभा में 17 महिलाएं थीं। इस प्रकार स्त्रियों की स्थिति में कमाल पाशा ने आमूलचूल परिवर्तन कर दिया।

इतिहासकार ल्यूक ने तो तुर्की की स्त्रियों की इस परिवर्तित स्थिति की तुलना पाश्चात्य स्त्री समाज से कर डाली।[2]

---

1 वस्तुतः तुर्क खानाबदोश थे और गोबी मरुस्थल में रहते थे।

2 "Not only are Turkish ladies of the upper class, now unveiled—seen freely in society, not only do they dine out, go to the theatre, dance openly in the public with their male friends, indulge in mixed bathing, in other words behave as do their sisters in the west." —H. Luke, *Making of Modern Turkey*, p. 45.

इस प्रकार तुर्की में राष्ट्रवाद के विकास के लिए कमाल पाशा ने शिक्षा, भाषा एवं लिपि, परिधान, स्थानीय परम्पराओं एवं स्त्रियों की स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार किए।

(3) **लोकवाद** (Populism)—कमाल पाशा का लोकवाद का सिद्धान्त वर्ग विशेषाधिकार की समाप्ति एवं कानूनी समानता का द्योतक था। अतः इन दोनों आवश्यकताओं के लिए प्रशासनिक सुधार अपेक्षित थे। सर्वप्रथम कमाल पाशा ने सुल्तान के पद का अन्त किया। देश को 62 प्रान्तों में, प्रान्तों को 430 जिलों में तथा जिलों को छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त कर दिया गया। अप्रैल 1924 ई. में धार्मिक अदालतों का दीवानी मामलों पर विचार करने का अधिकार छीन लिया गया। प्राचीन ओटोमन कानून समाप्त कर स्विट्जरलैण्ड की प्रणाली के दीवानी कानून लागू किए गए। **यही नहीं इटैलियन दण्ड विधान और जर्मन वाणिज्य सम्बन्धी कानूनों का प्रचलन किया गया।** परिवार सम्बन्धी कानून बनाकर स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए गए। धार्मिक मामलों के लिए **'दि बोर्ड ऑफ रिलीजियस अफेयर्स'** (The Board of Religious Affairs) एवं **'दि बोर्ड ऑफ पायस फाउण्डेशन्स'** (The Board of Pious Foundations) की स्थापना की गई।

(4) **धर्मनिरपेक्षतावाद** (Secularism)—कमाल पाशा यूरोप के देशों की उन्नति का प्रमुख कारण राजनीति में धर्म का बिल्कुल अलग होना मानता था, किन्तु तुर्की में ठीक इसके विपरीत स्थिति थी। तुर्की में सल्तनत तो समाप्त हो चुकी थी, परन्तु अभी खिलाफत शेष थी, जो कि इस्लामी संस्कृति की सभ्यता व एकता का प्रतीक बनी थी। **खिलाफत की समाप्ति की घोषणा कोई आसान कार्य नहीं था, परन्तु कमाल पाशा ने राजनीति को धर्म से अलग करने के उद्देश्य से इस कठोर कार्य को भी करने का बीड़ा उठाया।** 3 मार्च, 1924 को तुर्की संसद ने खिलाफत को समाप्त करने एवं खलीफा को हराने का अन्तिम निर्णय ले ही लिया। 4 मार्च 1924 को **खलीफा अब्दुल मजीद को** पद से हटा दिया गया। **शेख उल-इस्लाम** का पद भी समाप्त कर दिया गया। शरीयत अदालतें, मदरसे एवं शरीयत मन्त्रालय बन्द कर दिए। **कमाल ने प्रतिक्रियावादियों को स्पष्ट कर दिया कि तुर्की का विकास बिना पाश्चात्यीकरण के असम्भव है।**[1]

कमाल के इन कार्यों से तुर्की में प्रतिक्रियावादियों में कुहराम मच गया, जगह-जगह उपद्रव हुए, स्वयं भारत के कतिपय साथी जिनमें रऊफ, रफत, फुआद एवं जनरल कासिम उल्लेखनीय हैं उसके विरोधी बन गए एवं उन्होंने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिए, परन्तु कमाल ने विरोधियों की कतई चिन्ता नहीं की। वह तो इस स्थिति के लिए पहले से तैयार था। उसने विद्रोहियों का कठोरता से दमन किया। यही नहीं, उसने तुरन्त 26 दिसम्बर, 1925 **को परम्परागत इस्लामी कलैण्डर के स्थान पर ग्रगोरियन कलैण्डर लागू किया और शुक्रवार के स्थान पर रविवार को अवकाश का दिन घोषित किया।** कान्सटेन्टिनोपुल के धार्मिक महत्व को कम करने के उद्देश्य से तुर्की की राजधानी अंकारा बनाई गई। सुलेमानिया मदरसे को इस्ताम्बुल विश्वविद्यालय के धर्मतत्व संकाय का रूप दे दिया गया और इस्ताम्बुल की सान्ता सोफिया मस्जिद को संग्रहालय का रूप प्रदान कर दिया गया। अप्रैल 1928 में तो तुर्की को धर्मनिरपेक्ष (ला-दीनी) राज्य घोषित कर दिया गया।

1 "Gentlemen, want you and the whole nation to understand well the republic to Turkey can never be the land of Sheikhs, devishes and laybrothers. The straightest truest way (tarikat) is the way of civilization." —Lewis, *Turkey*, p. 93.

(5) क्रान्तिवाद (Revolutionism)—कमाल पाशा का विचार था कि प्राचीन परम्पराएं एवं रीति-रिवाज राष्ट्रीय हित में बाधक हैं। अतः प्राचीन परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों का परित्याग करने के लिए जनता को क्रान्ति की भावना से ओतप्रोत होना होगा। कमाल के विचार में जनता को विश्व रंगमंज़ में घटित होने वाली घटनाओं एवं समस्याओं की जानकारी आवश्यक है।

(6) अर्थवाद (Etatism)—अतातुर्क कमाल पाशा ने सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ही सुधार कार्यक्रम नहीं अपनाया अपितु आर्थिक ढांचे में भी सुधारों की अपेक्षा पर बल दिया। 1 दिसम्वर, 1921 को अंकारा में भाषण देते हुए उसने अपनी आर्थिक नीति को स्पष्ट किया, **"हम उस सिद्धान्त को मानते हैं तो हमें सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप में साम्राज्यवाद से, जो कि हमें कुचलने के लिए तैयार है और पूंजीवाद से, जो हमें निगलना चाहता है, संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करता है.......किन्तु यदि हम गणतन्त्र के अनुरूप आचरण न करें, तो हम क्या कर सकते हैं? यदि हम समाजवाद के अनुरूप न हों तो किसके अनुरूप होंगे?........हमें तुलनाओं तथा उपमाओं में नहीं फंसना होगा क्योंकि हम वास्तव में अपने जैसे ही हैं।"** 17 अप्रैल, 1923 को इजमिर में एक आर्थिक सम्मेलन में कमाल ने कहा, **"वे जो तलवार के बल पर विजय प्राप्त करते हैं, निःसन्देह हल से विजय प्राप्त करने वालों से पराजित होंगे। तलवार पकड़ने वाली भुजा तलवार को थककर म्यान में रख देती है जहां वह जंग खाकर समाप्त हो सकती है, किन्तु हल पकड़ने वाली भुजा नित्य मजबूत होती है और धरती का प्रभुत्व प्राप्त करती है ....।"**

इस वक्तव्य से कमाल ने कृषि एवं उद्योगों के विकास आदि की उन्नति की नीति की ओर स्पष्ट संकेत किया तथा इसके विकास के लिए समाज के सभी वर्गों से सहयोग की स्पष्ट मांग करते हुए कहा, **"...........इस समय मेरे श्रोता कृषक, कारीगर, मजदूर एवं व्यापारी हैं। इनमें से कोई भी एक-दूसरे का विरोध कर सकता है, किन्तु इस तथ्य से कोई मुंह नहीं मोड़ सकता कि कृषक को कारीगर की आवश्यकता है, कारीगर को कृषक की जरूरत है और इन दोनों के लिए व्यापारीं का सहयोग आवश्यक है। ये सभी मिलजुलकर कार्य करें, एक-दूसरे के पूरक हों।"** स्पष्ट है कि कमाल ने वर्ग-संघर्ष का स्पष्ट खण्डन किया था। इसी उद्देश्य से सम्मेलन में एक **'आर्थिक पैक्ट'** भी बनाया गया।

जहां तक कमाल की औद्योगीकरण की नीति का प्रश्न है वह उद्योगों को राज्य के हाथों में रखने का पक्षपाती था। कमाल ने इस सन्दर्भ में मिश्रित व्यवस्था (Mixed economy) की नीति का अवलम्बन किया। यह एक ऐसी नीति थी जिसमें मार्क्सवाद, सामूहिकता एवं राष्ट्रवाद का मिश्रण था। वर्ग-संघर्ष के लिए इसमें कोई स्थान नहीं था। **आर्थिक विकास के मियमन एवं नियन्त्रण में सरकार के बल की बात कही गई थी।** इस व्यवस्था का पालन करते हुए कमाल ने महत्वपूर्ण व्यापार व्यवसायों को राज्य के नियन्त्रण में तथा छोटे-छोटे व्यवसायों को सरकारी नियन्त्रण में रख दिया, किन्तु अत्यन्त छोटे-छोटे व्यवसाय व्यक्तिगत रूप से चलाने की छूट दी गई। देशी उद्योगों के लाभ के लिए 1 अक्टूबर, 1928 से आयात की जाने वाली वस्तुओं पर चुंगी की दरों में वृद्धि कर दी गई।

रूसी योजना के प्रभाव से प्रभावित होकर 1933 में तुर्की की सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई। कपड़े के कारखाने खोले गए। कागज, कृत्रिम रेशम, कांच, सीमेण्ट, दियासलाई,

तम्बाकू एवं एल्कोहल के उत्पादन में वृद्धि हुई। शराब, तम्बाकू, नमक एवं अस्त्र-शस्त्र पर राज्य का एकाधिकार रखा गया।

आवागमन के साधनों के विकास के लिए विदेशी विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया गया एवं दसवर्षीय योजना लागू की गई। कृषि के विकास के लिए चतुर्थवर्षीय योजना 1934 में लागू की गई। यही नहीं, उद्योगों के सन्दर्भ में पंचवर्षीय एवं खनिज एवं खानों के विकास के लिए तीनवर्षीय योजनाएं प्रारम्भ की गईं।

बैंकिंग प्रणाली का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। वित्तीय मामलों के निरीक्षण एवं नोट छापने का कार्य केन्द्रीय बैंक के हाथों में दे दिया गया। यही बैंक खानों को प्रोत्साहित करने का कार्य करने लगा। इस वैंक ने व्यावसायिक क्रियाकलापों के विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कार्य किया। सुमेर बैंक ने राज्यपरक औद्योगिक प्रतिष्ठानों को वित्तीय सहायता दी तो कृषि बैंक ने कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु महत्वपूर्ण कार्य किया। सरकार ने विदेशी व्यापार में वृद्धि हेतु प्रदर्शनियों पर विशेष बल दिया। **'इजमिर का मेला'** तो शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया। व्यापार के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व सफलता का अन्दाज इस बात से ही लग जाता है कि 1939 तक 80 से 90 प्रतिशत तुर्की का विदेशी व्यापार नकद भुगतान पर होने लगा था।

कृषि के क्षेत्र में भी कमाल ने महत्वपूर्ण कदम उठाए। 17 फरवरी, 1925 को कृषकों के ऋण माफ कर दिए गए। 1926 ई. में एक कानून के तहत सामन्तशाही का अन्त कर दिया और भूमि की एकरूपता की बात कही गई। 1929 तक भू-वितरण सम्बन्धी कानून पास कर दिए गए।

इस प्रकार कमाल पाशा ने अपने छः सिद्धान्तों के आधार पर तुर्की में जो सुधार कार्यक्रम लागू किए उसने तुर्की को नवजीवन प्रदान कर दिया। Wayne ने ठीक ही लिखा है, **"राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षवाद, अर्थवाद एवं गणतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर स्थापित आधुनिक तुर्की ओटोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों के अनुपात में अधिक स्थायी, परिवर्तनशील (गतिशील) एवं अधिक समृद्धशाली सिद्ध हुआ।"**[1] निःसन्देह बीमार तुर्की अब विश्व के देशों के मध्य सिर उठाकर चलने लगा। कमाल का मूल उद्देश्य तुर्की का पश्चिमीकरण करना था जिसमें वह निःसन्देह सफल भी रहा। मार्ग में जो अवरोध आए उनको उसने कठोरता से हटाया। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने तुर्की में जो क्रान्ति ला दी थी इसी कारण इतिहासकार वेब्स्टर ने उसे **'अस्पताल का आश्चर्यजनक नाटक'** की संज्ञा दी। उसने युवा तुर्कों की भांति **'यूरोप के मरीज़'** को दवा देने का प्रयत्न नहीं किया। अपितु शल्य क्रिया की विधि अपनाकर मरीज के सभी रोगग्रस्त अवयवों को काटकर अलग कर दिया। एस. एन. धर के शब्दों में, **"अतातुर्क ने तुर्की का पुनर्निर्माण पाश्चात्य रूप में किया......आधुनिक तुर्की के महापुरुष के रूप में उसकी ख्याति निःसन्देह निर्विवाद है।"**[2]

---

1 "Modern Turkey, founded on the principles of nationalism, secularism, etatism and republicanism, became stable and dynamic state, much healthier than the Ottoman Empire in its final days."
—Wayne, *Ottoman Empire : Its Record and Legacy*, p. 115.

2 S. N. Dhar, *International Relations and World Politics*, p. 90.

तुर्की के वैदेशिक सम्बन्ध : अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुस्तफा कमाल पाशा की उपलब्धियां

(FOREIGN RELATIONS OF TURKEY : ACHIEVEMENTS OF MUSTAFA KEMAL PASHA IN THE INTERNATIONAL SPHERE)

कमाल पाशा ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तुर्की को नवजीवन प्रदान किया। पराजित देशों में तुर्की ही प्रथम देश था, जिसने उस पर लादी गई अपमानजनक सेव्र की सन्धि का जमकर विरोध किया, सेव्र की सन्धि से उस्मानी साम्राज्य को विघटन कर दिया गया था। कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की ने सन्धि के विरोध में सन्धि को जबरदस्ती लागू करने के लिए तत्पर यूनान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और सितम्बर 1922 ई. तक यूनानियों को एशिया माइनर से भागने पर बाध्य कर दिया। **अतः मित्र राष्ट्रों के समक्ष सेव्र की सन्धि को समाप्त कर अन्य दूसरी सन्धि करने के अलावा अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह गया।** अब तुर्की ने अपनी शर्तों के अनुरूप 24 जुलाई, 1923 ई. को लोजान की सन्धि के लिए मित्र राष्ट्रों को बाध्य किया।

इस सन्धि द्वारा सेव्र की सन्धि के अनुसार तुर्की की जो सीमाएं निर्धारित हुई थीं, उन्हें परिवर्तित किया गया। अब तुर्की का अधिकार एजियन सागर के उन द्वीपों पर स्थापित हो गया जो कि दार्दनेलीज में प्रवेश करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। तुर्की की सीमाएं यूरोप में मार्तिजा नदी तक बढ़ गईं। यूरोपीय राष्ट्रों ने तुर्की की भौगोलिक अखण्डता का आश्वासन दिया। यही नहीं, अब तुर्की पर युद्ध क्षति का कोई हरजाना नहीं लादा गया।

यह ठीक है कि लोजान की सन्धि कमाल पाशा या तुर्की की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, किन्तु तुर्की की विदेश नीति से सम्बन्धित कई प्रश्न अभी भी हल नहीं हो पाए थे। इराक के साथ सीमा, सीरिया के साथ सीमा एवं जिले की स्वायत्तता, मोसल की समस्या सम्बन्धी विवाद, तुर्की एवं यूनान सम्बन्धी आबादी की अदला-बदली का प्रश्न, ओटोमन काल के ऋण एवं भुगतान सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान लोजोन की सन्धि नहीं कर पाई थी। अतः तुर्की की विदेश नीति का मूल उद्देश्य अपनी सार्वभौमिक एकता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा करना पाश्चात्य देशों के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति न होने देना, रूस एवं मध्यपूर्वी देशों से मित्रता स्थापित करना तथा बाल्कान राज्यों से मधुर सम्बन्ध बनाना (जिससे इटली के मंसूबे पूरे न हो सकें) थे, किन्तु इधर तुर्की का नवनिर्माण शान्ति के वातावरण में ही सम्भव था। अतः उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के झंझावतों से भी स्वतः को बचाना था। स्पष्ट था कि अब तुर्की को पूर्ववर्ती ओटोमन साम्राज्य की आक्रामक एवं उग्र विदेशी नीति को त्यागना था। कमाल ने उस चुनौती को स्वीकार किया। उसने कहा भी था, **"एक आधुनिक रिपब्लिक के रूप में तुर्की का विकास तभी सम्भव है जब उसमें कोई ऐसा प्रदेश शामिल नहीं हो जो भाषा, प्रजाति और सभ्यता की दृष्टि से पूर्णतया तुर्की न हो।"** अतः पाशा ने पान इस्लामिज्म की तुर्की की पूर्ववर्ती नीति का परित्याग कर दिया और धर्मनिरपेक्षता की नीति को अपनाया।

तुर्की के प्रधानमन्त्री ने 1931 ई. में स्पष्ट घोषित किया था **"हम लोग गृह एवं विदेश किसी भी नीति में धर्म का प्रयोग नहीं करना चाहते।"** इस प्रकार कमाल पाशा ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति में धर्मनिरपेक्षता को स्थान देते हुए तुर्की का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्पष्ट किया और तुर्की की वैदेशिक समस्याओं का निदान अत्यन्त चतुराई से किया और विदेशी राज्यों से यथायोग्य सम्बन्ध कायम करने में सफलता प्राप्त की।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कमाल पाशा की उपलब्धियां निम्नवत् थीं :

(1) रूस से सम्बन्ध (Relations of Russia)—गणतन्त्र तुर्की यद्यपि अपने सैन्य एवं राजनीतिक संगठन की पुष्टता से पूर्ण परिचित था, किन्तु अभी तुर्की के गणतन्त्र की नींव ही पड़ी थी। मुस्तफा कमाल पाशा ने स्थिति को समझते हुए अपनी सीमा से लगे हुए एवं भूमध्यसागर पर जल सैन्य शक्ति का प्रभाव रखने वाले रूस से मित्रता स्थापित करना ही उचित समझा। Lenczowski के शब्दों में, **"सम्भवतः कमाल के महान् गुण एवं उसके अनुयायियों की इन सीमाओं के प्रति गम्भीर अनुभूति एवं उनकी आधुनिक, व्यावहारिक विदेश नीति ने ही उनके देश को शक्ति प्रदान की।"**[1] यह ठीक है कि तुर्की आन्तरिक रूप से साम्यवाद का घोर विरोधी था, किन्तु रूस एवं तुर्की कुछ मामलों में एक-सी विचारधारा रखते थे। प्रथम तो दोनों देश गुटविरोधी (Anti-entente) थे और दूसरा, दोनों ही पाश्चात्य देशों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। अतः रूस से मधुर सम्बन्ध कायम करने में तुर्की को कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। Lenczowski ने ठीक ही लिखा है, **"तुर्की साम्राज्यवाद एवं गुटबन्दी विरोधी था। तुर्की की सद्भावना एवं मित्रता को (एशिया के शोषित राष्ट्रों को प्रदर्शित करने के क्रम में कि मास्को ही उनका एकमात्र एवं सच्चा मित्र है) विकसित करने के लिए यह उस युग की सोवियत विदेश नीति के प्रमुख बिन्दुओं में से एक था।"**[2]

इन स्थितियों में रूस भी तुर्की से मित्रता स्थापित करना चाहता था। 1921 ई. में मुस्तफा कमाल पाशा की सरकार के विदेशमन्त्री **'बेकीर-समी-बे'** के मास्को आगमन पर उसका स्वागत हुआ और 1921 ई. में दोनों सरकारों के विदेशमन्त्रियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार दोनों ने पूर्व सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्रान्तियों के अस्तित्व को स्वीकार किया तथा यह स्वीकार किया कि इस प्रकार के आन्दोलनों को सफल बनाने के लिए रूसी श्रमिक वर्ग के संघर्ष के साथ सामंजस्य आवश्यकीय है। रूस ने लोजान सम्मेलन में तुर्की का पक्ष लिया। जब तुर्की एवं ब्रिटेन के सम्बन्ध मोसुल की समस्या को लेकर अत्यधिक उलझे हुए थे उस समय 1925 में **'रूस एवं तुर्की'** के मध्य **'तटस्थता की एक सन्धि'** पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के अनुसार, **"दोनों पक्षों ने यह स्वीकार किया कि वे एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे तथा एक-दूसरे के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यों से भी अलग रहेंगे तथा किसी तृतीय शक्ति से वार्ता करने से पहले एक-दूसरे को विश्वास में लेंगे।"** यह सन्धि 10 वर्षों के लिए थी, किन्तु 1935 ई. में इसे दुहराकर पुनः 10 वर्षों के लिए बढ़ा दिया गया।

किन्तु 100 वर्षों का यह नया काल दोनों देशों के मध्य कतिपय कठिनाइयां लेकर आया। तुर्की में साम्यवाद का जोर बढ़ते देख कमाल ने उसे दमन करने का कार्य किया जो कि निःसन्देह साम्यवादी रूस के हितों के विरुद्ध था, किन्तु साम्यवादी रूस ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं तोड़े। 1934 ई. में तुर्की ने **'आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी समझौते'** पर हस्ताक्षर कर रूस के मनोबल को बढ़ाया तो वहीं रूस ने भी 1936 ई. में मौंट्रो सम्मेलन में खुलकर तुर्की

1 "Perhaps the greatest merit of Kemal and his followers was their sober realization of these limitations and their moderate realistic foreign policy which corresponded to the strength of their country."
—Lenczowski, *The Middle East in the World Affair*, p. 125.

2 Turkey was anti-imperialist and anti-entente. It was one of the cardinal points of Soviet foreign policy of that period to cultivate Turkey's goodwill and friendship in order to show the exploited nations of Asia that Moscow was their only and true friend."
—*op. cit.*, p. 129.

की इस मांग का समर्थन किया कि जलडमरूमध्य सम्बन्धी लोजान की सन्धि शर्तों को संशोधित किया जाए।

जब तक मुस्तफा कमाल पाशा के हाथ में तुर्की का नेतृत्व रहा तब तक तो रूस एवं तुर्की के सम्बन्ध मधुर बने रहे, किन्तु मुस्तफा की मृत्यु के पश्चात् आने वाले वर्षों में तुर्की एवं रूस के सम्बन्धों में दरार पड़ गई। 1939 ई. में जर्मनी तथा रूस के मध्य अनाक्रमण समझौता, 1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर जर्मनी के आक्रमण एवं 17 सितम्बर, 1939 को रूसी आक्रमण ने तुर्की को आतंकित कर दिया।

सितम्बर 1939 के अन्त में जब तुर्की का विदेशमन्त्री बाल्कान क्षेत्र में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के उद्देश्य से अनाक्रमण सन्धि पर वार्ता करने रूस पहुंचा तो उसे खाली हाथ लौटना पड़ा। अतः अक्टूबर 1939 में तुर्की एवं फ्रांस से मित्रता सन्धि कर ली। जून 1941 में रूस पर मित्रता का दावा करने वाले जर्मनी ने ही जब आक्रमण कर दिया तो तुर्की तटस्थ बना रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जब तुर्की ने रूस के लिए ज़लडमरूमध्य को बन्द कर दिया तो 1945 में रूस ने 1925 की तुर्की-सोवियत मैत्री सन्धि को जिसे 1935 तक बढ़ा दिया गया था समाप्ति की स्पष्ट घोषणा कर दी। अब तुर्की पूर्णतः रूस का साथ छोड़कर पश्चिमी देशों के पक्ष में शामिल हो गया।

(2) पश्चिमी शक्तियों के साथ सम्बन्ध (Relations with the Western Powers)—रूस के साथ तुर्की की बढ़ती हुई प्रगाढ़ मित्रता का सबसे बड़ा कारण पश्चिमी शक्तियों द्वारा उसके प्रति किया गया व्यवहार था। युद्ध के पश्चात् तुर्की पर सेव्र की अपमानजनक सन्धि लादने का प्रयत्न किया गया था। इस सन्धि ने पश्चिमी शक्तियों के प्रति उसके रवैये में कटुता तो उत्पन्न की ही साथ ही मोसुल़, अलेकजैंड्रेटा तथा जलडमरूमध्य से सम्बन्धित मसलों पर पारस्परिक मतभेदों ने सम्बन्धों को और अधिक कटु बना दिया।

जहां तक 'मोसुल की समस्या' का प्रश्न है लोजान सम्मेलन के अनुसार मोसुल पर इंग्लैण्ड का अधिकार माना गया था, किन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया था कि यदि एक वर्ष के अन्दर मोसुल पर किसी देश का स्थायी रूप से अधिकार का निर्णय नहीं हो जाता तो मामला राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के सामने रखा जाएगा। वस्तुतः इंग्लैण्ड का मोसुल के प्रति अपना अधिकार रखने के रुख का मूल कारण यह था कि उसका इराक पर संरक्षण था। अतः वह मोसुल को इराक में मिलाना चाहता था। इधर तुर्की के देशभक्त मोसुल की तुर्की का अभिन्न अंग मानते थे अतः एक वर्ष तक समस्या का निदान न होने से मामला राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के सामने आया। सुरक्षा परिषद् ने 16 दिसम्बर, 1925 को यह निर्णय दिया कि मोसुल पर इराक का अधिकार रहेगा, किन्तु इंग्लैण्ड का संरक्षण 25 वर्षों तक इराक पर रहेगा। तुर्की के राष्ट्रवादियों के लिए यह अत्यन्त कड़वा विष था। मुस्तफा इस बात को समझ गया था कि इस मामले में यदि तुर्की को सफलता मिल सकने की सम्भावना है तो केवल इंग्लैण्ड को विश्वास में लेकर ही सम्भव है। मुस्तफा के प्रयत्नों से 5 जून, 1929 को ब्रिटेन एवं तुर्की के मध्य एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार, **"तुर्की ने यह स्वीकार किया कि वह मोसुल में अपने सभी दावे त्याग देगा, किन्तु मोसुल के 10% तेल पर तुर्की का प्रभुत्व रहेगा। इंग्लैण्ड ने तुर्की की यह शर्त भी स्वीकार कर ली कि युद्धकाल में मोसुल से निकाले गए असीरियन अब पुनः मोसुल में नहीं आएंगे।"**

संजाक-अलेक्जैंड्रटा की समस्या सीरिया की सीमा एवं संजाक के शासन से सम्बन्ध रखती थी। अलेक्जैंड्रटा में 40 प्रतिशत तुर्क निवास करते थे। 1921 ई. के **'फ्रेंकलिन बोलीन समझौते'** (The Franklin-Bouillin Agreement) के अनुसार अलेक्जैंड्रटा में एक विशेष शासन-प्रणाली लागू कर दी गई थी। तुर्की को यह आशा थी कि भविष्य में वह फ्रांस के साथ शान्ति समझौता करने में सफल होगा और वहां की (अलेक्जैंड्रटा की) शासन व्यवस्था में परिवर्तन लाकर तुर्क जाति के साथ न्याय किया जाएगा। तुर्की की इस आशा को उस समय आघात पहुंचा जब सितम्बर 1936 में फ्रांस एवं सीरिया के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार यह निर्णय लिया गया कि सीरिया एवं अलेक्जैंड्रटा को स्वतन्त्र कर दिया जाए। तुर्की ने मामला राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में उठाते हुए उक्त सन्धि का घोर विरोध किया। 1937 ई. में राष्ट्र संघ ने अलेक्जैंड्रटा में तुर्की के अधिकारों की रक्षा का वचन दिया। 1938 में **फ्रांस व तुर्की के मध्य एक समझौता हो गया।** इस समझौते के अनुसार अलेक्जैंड्रटा में तब तक तुर्की एवं फ्रांस दोनों का संरक्षित शासन रहेगा जब तक वहां चुनाव न करा लिया जाए। कोई भी स्थायी निर्णय जनमत के आधार पर लिया जाएगा। शीघ्र ही अलेक्जैंड्रटा में आम चुनाव हुए जिसमें बहुमत तुर्की को मिला। अतः अलेक्जैंड्रटा में गणतन्त्र की घोषणा कर दी गई। 1939 ई. की फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा तुर्की की मैत्री सन्धि से अलेक्जैंड्रटा के गणतन्त्र को तुर्की द्वारा ले लिए जाने की सहमति फ्रांस ने दे दी। अब 2 सितम्बर, 1939 को वहां स्वतन्त्र गणतन्त्र[1] की स्थापना कर दी गई। हेटे गणतन्त्र की सरकार ने तुर्की के राष्ट्रीय ध्वज को स्वीकार किया।

जहां तक **डार्डनलीज जलडमरूमध्य** (Straits of Dardanelles) की समस्या थी लोजान की सन्धि के अनुसार तुर्की जलडमरूमध्य का सैन्यीकरण नहीं कर सकता था। तुर्की 1930 से ही इस असैन्यीकरण सम्बन्धी धारा की समाप्ति की बात दोहराता रहा, जिसका सीधा तात्पर्य यह था कि डार्डनलीज जलडमरूमध्य की किलेबन्दी का अधिकार तुर्कों को मिले, तुर्की के कान उस समय खड़े हो गए जबकि धुरी राष्ट्रों (जापान, जर्मनी एवं इटली) ने आक्रामक नीति अपनाना आरम्भ कर दिया, मित्र राष्ट्रों ने तुर्की की चिन्ता पर कोई गौर उस समय तक नहीं किया जब तक कि हिटलर ने राइनलैण्ड पर अधिकार नहीं कर लिया। इधर इटली आक्रामक समुद्री शक्ति के रूप में उभर रहा था। अब मित्र राष्ट्रों को तुर्की की मांग उचित लगने लगी क्योंकि धुरी राष्ट्रों की नीतियों ने भूमध्य सागर की स्थिति को खतरे में डाल दिया। अतः महाशक्तियों का एक सम्मेलन जुलाई 1936 में मौण्ट्रो में हुआ जो कि इतिहास में मौण्ट्रो सम्मेलन के नाम से जाना जाता है। इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, आयरलैण्ड, बल्गेरिया, तुर्की, यूगोस्लाविया, रूमानिया एवं यूनान ने भाग लिया। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि **"तुर्की डार्डनलीज जलडमरूमध्य की किलेबन्दी कर सकता है। केवल कालेसागरीय देशों के व्यापारिक एवं सामरिक जहाज निर्बाध रूप से शान्ति काल में आ-जा सकेंगे, युद्धकाल में वह कालेसागरीय देशों के जहाजों के लिए भी जलडमरूमध्य बन्द कर सकता है। अन्य देशों के जहाजों पर प्रत्येक समय जलडमरूमध्य से गुजरने पर तुर्की को नियन्त्रण का अधिकार मिल गया। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि यदि स्वयं तुर्की युद्धरत हो तो जलडमरूमध्य में आवागमन का प्रश्न पूर्णतः उसकी इच्छा पर रहेगा। यह व्यवस्था 20 वर्षों के लिए लागू रहेगी।"**

1 इस नए गंणतन्त्र का नाम 'हेटे' (Republic of Hatay) रखा गया।

नि:सन्देह मौण्ट्रो सम्मेलन में लिए गए निर्णय जिन्हें इतिहास में **'मौण्ट्रो समझौते'** के नाम से जाना जाता है, लोजान सन्धि के पश्चात् तुर्की की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस समझौते ने तुर्की के राजनीतिक पटल का एक नया दौर आरम्भ कर दिया। अब तुर्की तथा पश्चिमी शक्तियों के मध्य मैत्री का नूतन युग आरम्भ हुआ। अब तुर्की सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन बन गया। 1932 ई. में उसे राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने में सफलता मिल गई। 1937 **में तुर्की एवं ब्रिटेन के मध्य तीन आर्थिक समझौते हुए।** मई 1939 में इंग्लैण्ड व तुर्की ने पारस्परिक सुरक्षा संगठन बनाने की घोषणा की। तुर्की की इस सक्रियता से अब धुरी राष्ट्रों ने उसकी महत्ता को समझकर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। इधर रूस से सम्बन्धों में कटुता आ जाने से तुर्की पश्चिमी शक्तियों से सम्बन्धों को सुधारने में लगा था। जर्मनी द्वारा 23 अगस्त, 1939 को रूस से समझौता कर लेने पर तुर्की ने ब्रिटेन एवं फ्रांस के साथ मिलकर **'त्रिपक्षीय समझौता'** किया। इस पर जर्मनी ने तुर्की को अपन मित्र बनाने का पूर्ण प्रयत्न आरम्भ कर तुर्की के साथ 1941 में **'10-वर्षीय मैत्री पैक्ट'** करने में सफलता प्राप्त कर ली। अब तुर्की की स्थिति दो पाटों के मध्य सी हो गई, किन्तु उसने अपनी तटस्थता की नीति का सफलतापूर्वक उस समय तक पालन किया जब तक कि 1945 के आरम्भ में मित्र राष्ट्रों ने यह घोषणा नहीं कर दी कि केवल धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध 1 मार्च, 1945 तक युद्ध की घोषणा करने वाले देश ही **'सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन'** में बुलाए जाएंगे। अब तक जर्मनी की पराजय स्पष्ट होते देख 28 फरवरी, 1944 को तुर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर सम्मेलन में भाग लेने के अधिकार को प्राप्त कर ही लिया।

(3) तुर्की के मध्य-पूर्वी राज्यों एवं बाल्कान प्रदेश के साथ सम्बन्ध (Turkey's Relations with Middle East Countries and Balkan Peninsula)—मुस्तफा कमाल पाशा ने जिस प्रकार पान इस्लामिज्म की नीति के परित्याग की अपनी नीति को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया था उससे तुर्की को मध्य-पूर्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने का मार्ग और अधिक प्रशस्त हो गया। 1922 ई. **में तुर्की ने अफगानिस्तान के साथ मास्को में एक सन्धि की।** इस सन्धि में दोनों देशों ने किसी भी साम्राज्यवादी देश द्वारा एक-दूसरे पर आक्रमण की स्थिति में एक-दूसरे की सहायता का वचन दिया। 1922 ई. में ही ईरान, अफगानिस्तान एवं तुर्की के मध्य **'एक त्रिपक्षीय समझौता'** हुआ। 1926 ई. में ईरान व तुर्की ने **'मैत्री एवं सुरक्षा की सन्धि'** पर हस्ताक्षर किए। मध्य-पूर्व प्रादेशिक सुरक्षा पद्धति के निर्माण से प्रेरित होकर तुर्की ने 1937 में ईरान, इराक एवं अफगानिस्तान के साथ **'सादाबाद पैक्ट'** (Sadabad Pact) किया।

बाल्कान प्रायद्वीप की राजनीति में भी तुर्की ने अपनी रुचि दिखाई। 1921 ई. में अंकारा में हुए प्रथम बाल्कान सम्मेलन को तुर्की ने रूमानिया एवं यूगोस्लाविया से अपने सम्बन्धों को सुधारने के लिए भरसक प्रयत्न किया। तुर्की ने 1923 ई. में हंगरी के साथ, 1924 में आस्ट्रिया के साथ, 1924 में यूगोस्लाविया एवं बल्गेरिया के साथ मित्रता सन्धि की। 1928 ई. में इटली एवं 1929 ई. में यूनान के साथ सन्धि कर तुर्की ने पारस्परिक विवादों का निर्णय शान्तिपूर्ण तरीके से करने का वचन प्राप्त कर लिया। पुनः 1930 ई. में तुर्की ने यूनान के साथ सन्धि कर दोनों देशों के बीच अल्पसंख्यकों की अदला-बदली सम्बन्धी समस्या का समाधान किया। 1933 ई. में पुनः यूनान से 10-वर्षीय सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार दोनों देशों ने सीमाओं

की पारस्परिक सुरक्षा का वचन दिया। दोनों ने यह स्वीकार किया कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में दोनों ही राज्यों का संयुक्त रूप से एक ही व्यक्ति प्रतिनिधित्व करेगा। फरवरी 1934 ई. में हुए **'बाल्कान समझौते'** (Balkan Entente Pact) जिसके द्वारा **'बाल्कान प्रदेशीय सुरक्षा पद्धति'** (Collective System of the Balkan Region) विकसित हुई, का पूर्ण श्रेय तुर्की को ही जाता है। **इस सुरक्षा पद्धति को कायम करने वाले चारों देशों—तुर्की, रूमानिया, यूगोस्लाविया एवं यूनान ने मिलकर यह निर्णय लिया कि वे अपनी स्वतन्त्रता, शान्ति एवं भौगोलिक एकता को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।''**

(4) तुर्की के इटली एवं जर्मनी से सम्बन्ध (Turkey's Relations with Italy and Germany)—इटली के साथ तुर्की के सम्बन्धों को मधुर नहीं कहा जा सकता। तुर्की की इटली के प्रति आशंका का सबसे प्रवल कारण यह था कि **''डडोकेनीज प्रायद्वीप पर इटली का अधिकार था और जो कि तुर्की के किनारे पर ही स्थित था। यह तुर्की की सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक भी था। यही नहीं, इटली अनातोलिया पर भी अधिकार करना चाहता था।''** इसके बावजूद भी तुर्की ने इटली से मित्रता की नीति का अवलम्बन किया और 1928 **में दोनों देशों के बीच 'तटस्थता, शान्ति एवं न्यायिक सम्बन्धी समझौता'**[1] सम्बन्धी सन्धि हुई, किन्तु आने वाले वर्षों में जैसे-जैसे मुसोलिनी की शक्ति बढ़ती गई और इटली ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति अपनाई तो तुर्की सशंकित हो गया। तुर्की ने अबीसीनिया के मामले में इटली के विरुद्ध राष्ट्र संघ में बारम्बार अपील की। रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी के निर्माण ने तो आग में घी का कार्य किया। अतः स्पेन के गृह-युद्ध में इटली-जर्मनी हस्तक्षेप एवं 1939 में इटली द्वारा अल्बानिया पर आक्रमण के बाद तो तुर्की, ब्रिटेन एवं फ्रांस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए।

जहां तक तुर्की के जर्मनी के साथ सम्बन्धों का प्रश्न है वे सामान्य कहे जा सकते हैं। दोनों ही देशों को प्रथम विश्व युद्ध के हाथों अपमान का जहर पीना पड़ा था। अतः एक-दूसरे के प्रति दोनों देशों में सहानुभूति स्वाभाविक थी। जर्मन विशेषज्ञों एवं निर्माण कार्य करने वाली फर्मों को तुर्की में आसानी से कार्य मिल गया। 1930 ई. में दोनों देशों के मध्य हुए एक समझौते के फलस्वरूप तुर्की से जर्मनी को होने वाले निर्यात की मात्रा को बढ़ा दिया गया।[1] 1933 ई. में जर्मनी में नाजी शक्ति के उदय के पश्चात् भी आर्थिक सहयोग की नीति जारी रही। जर्मनी के लगातार दबाव के कारण जून 1941 में तुर्की को जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता करना पड़ा। अक्टूबर 1942 को जर्मनी एवं तुर्की के मध्य एक और व्यापारिक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार 1943-44 तक तुर्की जर्मनी को 90,000 टन क्रोम का निर्यात करेगा।

तुर्की के जर्मनी से इस प्रकार के सम्बन्धों के कारण इंग्लैण्ड एवं फ्रांस अत्यन्त सशंकित थे। अतः उन्होंने तुर्की पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया कि तुर्की को अपनी तटस्थता की नीति को त्यागकर अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए। द्वितीय विश्व युद्ध में 1943 ई. से यह स्पष्ट होने लगा था कि जर्मनी का पराभव अवश्यम्भावी है। अतः तुर्की ने समयानुकूल रुख

---

1 इस समझौते ने तुर्की को इतना अधिक लाभ प्रदान किया कि 1939 तक तुर्की के कुल निर्यात का 50% जर्मनी को जाता था।

अपनाते हुए जर्मनी से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए और 28 फरवरी, 1945 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर मित्र राष्ट्रों का साथ दिया।

निष्कर्ष
(CONCLUSION)

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जिस तुर्की को बीमार कहकर यूरोपीय शक्तियां आपस में बंटवारे की बात सहज भाव से कह दिया करती थीं, **उस तुर्की को कमाल पाशा ने अपनी नीतियों से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इतना ऊंचा उठा दिया कि प्रथम विश्व युद्ध एवं द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य होने वाली यूरोपीय राष्ट्रों की कूटनीति में यूरोपीय शक्तियां तुर्की की ओर सहयोग की आशा से मित्रता का हाथ बढ़ाने लगीं।** निःसन्देह तुर्की की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी और इसका पूर्ण श्रेय मुस्तफा कमाल पाशा को ही जाता है जिसने तुर्की को आन्तरिक एवं वैदेशिक दोनों क्षेत्रों में नवजीवन प्रदान किया।

प्रश्न

1. मुस्तफा कमाल पाशा के जीवन चरित्र एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
2. मुस्तफा कमाल पाशा की गृह एवं विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।
3. कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की के आधुनिकीकरण पर प्रकाश डालिए।
4. तुर्की के पुनरुत्थान में कमाल अतातुर्क की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
(गोरखपुर, 1989, 91, 93, 96)
5. तुर्की ने सेव्र की अपमानजनक सन्धि के स्थान पर लोजान की सन्धि किस प्रकार प्रतिस्थापित की?
6. कमाल अतातुर्क के सिद्धान्तों एवं उन पर आधारित सुधारों को स्पष्ट कीजिए।
7. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अतातुर्क की उपलब्धियों की समीक्षा कीजिए।
8. मुस्तफा कमाल पाशा को आधुनिक तुर्की का जनक कहना कहां तक उचित है? अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
(पूर्वांचल, 90, 92)

9

दो विश्व-युद्धों के मध्य इंगलैण्ड की वैदेशिक नीति/तुष्टीकरण की नीति

[FOREIGN POLICY OF GREAT BRITAIN BETWEEN TWO WORLD WARS/APPEASEMENT POLICY]

(1919-39 ई.)

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रथम विश्व-युद्ध लगभग चार वर्ष तीन माह तक चलता रहा था। यह 28 जुलाई, 1914 ई. को सर्बिया द्वारा आस्ट्रिया एवं हंगरी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा से प्रारम्भ हुआ तथा 11 नवम्बर 1918 ई. को समाप्त हुआ। मित्र-राष्ट्रों ने 1919 ई. में जर्मनी से वार्साय (Versailles) की सन्धि (28 जून), आस्ट्रिया से सेंट जर्मेन की सन्धि (28 जून), आस्ट्रिया से सेंट जर्मेन की सन्धि (10 सितम्बर), बल्गारिया से न्यूइली (Neuilly) की सन्धि (27 नवम्बर) तथा 1920 ई. में हंगरी से त्रिआनों (Trianon) की सन्धि (4 जून) की। **किन्तु टर्की के साथ अन्तिम शान्ति सन्धि पर 23 जुलाई, 1923 ई. को लौसां (Lousanne) में हस्ताक्षर हुए। यह सन्धि 6 अगस्त, 1924 ई. को कार्यान्वित हुई तथा इसके पश्चात् ही सम्पूर्ण संसार में पुनः विधिवत् शान्ति की स्थापना हो सकी।** इन समस्त सन्धियों तथा इनके कारण की गई अनेक अन्य सन्धियों को शान्ति-समझौते के नाम से जाना जाता है। प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध के मध्य की अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इस समझौते का ही परिणाम था।

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड अच्छी प्रकार से समझ गया था कि विश्व में शान्ति बनाए रखने में वह अकेला असमर्थ था तथा यूरोपीय संघ भी इस कार्य में कोई विशेष योगदान नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त यूरोपीय दशों में कुछ ऐसे भी थे, जो कि इंगलैण्ड के शान्ति बनाए रखने के उद्देश्य में कोई सहयोग देने को तैयार न थे। विश्व-युद्ध ने आर्थिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किए थे, **इसी कारण से 1919 ई. के पश्चात् इंगलैण्ड निरन्तर राष्ट्र संघ के माध्यम से उन सभी कार्यों को पूर्ण करने में लग गया था, जिनका उसने स्वयं सैद्धान्तिक रूप से पालन किया था।** यूरोप में प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड की नीति

का आर्थिक पहलू भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यूरोप में अर्थव्यवस्था निरन्तर खराब होती जा रही थी जिससे बेरोजगारी बढ़ रही थी तथा मूल्यों में भारी कमी हो रही थी। 1933 ई. में **एक आर्थिक अधिवेशन भी बुलाया गया, किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम न हुआ।** इंगलैण्ड निरन्तर यूरोप व जर्मनी की अर्थव्यवस्था को सुधारने का प्रयास कर रहा था। प्रथम विश्व-युद्ध के समय यद्यपि फ्रांस तथा रूस इंगलैण्ड के मित्र रहे थे तथा जर्मनी शत्रु देश था तथापि इंगलैण्ड की वैदेशिक नीति जर्मनी के प्रति अनुदार नहीं थी।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति तथा द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने के मध्य के बीस वर्षों में इंगलैण्ड की नीति में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। यद्यपि अनेक बार मन्त्रिमण्डल बदले, परन्तु वैदेशिक नीति एकसमान बनी रही। अपवाद के रूप में इतना अवश्य हुआ कि श्रमिक मन्त्रिमण्डल के समय (प्रथम बार 1924 ई. में कुछ माह के लिए तथा दूसरी बार 1929 ई. से 1931 ई. तक) रूस की बोल्शेविक सरकार (Bolsheviks) से कुछ अधिक निकटतम सम्बन्धों की स्थापना की गई अन्यथा नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया।

फ्रांस से सम्बन्ध
(RELATIONS WITH FRANCE)

प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी को परास्त करने के पश्चात् मित्र-राष्ट्रों ने वार्साय की अपमानजनक सन्धि करने के लिए उसे विवश किया था, अतः मित्र-राष्ट्रों को भय था कि भविष्य में जर्मनी शक्तिशाली बनकर अपने अपमान का बदला लेने का प्रयत्न करेगा। **सबसे अधिक भय फ्रांस को था क्योंकि उसकी सीमा जर्मनी से मिली हुई थी, इसी कारण उसने इंगलैण्ड तथा अमरीका से सुरक्षा की गारण्टी मांगी थी।** दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने मार्च, 1919 ई. में उसे यह गारण्टी प्रदान की थी, किन्तु कुछ समय पश्चात् अमरीका ने अपने द्वारा दी गई इस गारण्टी को वापस ले लिया। इंगलैण्ड फ्रांस को अकेले गारण्टी देने को तैयार न था, अतः उसने भी अपनी गारण्टी वापस ले ली, परिणामस्वरूप फ्रांस और इंगलैण्ड के सम्बन्धों में कटुता आने लगी। लॉयड जार्ज (Lloyd George) ने जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध इन परिस्थितियों में भी दिसम्बर, 1921 ई. में फ्रांस को सहायता देने का प्रस्ताव रखा, परन्तु फ्रांस ने इस प्रस्ताव के साथ ही कुछ नयी शर्तें रखीं जिनमें वह अपने मित्र पोलैण्ड की सहायता करवाना भी चाहता था। **इसके अतिरिक्त वार्साय की सन्धि की किसी भी धारा को तोड़ना आक्रामक कार्यवाही समझी जाय और दोनों देशों के सेनाध्यक्ष इस हेतु एक समझौता करें।** इस प्रकार की शर्तों को स्वीकार करने के लिए लॉयड जार्ज तैयार न हुआ। अतएव द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने तक कोई समझौता न हो सका। यद्यपि 1923 ई. में फ्रांसीसी कर्नल रेक्विन द्वारा तैयार किया गया '**ड्राफ्ट ट्रीटी ऑफ म्युचुअल असिस्टेंस**' (Draft treaty of Mutual Assistance) तथा जेनेवा प्रोटोकोल के द्वारा दोनों देशों में समझौता सम्पन्न किए जाने के प्रयत्न किए गए, किन्तु यह फलदायी प्रमाणित न हो सके। 1928 ई. में "**किलोगब्रियां समझौते**" की अनेक शर्तों को इंगलैण्ड द्वारा स्वीकार किए जाने से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि इंगलैण्ड फ्रांस से अपने सम्बन्ध मधुर तो रखना चाहता था पर स्वयं को किसी प्रकार की गारण्टी न दिए जाने के कारण भविष्य में किसी प्रकार के युद्ध में उलझाने के पक्ष में न था।

जर्मनी से सम्बन्ध
(RELATIONS WITH GERMANY)

पेरिस की सन्धि में यद्यपि जर्मनी को विश्व-युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था, परन्तु इंगलैण्ड के दृष्टिकोण में निरन्तर परिवर्तन हो रहा था। इंगलैण्ड यह नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली देश हो जाए, साथ ही साथ उसे साम्यवादी रूस से भी भय था, अतः इंगलैण्ड का जर्मनी के प्रति व्यवहार मृदु होता जा रहा था। **प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व जर्मनी इंगलैण्ड के सामान का प्रमुख ग्राहक था, अतः इंगलैण्ड जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारकर उसके साथ पुनः व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था।** लायड जार्ज का विचार था कि स्वतन्त्र, सन्तुष्ट तथा समृद्ध जर्मनी सभ्यता के लिए आवश्यक है।"[1] अतः वार्साय की सन्धि की शर्तों को इंगलैण्ड जर्मनी पर कठोरतापूर्वक लगाना नहीं चाहता था। इंगलैण्ड जर्मनी के क्रमिक शस्त्रीकरण के पक्ष में भी था। इंगलैण्ड राष्ट्र संघ के संविधान में परिवर्तन करके उसे जर्मनी के लिए अधिक कठोर बनाने का विरोधी था। इंगलैण्ड जर्मनी के हर्जाने की धनराशि को भी कम करके किसी प्रकार की कठोरता के बिना वसूलने के पक्ष में था।

1922 ई. में जर्मनी ने अपनी आर्थिक स्थिति को शोचनीय वताते हुए क्षतिपूर्ति करने से इनकार कर दिया। फ्रांस ने जर्मनी के रूर प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इंगलैण्ड ने फ्रांस के इस कदम का घोर विरोध किया। 1925 ई. में लोकार्नो समझौते के द्वारा इंगलैण्ड ने जर्मनी की पश्चिमी सीमा को स्वीकार कर लिया, किन्तु पूर्वी सीमा के लिए कोई आश्वासन नहीं दिया। फ्रांस, जर्मनी की पूर्वी सीमा के विषय में भी इंगलैण्ड से आश्वासन चाहता था, किन्तु जर्मनी के प्रधानमन्त्री स्ट्रेसमन की उदार-नीति के कारण जर्मनी और मित्रराष्ट्रों के सम्बन्धों में पहले के समान कठोरता न रही।

1933 ई. में हिटलर के उदय के पश्चात् इंगलैण्ड ने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। इंगलैण्ड द्वारा इस प्रकार की नीति अपनाने के कुछ विशेष कारण थे। इंगलैण्ड साम्यवादी रूस से भयभीत था, अतः वह तानाशाही जर्मनी, इटली और जापान को प्रोत्साहित कर रूस के प्रभाव और विस्तार को रोकना चाहता था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड रूस, जर्मनी और जापान को आपस में लड़ाकर निर्बल बनाना चाहता था ताकि यूरोप में शक्ति सन्तुलन बना रहे। उस समय इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति भी असन्तोषजनक थी, अतः वह युद्ध से बचना चाहता था। **इंगलैण्ड के द्वारा तुष्टिकरण की नीति अपनाने के कारण उसने जर्मनी के अनेक आपत्तिजनक कार्यों का भी विरोध न किया।** जर्मनी का हिटलर द्वारा शस्त्रीकरण करना, वार्साय सन्धि को अस्वीकार करना, लोकार्नो समझौते को तोड़कर 1936 ई. में राइन प्रदेश में अपनी सेनाएं भेजना, ऐसे ही कुछ कार्य थे। इसके अतिरिक्त 1936 ई. में स्पेन में हुए गृह-युद्ध में हिटलर ने जनरल फ्रैन्को को महत्वपूर्ण सहायता पहुंचायी। 1938 ई. में हिटलर ने आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। 1939 ई. में चैकोस्लोवाकिया पर भी जर्मनी ने अधिकार कर लिया। 1939 ई. में ही हिटलर ने लिथ्यूनिया को डरा-धमकाकर उससे मेमेल प्राप्त कर लिया।

इंगलैण्ड के जर्मनी के प्रति इस तुष्टीकरण की नीति के परिणाम विनाशकारी प्रमाणित हुए। इंगलैण्ड की इस प्रकार की नीति ने हिटलर को और अधिक प्रोत्साहित किया, सामूहिक

1 'A free, a contented and a prosperous Germany is essential to civilisation.'
—*Lloyd George*

सुरक्षा को निर्बल बनाया तथा फ्रांस एवं सम्पूर्ण विश्व के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। इंगलैण्ड ने इन नये तानाशाही राज्यों के वास्तविक रूप को समझने में भूल की थी। उसका विचार था कि कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के पश्चात् वे शान्त हो जाएंगे। इंगलैण्ड यह न समझ सका कि इन राज्यों की साम्राज्य लिप्सा अनन्त है। अन्त में, 1939 ई. में इंगलैण्ड ने अपनी इस भूल को स्वीकार किया।[1] एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि हिटलर ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेजी-फ्रांसीसी और अंग्रेजी-रूसी मतभेदों का पूर्ण लाभ उठाया। उस समय यदि इंगलैण्ड, रूस तथा फ्रांस अपने पारस्परिक मतभेदों को भूलकर जर्मनी के विरुद्ध तत्काल सामूहिक कार्यवाही करते तो सम्भवतः हिटलर की आक्रमणात्मक नीति व महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगाया जा सकता था।

इटली से सम्बन्ध
(RELATIONS WITH ITALY)

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् कुछ समय तक इटली व इंगलैण्ड के सम्बन्ध सामान्य रहे। 1925 ई. में **दोनों देशों ने लोकार्नो समझौते** (Locarno Pact) **की रक्षा का आश्वासन दिया।** 1935 ई. में भी स्ट्रेसा सम्मेलन में इंगलैण्ड और इटली दोनों ने जर्मनी के शस्त्रीकरण के प्रति घोर विरोध किया था, किन्तु अबीसीनिया (Abyssinia) के प्रश्न पर दोनों के सम्बन्ध अमधुर हो गये। 1935 ई. में जब इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण करके उस पर अधिकार करना चाहा तो इंगलैण्ड द्वारा इटली के इस कार्य का विरोध किया गया। इंगलैण्ड की इस नीति से इटली का झुकाव जर्मनी की ओर होने लगा। इंग्लैण्ड की अबीसीनिया के सम्बन्ध में इटली के प्रति नीति अनिश्चित एवं अस्पष्ट थी। प्रारम्भ में उसने इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों (economic sanctions) का समर्थन किया, किन्तु बाद में इस भय से कि कहीं इटली जर्मनी से मिल न जाए उसने इटली के प्रति भी तुष्टीकरण की नीति का सहारा लिया और **होरलावल योजना के द्वारा इटली को अबीसीनिया का अधिकांश प्रदेश देने की बात की,** किन्तु इस योजना के कार्यान्वित करने से पूर्व ही यह योजना प्रकट हो गयी। इंगलैण्ड की जनता के द्वारा इसका घोर विरोध किया गया। परिणामस्वरूप, इंगलैण्ड के तत्कालीन वैदेशिक मन्त्री सैमुअल होर को त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। अबीसीनिया के विषय में इंगलैण्ड की नीति नितान्त असफल प्रमाणित हुई।

अमीसीनिया की घटना के पश्चात् इंगलैण्ड ने इटली से मधुर सम्बन्ध बनाने के लिए अत्यन्त प्रयास किए। 1937 ई. में इटली व इंगलैण्ड ने भूमध्य सागर में यथास्थिति (status quo) बनाये रखने की घोषणा की। 1938 ई. **में दोनों देशों के मध्य पुनः एक समझौता किया गया।** इस समझौते के द्वारा इंगलैण्ड ने अबीसीनिया पर इटली का आधिपत्य स्वीकार किया। इन सब प्रयासों के उपरान्त[2] भी इंगलैण्ड और इटली के सम्बन्ध मधुर न हो सके। जनवरी,

1 'Everything that I have worked for, everything that I have hoped for, everything that I have believed in during my public life, has crashed into ruins.'
—*Chamberlain*

2 'Mussolini, bitter at Britain's treachery, fearful of the consequences of his actions, triumphant in his victory and contemptuous of the fifty nations led by one whom he had successfully defied—Mussolini could never again be content in friendship with the West, and his eyes had now been turned towards the road that was to end in a public square in Milan.'
—*Gathorne Hardy*

1939 ई. में चेम्बरलेन तथा हैलीफाक्स पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ करने हेतु रोम गये, परन्तु उन्हें विशेष सफलता न मिल सकी क्योंकि इटली तानाशाही दल में शामिल हो चुका था।

प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त होने से पूर्व ही 1917 ई. में रूस में हुई **बोल्शेविक क्रान्ति** के कारण वहां सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के युग का समारम्भ हुआ था। रूस ने स्वयं को युद्ध से अलग कर लिया तथा 3 मार्च, 1918 ई. को जर्मनी से **ब्रेस्ट लिटोस्क** (Breast Litovsk) की सन्धि की। रूस के इस कार्य को इंगलैण्ड ने विश्वासघात समझा। 1919-20 ई. में इंगलैण्ड ने रूसी आक्रमण के विरुद्ध एस्टोनिया में अपनी सेनाएं भेजीं। इन सेनाओं ने रूसी सेनाओं से युद्ध भी किया।

इंगलैण्ड यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से रूस से कोई सन्धि करने के पक्ष में न था, किन्तु 31 मार्च, 1921 ई. को उसने रूस की बोल्शेविक सरकार के साथ व्यापारिक समझौता कर लिया, जिसमें रूस ने इंगलैण्ड को उसके विरुद्ध प्रचार न करने का आश्वासन दिया। इस समझौते का यद्यपि कोई स्पष्ट कारण तो न था, परन्तु इंगलैण्ड में संसदीय प्रणाली तथा उदारवादी नीति के समर्थक होने के कारण ही यह परिवर्तन सम्भव हुआ। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड की सम्पन्नता उसके व्यापार पर ही निर्भर करती थी, अतः उसके लिए स्वाभाविक ही था कि अपना आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए बोल्शेविकों द्वारा बढ़ाए गए मित्रता के हाथ को अस्वीकार न करे।

1926 ई. में इंगलैण्ड में हुई एक प्रमुख हड़ताल के कारण पुनः इंगलैण्ड व रूस के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि रूस ने इस हड़ताल को प्रोत्साहन दिया था। 1929 ई. में इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार के बनने से एक बार फिर अंग्रेजी-रूसी सम्बन्धों में सुधार हुआ।

तानाशाही जर्मनी व जापान के उदय से रूस पश्चिमी देशों एवं राष्ट्र संघ की ओर झुकने लगा। जापान के कारण मंचूरिया, ब्लाडीवोस्टक और पूर्वी साइबेरिया के लिए संकट उत्पन्न हो गया था। रूस राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया और राष्ट्र संघ के नेतृत्व तथा पश्चिमी देशों के साथ मिलकर तानाशाही सरकारों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने के प्रस्ताव रखे, परन्तु पश्चिमी देशों, विशेषकर इंगलैण्ड ने रूस की इस योजना को अपना सहयोग न दिया क्योंकि साम्यवादी रूस को इंगलैण्ड अपने लिए खतरा समझता था। उसे नियन्त्रित रखने के लिए वह जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति का पालन कर रहा था। अतः रूस 1939 ई. तक भली-भांति समझ चुका था कि पश्चिमी राष्ट्र विशेषतया इंगलैण्ड उसके साथ मिलकर कार्य करना नहीं चाहते, अतः वह जर्मनी की ओर झुकने लगा।

यद्यपि बाद में जर्मनी के बढ़ते हुए खतरे को देखकर इंगलैण्ड ने रूस के साथ मित्रता करनी चाही तथा पारस्परिक वार्तालाप के लिए एक शिष्टमण्डल रूस भेजा, किन्तु इस शिष्टमण्डल में कोई उच्च पदाधिकारी न था। लॉयड जार्ज ने अंग्रेजी सरकार के इस व्यवहार की कटु आलोचना की।[1] इंगलैण्ड, रूस को जर्मनी के विरुद्ध करके स्वयं उत्तरदायित्व से बचना

1 **"Negotiations have been going on for four months with Russia and no one knows how things stand to day..... Mr. Chamberlain negotiated directly with Hitler; he went to Berlin to see him; he and Lord Halifax made visits to Rome, but who have they sent to Russia? They have not sent even the lowest in rank of a Cabinet Minister. They have sent a clerk in the Foreign office. It is an insult. Yet the government want the help of their gigantic army and airforce." —*Llyod George***

चाहता था। अतः अंग्रेजी-रूसी वार्ता का असफल हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। **इंगलैण्ड की नीति को समझकर 23 अगस्त, 1939 को रूस ने जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए।**

संयुक्त राज्य अमरीका से सम्बन्ध
(RELATIONS WITH U.S.A.)

अमरीका ने उसी समय यूरोपीय तथा एशियाई राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था जिस प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह युद्ध में भाग नहीं लेना चाहता, किन्तु जर्मनी द्वारा विवश किये जाने पर उसे युद्ध में भाग लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके पश्चात् विश्व राजनीति से पृथक् रहना नितान्त असम्भव था। युद्ध की समाप्ति पर हुई पेरिस वार्ता में अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने स्वयं भाग लिया था। अमरीका तथा इंगलैण्ड ने फ्रांस को उसकी सुरक्षा की गारण्टी भी दी थी, किन्तु अमरीका की सीनेट द्वारा पेरिस की सम्पूर्ण सन्धियों को अस्वीकार कर दिए जाने के कारण वह धारा कार्यान्वित नहीं की जा सकी। **इंगलैण्ड इस सन्धि में अमरीका का सहयोगी था किन्तु अमरीका के द्वारा अस्वीकार किए जाने पर इंगलैण्ड ने भी इस सन्धि की शर्तों को मानने से इनकार कर दिया।** इंगलैण्ड की भविष्य में नीति भी अमरीका की नीति से प्रभावित थी। इंगलैण्ड जर्मनी से क्षतिपूर्ति की राशि बलपूर्वक वसूल करना नहीं चाहता था, परन्तु फिर भी वह इतना अवश्य चाहता था कि अमरीका यदि उससे ऋण वापस न ले तब ही उसके लिए ऐसा करना सम्भव था, सम्भवतः इसी कारण से इंगलैण्ड ने जर्मनी के अधिकृत प्रदेश ताइवान पर अधिकार बनाये रखा था।

अमरीका यूरोपीय राजनीति से स्वयं को अलग रखना चाहता था, किन्तु फिर भी जापान की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति से वह भयभीत था, अतः सुदूरपूर्व की समस्याओं में इंगलैण्ड का साथ देने को उत्सुक था। इस क्षेत्र में दोनों देशों के पारस्परिक सहयोग करने में एक विशेष समस्या यह थी कि इंगलैण्ड और जापान के मध्य एक सन्धि पहले से चल रही थी (जो 1922 ई. में समाप्त होने वाली थी)। इसमें इंग्लैण्ड अमेरिका को भी शामिल करना चाहता था। इसी उद्देश्य से वाशिंगटन में 12 नवम्बर, 1921 ई. को एक सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जो 6 फरवरी, 1922 ई. तक चलता रहा जिसके अन्तर्गत अनेक सन्धियां हुईं।

इंगलैण्ड और निःशस्त्रीकरण
(INGLAND AND DISARMAMENT)

इंगलैण्ड निःशस्त्रीकरण किए जाने के पक्ष में था। उसने पेरिस समझौते के पश्चात् अपना शस्त्रीकरण सीमित कर दिया था तथा 1930 ई. में लन्दन में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भी बुलाया, परन्तु फ्रांस तथा जर्मनी के पारस्परिक विरोध के कारण वह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। **उसने अमरीका और जापान के साथ मिलकर कुछ निर्णय किये, जिनके अनुसार इंगलैण्ड ने पांच, अमरीका ने तीन और जापान ने एक युद्धपोत नष्ट कर दिया तथा प्रत्येक ने अपने-अपने युद्धपोतों एवं पनडुब्बियों को नियन्त्रित करने का आश्वासन दिया।**

1933 ई. में इंगलैण्ड ने फ्रांस, जर्मनी और इटली के साथ मिलकर एक समझौता किया जिसे **चार देशों की सन्धि** (Four Power Pact) कहा जाता है। इस समझौते का उद्देश्य शान्ति बनाए रखना तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करना था।

इंगलैण्ड और मध्यपूर्व
(CENTRAL-EAST)

प्रथम विश्व-युद्ध में टर्की ने केन्द्रीय शक्तियों का साथ दिया था, अतः इंगलैण्ड टर्की के प्रभाव को कम करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इंगलैण्ड ने अरब राज्यों का टर्की के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर हुई पेरिस वार्ता के समय टर्की से अरब राष्ट्रों को पृथक् दिया गया था, परन्तु **उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता न देकर आदेश व्यवस्था (mandatory system) में रख दिया गया।** इसी योजना के अन्तर्गत इराक, फिलिस्तीन (Palestine) तथा ट्रांसजोर्डन के शासन चलाने का कार्य सौंपा गया। अतः अरब जनता का इंगलैण्ड के प्रति रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था क्योंकि अब ये राज्य पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। कुछ समय पश्चात् इराक और ट्रांसजोर्डन को स्वतन्त्र कर दिया गया, किन्तु फिलिस्तीन पूर्ववत् इंगलैण्ड के अधीन रहा।

मिस्र से सम्बन्ध
(RELATIONS WITH EGYPT)

मिस्र को भी प्रथम विश्व-युद्ध के समय इंगलैण्ड ने अपने संरक्षण में ले लिया था तथा तत्कालीन खदीब को हटाकर सुल्तान अहमद फऊद को मिस्र के सिंहासन पर बैठाया था। इससे रुष्ट होकर मिस्रवासियों ने जगलुलपाशा के नेतृत्व में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप, 1922 ई. में मिस्र को आंशिक स्वतन्त्रता देने के लिए इंगलैण्ड को वाध्य होना पड़ा। मिस्र पर से इंगलैण्ड का संरक्षण समाप्त हो गया और **सुल्तान अहमदवाफ को मिस्र का प्रथम सुल्तान घोषित किया गया। मिस्र पर केवल चार विषयों में अभी भी इंगलैण्ड का संरक्षण बना रहा।** ये विषय थे—स्वेज की सुरक्षा, विदेशी आक्रमण से मिस्र की रक्षा, मिस्र में विदेशियों के हितों की रक्षा तथा सूडान पर अंग्रेजी नियन्त्रण 1923 ई. के चुनावों के पश्चात् जगलुलपाशा मिस्र का प्रधानमन्त्री बना। 1927 ई. में जगलुलपाशा की मृत्यु के पश्चात् नहसपाशा वफत प्रधानमन्त्री वना। 1936 ई. में इंगलैण्ड ने सुल्तान फारूक से सन्धि करके मिस्र को प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य स्वीकार किया।

इंगलैण्ड और डार्डेनेलीज की समस्या

डार्डेनेलीज का जलडमरूमध्य एशिया तथा यूरोप के मध्य स्थित होने के कारण व्यापक महत्व रखता है। इंगलैण्ड किसी देश के युद्ध-पोतों द्वारा इसका प्रयोग किया जाना पसन्द नहीं करता था। **युद्धोपरान्त इस क्षेत्र का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया तथा इसके नियन्त्रण का कार्यभार एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को सौंपा गया।** टर्की से की गई लौसां की सन्धि में इसी सिद्धान्त का पालन करते हुए जहाजरानी के लिए सभी देशों को सुविधाएं इस प्रदेश में दी गईं, परन्तु 1936 ई. में टर्की के अनुरोध पर मौंट्रयू (Montreux) में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें डार्डेनेलीज का नियन्त्रण टर्की को सौंप दिया गया था उसे वहां पर सेना रखने तथा युद्धकाल में उस मार्ग को वन्द करने का अधिकार दिया गया।

चैकोस्लोवाकिया

हिटलर चैकोस्लोवाकिया पर अधिकार करने के लिए उत्सुक था। 28 मार्च 1938 ई. को बर्लिन में एक गुप्त सभा हुई जिसमें हिटलर, हैस, रिविन ट्रोप तथा चैकोस्लोवाकिया की सूडेटन जर्मन दल के नेताओं ने भाग लिया। इस सभा में यह निर्णय लिया गया था कि सूडेटन जर्मन नेता चैकोस्लोवाकिया की सरकार से वार्तालाप करेंगे तथा उनके सम्मुख ऐसी

मांगें रखें जिनको वह स्वीकार न करें। **जिस समय यह सूचना इंगलैण्ड पहुंची तब भी चेतावनी देने के अतिरिक्त अन्य कुछ इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने नहीं किया।** चैकोस्लोवाक सरकार ने सूडेटन नेताओं के प्रयत्नों के प्रति कठोर रुख अपनाया। तब चेम्बरलेन ने इस समस्या के समाधान हेतु फ्रांस के प्रधानमन्त्री डलेडियर से भेंट की, किन्तु चैकोस्लोवाकिया उसे मानने को तैयार न था। मुसोलिनी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप म्यूनिख में एक सभा हुई जिसके द्वारा बोहेमिया का एक विशाल भाग जर्मनी को दे दिया गया। इंगलैण्ड में इस पर पूर्ण सन्तोष व्यक्त किया गया। **चैम्बरलेन 30 दिसम्बर 1938 ई. को इंगलैण्ड लौटा तो उसका डिजरैली के समान (1878 ई. में बर्लिन से लौटने पर) भव्य स्वागत हुआ। संयुक्त राज्य, कुछ जर्मन लोग ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व ने नेविल चैम्बरलेन का महान् शान्ति संस्थापक के रूप में जय-जयकार किया।**[1]

वैदेशिक तुष्टीकरण की नीति का मूल्यांकन
(EVALUATION OF THE FOREIGN/APPEASEMENT POLICY)

इतिहास साक्षी है कि इंगलैण्ड की इस प्रकार की नीति नितान्त असंगत थी। तानाशाही राज्यों की आकांक्षाओं को नियन्त्रित करने के लिए तुष्टीकरण की नीति का पालन करना इंगलैण्ड की एक भूल थी। इंगलैण्ड की इस नीति की असफलता शीघ्र ही प्रदर्शित हो गयी क्योंकि हिटलर ने मार्च 1939 ई. के म्यूनिख समझौते को भंग करके प्राग पर आक्रमण किया और बोहेमिया तथा मुराविया पर अधिकार कर लिया। **शीघ्र ही हिटलर ने मेमेल (Poland) पर भी अधिकार कर लिया।** हिटलर अब केवल युद्ध का बहाना खोज रहा था और शीघ्र ही उसने 1 सितम्बर 1939 ई. को पोलैण्ड पर आक्रमण करके युद्ध प्रारम्भ कर दिया। फलत: 3 सितम्बर को इंगलैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी क्योंकि इस समय से पूर्व ही पोलैण्ड, रूमानिया तथा इटली से समझौते कर चुका था। **इंगलैण्ड 1919 ई. में स्थापित की गयी शान्ति को बनाये रखने में सफल न हो सका और वही कारण था कि उसे बीस वर्षों उपरान्त उस असफलता के कारण युद्ध लड़ना पड़ा।"**[2]

यहां पर यह विचारणीय है कि क्या कारण था कि इंगलैण्ड निरन्तर तुष्टिकरण की नीति का पालन करता रहा और तानाशाहों को इस बात की सूचना न दे सका कि शान्ति की स्थापना के लिए इंगलैण्ड बिना किसी संकोच के युद्ध भी कर सकता है। इंगलैण्ड की इस नीति का यह अर्थ कदापि नहीं था कि इंगलैण्ड के राजनीतिक क्षितिज में दूरदर्शी राजनीतिज्ञों की कमी थी। लायड जार्ज ने इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण के समय ही कहा था, **"नीति से पहला स्थान शक्ति का है जिसको मन्त्रिमण्डल ने भुला दिया है।"**[3] उस समय प्रजातन्त्रीय सरकारों को मिलाकर तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का शक्ति से सामना करना चाहिए था, परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि उस समय इंगलैण्ड के नागरिकों की विचारधारा युद्ध-विरोधी थी। इंगलैण्ड में कोई भी व्यक्ति युद्ध नहीं चाहता था। इसी कारण इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञ

1 "No such welcome as awaited Mr. Chamberlain on 30 September 1938, has been to an English statesman since Lord Beaconsfield in 1878 brought back 'Peace with Honour' from Berlin. The United States, not a few Germans, nay the whole world, hailed Neville Chamberlain as the Great peacemaker.' —*Marriot*

2 'England had failed to keep the peace, she had made in 1919, and two decades later had to fight because of that failure.' —*Eekles* and *Hale*

3 'Strength comes before policy, that is what the cabinet has forgotten.' —*Lloyd George*

प्रत्येक संकट का सामना करते हुए भी युद्ध को टालने का प्रयत्न करते रहे। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड की जर्मनी से सहानुभूति भी थी। इसका प्रमुख कारण कुछ जर्मन राजनीतिज्ञों के द्वारा इंगलैण्ड का विश्वास प्राप्त कर लिया जाना था, किन्तु इस प्रकार की उदारवादी वैदेशिक नीति से इंगलैण्ड की दुर्बलता ही प्रकट हुई तथा सम्पूर्ण विश्व को द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण हानि उठानी पड़ी।

प्रश्न

1. दोनों विश्व-युद्धों के मध्य इंगलैण्ड की नीति का मूल्यांकन कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
2. इंगलैण्ड की तुष्टीकरण की नीति का मूल्यांकन कीजिए। (लखनऊ, 1992, 1994)

10

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् आर्थिक संकट

[ECONOMIC DEPRESSION AFTER FIRST WORLD WAR]

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् स्थिति
(CONDITION AFTER THE FIRST WORLD WAR)

नैपोलियन के युद्धों के कारण यूरोप की जनता ने जितने कष्ट सहे थे उससे कहीं अधिक प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् उसे सहने पड़े। विश्व-युद्ध में लगभग तीस लाख व्यक्तियों की जानें गयी थीं तथा अपार धन-सम्पत्ति की हानि हुई थी। इस विश्व-युद्ध के कारण इंगलैण्ड पर ही राष्ट्रीय ऋण 65 करोड़ 10 लाख से बढ़कर लगभग 7 अरब 83 करोड़ 10 लाख हो गया था। **विश्व में प्रत्येक देश की स्थिति लगभग इसी प्रकार की थी और इससे यूरोप के देशों की आर्थिक विपन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है।** रूस में आर्थिक दुर्व्यवस्था को समाप्त करने के लिए जनता ने क्रान्ति कर दी। जार का निरंकुश शासन समाप्त कर दिया गया तथा पूंजीवादी व्यवस्था का भी अन्त हुआ। जर्मनी तथा इटली में राजतन्त्र को समाप्त कर हिटलर तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में तानाशाही स्थापित की गयी क्योंकि इन नेताओं ने जनता को सुख, समृद्धि तथा शान्ति देने का वचन दिया था। **जनता आर्थिक संकट से इतनी त्रस्त हो गयी थी कि अपना भला-बुरा भूलकर किसी भी मूल्य पर इससे निकलना चाहती थी।** टर्की में भी धार्मिक खलीफा को गद्दी से उतार कर तानाशाह कमाल पाशा के हाथों में शक्ति सौंपी गयी।

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व इंगलैण्ड सम्भवतः विश्व का सर्वाधिक धनी एवं समृद्धिशाली देश था। प्रथम विश्व-युद्ध के समय इंगलैण्ड के सम्मान व आर्थिक स्थिति को गहरी ठेस लगी। इंगलैण्ड की सरकार को पहली बार विशाल पैमाने पर राष्ट्र के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करना पड़ा ताकि उत्पादन युद्ध की आवश्यकतानुसार होता रहे। **'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान' (International Gold Standard)** की नीति को त्यागकर कागजी मुद्रा को प्रोत्साहन दिया गया जबकि उक्त नीति के आधार पर ही इंगलैण्ड के अन्य देशों से आर्थिक सम्बन्ध थे तथा इसका संचालन लन्दन के प्रमुख व्यापारियों द्वारा किया जाता था। यद्यपि इंगलैण्ड का आर्थिक ह्रास विक्टोरिया युग से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु फिर भी उक्त नीति के त्यागने से पूर्व इंगलैण्ड की स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ थी। **'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णस्तर'** की नीति को त्यागने अथवा प्रथम

विश्व-युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड में आर्थिक मन्दी, असन्तोष और हड़तालों का युग प्रारम्भ हुआ। इंगलैण्ड के अधीन देशों में भी असन्तोष की भावना निरन्तर उग्र होती गयी तथा वे स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे जिससे स्थिति और भी खराब हो गयी।

1924 ई. में इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री रैम्जे मैक्डोनल्ड तथा फ्रांस के प्रधानमन्त्री एडवर्ड हेरियो की सम्मति से अमरीका के साम्राज्यवादियों ने जर्मनी में डालर ढालना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप यूरोप का पूंजीवाद पुनः शक्तिशाली हो गया। पश्चिमी तथा मध्य यूरोप के देशों की स्थिति में सुधार हुआ। **प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई आर्थिक मन्दी समाप्त हो गई।** कारखाने, जो बन्द हो गए थे, पुनः उत्पादन करने लगे। यद्यपि स्थिति में यह सुधार अत्यन्त क्षणिक था किन्तु इसका जोरदार प्रचार किया गया। प्रचार में कहा गया कि पूंजीवाद ही सत्य है तथा पूंजीवाद ने बेरोजगारी, गरीबी व आर्थिक संकट पर विजय प्राप्त कर ली है। 11 अगस्त 1928 को अमरीका के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार हर्बर्ट हूवर ने कहा, **"मुसीबत के अर्थ में बेकारी आखिरी बार गायब हो रही है, आज हम अमरीका में गरीबी पर अन्तिम विजय के इतना नजदीक हैं जितना किसी भी देश के इतिहास में कोई न था।"** इंगलैण्ड के श्रमिक दल (Labour Party) के नेता फिलिप स्नोडेन भी कुछ समाजवादी लोगों के इस मत का विरोधी था कि पूंजीवादी व्यवस्था टूट रही है।

जिस समय पूंजीपति तथा दक्षिणपन्थी समाजवादी पूंजीवाद सम्बन्धी इस भ्रम को फैला रहे थे, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने स्थिति का सही मूल्यांकन किया। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने पूंजीवाद की स्थिति में सुधार को नितान्त अस्थायी बताया तथा घोषणा की कि विश्वव्यापी आर्थिक संकट प्रारम्भ होने जा रहा है। स्टालिन ने लिखा है कि पूंजीवाद का अस्थायी शक्ति संचय; विभिन्न देशों के साम्राज्यवादी गुटों, मजदूरों एवं पूंजीपतियों तथा साम्राज्यवाद और प्रत्येक देश के औपनिवेशिक जनता; के मध्य स्वाभाविक विरोधों को बढ़ाएगा।

आर्थिक संकट
(ECONOMIC DISTRESS)

कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की घोषणा 1924 ई. में सत्य प्रमाणित हुई। इस वर्ष आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ तथा चार वर्षों तक विश्व पर छाया रहा। इस संकट के कारण पूंजीवादी दुनिया के उत्पादन में 35% कमी हो गयी। **इंगलैण्ड में उत्पादन 25% कम हुआ। वैदेशिक व्यापार नष्ट हो गया। इस संकटकाल में लाखों लोग बेरोजगार हो गये।** बहुत से बैंक दिवालिया हो गये। प्रत्येक देश में सिक्के का मूल्य गिरता गया। लोग वेरोजगार थे, नंगे थे। लोगों को काम तथा अन्न की आवश्यकता थी। यह सव पूंजीपतियों के पास था, किन्तु वे असहाय लोगों की सहायता करने के स्थान पर अन्न को नष्ट कर रहे थे। उत्पादन के साधनों व खाद्य सामग्री को नष्ट करने का मानवता विरोधी कदम इंगलैण्ड की सरकार ने भी उठाया। 1930 ई. में इंगलैण्ड में **कोल माइन्स एक्ट** (Coal Mines Act) पारित करके कोयले के उत्पादन को सीमित किया गया। जहाज बनाने के कारखाने व ऊनी कपड़ों के कारखाने नष्ट कर दिए गए।

उल्लेखनीय बात यह है कि इस आर्थिक संकट का प्रभाव सोवियत संघ पर नहीं हुआ।[1] जहां एक ओर पूंजीवादी विश्व का उत्पादन 25% कम हो गया था सोवियत संघ का उत्पादन

दो गुना बढ़ गया था। इस प्रकार इस अर्थिक संकट ने पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता प्रमाणित की।[1]

आर्थिक संकट के कारण
(CAUSES OF THE DISTRESS)

इंगलैण्ड में आर्थिक संकट मुख्य रूप से 1929 ई. में प्रारम्भ हुआ तथा 1933 ई. तक रहा। **इस संकट के प्रमुख कारण इस प्रकार थे :**

(i) कर्ज का वापस न मिलना—इंगलैण्ड व फ्रांस ने रूस तथा अन्य देशों को धन दिया था जिसे रूस की सरकार ने वापस नहीं किया। परिणामस्वरूप कर्जदार रूस धनी देश हो गया व साहूकार इंगलैण्ड व फ्रांस समृद्धिहीन। इंगलैण्ड व फ्रांस ने पराजित जर्मनी से युद्ध की क्षतिपूर्ति द्वारा धन प्राप्त करने का प्रयास किया पर वे असफल रहे।

(ii) आर्थिक संकट—लिप्सन के अनुसार आर्थिक संकट का एक चक्र चलता रहता है और यह संकट समय-समय पर देशों में आता रहता है। इतिहास में इस प्रकार आर्थिक संकटों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस संकट से पूर्व भी इंगलैण्ड में 1620 ई. से 1624 ई. तक इसी प्रकार का संकट आया था।

(iii) प्रथम विश्व-युद्ध के प्रभाव—युद्ध काल में महंगाई बढ़ जाती है। युद्ध समाप्त होने पर कुछ दिनों तक तो तेजी बनी रहती है; तत्पश्चात् आर्थिक मन्दी आना स्वाभाविक ही है। नेपोलियन के युद्धों, अमरीका के गृह-युद्ध तथा 1870 ई. के फ्रांस-प्रशा युद्ध के पश्चात् भी ऐसा ही हुआ था। प्रथम विश्व-युद्ध आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त विनाशकारी था, अतः इसके पश्चात् प्रबल आर्थिक संकट आना स्वाभाविक था।

(iv) स्वर्णमान को त्यागना—आर्थिक संकट के समय कुछ देशों के पास अत्यधिक सोना था तथा कुछ के पास बहुत कम था। अर्थशास्त्रियों के अनुसार 1931 ई. में समस्त विश्व में कुल 2 अरब 30 करोड़ पौण्ड सोना था। इसमें से 90 करोड़ पौण्ड सोना अमरीका के पास था तथा 54 करोड़ पौण्ड फ्रांस के पास था। इस प्रकार विश्व के कुल सोने का लगभग आधा इन दो देशों के पास ही था। इंगलैण्ड के पास 11 करोड़ 80 लाख पौण्ड सोना था, परन्तु उसने इस सोने को बाहर भेजना उचित नहीं समझा। **अतः सितम्बर 1931 ई. में इंगलैण्ड ने स्वर्णमान (Gold Standard) को त्याग दिया।** इंगलैण्ड का अनुसरण करते हुए एक वर्ष के अन्दर लगभग चालीस देशों ने भी ऐसा ही किया। इस प्रकार स्वर्णमान को त्यागकर इन देशों ने आर्थिक मन्दी का सामना किया।

(v) आर्थिक आत्म-निर्भरता—1929 ई. से 1933 ई. के मध्य विश्व के अधिकांश देशों में आर्थिक आत्म-निर्भरता की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। प्रत्येक राष्ट्र आवश्यक वस्तुओं को बाहर से न मंगाकर स्वयं बनाने का प्रयत्न कर रहा था। प्रत्येक देश की सरकार बाहर से आने वाले माल पर भारी-भारी चुंगियां लगा रही थी तथा विदेशी व्यापार को कम करने के लिए अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगा रही थी। इससे औद्योगिक देशों, विशेषकर इंगलैण्ड को बहुत हानि हुई।

(vi) खरीददारों का अभाव—युद्धकाल में कारखानों तथा कृषि का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया। तेजी से कार्य करने वाले अनेक यन्त्रों का आविष्कार हो चुका था। **एक मशीन**

1 इसका कारण सोवियत संघ का आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर (Intact Economy) होना था।

अनेक व्यक्तियों का काम कर सकती थी, फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त यन्त्रों की सहायता से उत्पादन में तो वृद्धि हो गयी, परन्तु युद्ध के पश्चात् वस्तुओं की आवश्यकता कम हो गयी। फलतः माल गोदामों में इकट्ठा होने लगा, अतः खरीददारों के अभाव में मन्दी आ गयी। जर्मनी इंगलैण्ड का एक बहुत बड़ा ग्राहक था। जर्मनी में बड़ी मात्रा में इंगलैण्ड का सामान जाता था, किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध में पराजित जर्मनी, जिस पर क्षतिपूर्ति करने का बहुत बड़ा बोझ डाला गया था, खरीददार की स्थिति में न रहा। इससे इंगलैण्ड के व्यापार को अत्यधिक क्षति हुई।

(vii) **न्यूयार्क शेयर बाजार का दिवाला**—अक्टूबर, 1929 ई. में न्यूयार्क के शेयर बाजार का दिवाला निकल गया। परिणामस्वरूप अमरीका से यूरोप को कर्ज मिलना बन्द हो गया। **ई. एच. कार के अनुसार यह घटना इस संकट की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति थी।** इसके पश्चात् शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व में क्रय शक्ति का ह्रास होता चला गया जिससे कीमतों में व्यापक एवं अनिष्टकारी गिरावट आयी। यूरोप के देशों को इससे गहरी चोट लगी—एक तो अपना कर्ज चुकाने के लिए अमरीका से डॉलर मिलना बन्द हो गया तथा दूसरी ओर जिन वस्तुओं को बेचकर वे अपने कर्ज चुकाने की आशा करते थे उनकी कीमतें भी बहुत कम हो गयी थीं।

शोचनीय स्थिति
(DEPLORABLE CONDITION)

इन समस्त कारणों की वजह से इंगलैण्ड की स्थिति प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। युद्ध-काल में कुछ वस्तुएं विशेष रूप से तय की जाती हैं, उदाहरणार्थ लोहा, कोयला, जहाज-निर्माण तथा रसायन उद्योग विशेष रूप से विकसित होते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में भी ऐसा ही हुआ था। युद्ध के पश्चात इन उद्योग-धन्धों की गति मन्द हो गयी। 1930 ई. के पश्चात् जर्मनी तथा जापान में बनी वस्तुएं भी बाजार में आ गयीं। **इंगलैण्ड का जो एकाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में 19वीं शताब्दी में था वह अब न रहा।** मूल्य के हिसाब से भी जर्मनी तथा अमरीका में बनी वस्तुएं इंगलैण्ड की वस्तुओं से सस्ती थीं। क्योंकि इंगलैण्ड में मजदूरी अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अंग्रेजी वस्तुओं के प्रति आकर्षण समाप्त हो गया। इंगलैण्ड की स्थिति खराब होती गई। इंगलैण्ड पर राष्ट्रीय ऋण भी अत्यधिक था, जिसका भार भी इंगलैण्ड की जनता को ही सहना पड़ता था क्योंकि सरकार ने करों में भारी वृद्धि की थी। भूमिपति तथा पूंजीपति जिन्होंने युद्ध के समय अत्यधिक कमाया था अब भारी करों को सहन न कर सके, उन्हें विलासितापूर्ण जीवन त्यागने पर विवश होना पड़ा। पूंजीपतियों को भी दोहरी चोट लगी, उनके व्यापार में भी कमी आ गयी थी तथा भारी कर भी देना पड़ता था। सबसे शोचनीय स्थिति श्रमिकों की थी क्योंकि उन्हें एक ओर बेरोजगारी का तथा दूसरी ओर आवश्यक वस्तुओं के अभाव का सामना करना पड़ा। **इंगलैण्ड में धनी व्यक्ति निर्धन हो गये तथा निर्धन और गरीब होते चले गये।**

श्रमिकों में सबसे शोचनीय स्थिति कोयला मजदूरों की थी क्योंकि अब कोयले के स्थान पर बिजली व तेल का उपयोग होने लगा। खानों के मालिकों ने मजदूरी कम कर दी थी। श्रमिक संघ इसका विरोध कर रहा था। खान, रेलवे, सड़क, यातायात, बन्दरगाह तथा तार

विभागों में शीघ्र ही हड़ताल हो गयी जिसको इंगलैण्ड की सरकार ने अनेक कठिनाइयों के पश्चात समाप्त करवाया।

आर्थिक मन्दी का सामना

इंगलैण्ड में 1929 ई. में हुए चुनावों के परिणामस्वरूप, मैक्डानल्ड ने उदारवादियों के समर्थन से मन्त्रिमण्डल बनाया, किन्तु इंगलैण्ड की स्थिति निरन्तर खराब होती गयी। इंगलैण्ड की सरकार ने कृषि तथा कोयले के व्यवसाय में कुछ सुधार किए तथा 1930 ई. में एक **'कोयला खान नियम'** बनाया। सार्वजनिक विद्यालयों से सैनिक शिक्षा को बन्द कर दिया गया तथा आर्थिक सहायता समाप्त कर दी गई। किन्तु, **सरकार आर्थिक समस्याओं को दूर करने में फिर भी स्वयं को सफल नहीं पा रही थी। व्यापार बढ़ाने, बेकारी दूर करने, सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने में सरकार के प्रयत्न असफल हुए।** इंगलैण्ड में धन का अभाव तथा तथा आय की अपेक्षा व्यय में काफी वृद्धि हो गई थी। निर्यात की अपेक्षा आयात बढ़ गया था जिससे देश का सोना विदेशों को जा रहा था। स्वर्ण के बाहर जाने से बैंक के स्वर्णकोष में कमी होने लगी जिससे विदेशों में साख घटने लगी तथा लोग बैंकों से अपनी धनराशि निकालने लगे। 1931 ई. का वर्ष सर्वाधिक संकट का वर्ष था। माल का उत्पादन खूब हुआ था जिसके बिकने के कोई लक्षण दृष्टिकोण नहीं हो रहे थे। बेरोजगारी निरन्तर बढ़ रही थी। 1931 ई. में इंगलैण्ड में बेरोजगारों की संख्या 29,60,000 थी।

इंगलैण्ड के हाथ से अब तक अनेक मण्डियां भी निकल गयी थीं। उन्हें वापस लेने से इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति के सुधरने तथा उपनिवेशों से सम्बन्ध सुदृढ़ होने की सम्भावना थी, **किन्तु ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) की नीति को त्याग कर संरक्षण (Protection) की नीति को अपनाना नितान्त आवश्यक था।** अतः इंगलैण्ड की सरकार ने विवश होकर **कामनवैल्थ** (Commonwealth) के सदस्यों का सम्मेलन आमन्त्रित किया। यह सम्मेलन **ओटावा** (Ottawa) में हुआ तथा इसमें यह निर्णय लिया गया कि कामनवैल्थ के सभी सदस्य-देश सभी वस्तुएं कामनवैल्थ के देशों से ही खरीदेंगे। इस नीति ने इंगलैण्ड की गिरती हुई अवस्था को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1931 ई. में आर्थिक संकट दूर करने के लिए प्रधानमन्त्री मैक्डानल्ड ने कुछ योजनाएं प्रस्तुत कीं। वे सभी के वेतन, पेंशन तथा बीमा, आदि के व्यय में कटौती तथा करों में वृद्धि करना चाहते थे। इस उद्देश्य से एक **'मितव्ययिता नियम'** पारित किया जिसके द्वारा प्रधानमन्त्री से लेकर शिक्षक तक के वेतन में कटौती करने का प्रस्ताव था। इन नियम के अन्य प्रस्तावों से श्रमिकों को ही सर्वाधिक असुविधा होने की आशंका थी। अतः इस नियम का सम्पूर्ण देश में घोर विरोध हुआ। अनेक मन्त्रियों द्वारा भी इस नियम का विरोध किया गया, अतः 1931 ई. में मैक्डानल्ड मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया। 1931 ई. में ही राजा जार्ज पंचम के परामर्श से मैक्डानल्ड ने पुनः राष्ट्रीय सरकार का गठन किया। इस नव-निर्मित मन्त्रिमण्डल में दस सदस्य थे जिसमें श्रमिक दल के तीन, अनुदार दल के पांच तथा उदार दल के दो सदस्य थे। इस मन्त्रिमण्डल ने आर्थिक स्थिति सुधारने के महत्वपूर्ण प्रयास किए। शीघ्र ही इंगलैण्ड को अपनी मण्डियां पुनः मिल गयीं। कृषि तथा पशुपालन उद्योगों की भी उन्नति की गई। राष्ट्रीय व्यय में कमी की गयी तथा नवीन कर लगाये गये और इंगलैण्ड अपने आपको इस आर्थिक संकट का सामना करने योग्य बना सका।

इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादी देशों ने इस आर्थिक संकट का भार अपने उपनिवेशों पर डालना प्रारम्भ किया। इंगलैण्ड की सरकार ने गैर-ब्रिटिश सामग्री पर भारी शुल्क लगाया। उदाहरणार्थ, भारत में इंगलैण्ड की सरकार ने 1930 ई. में सम्पूर्ण आयात पर 15% शुल्क लगाया, किन्तु गैर-ब्रिटिश सामग्री पर आयात कर 20% निर्धारित किया। गैर-ब्रिटिश सामग्री पर यह अतिरिक्त शुल्क 1932 ई. में 20% से बढ़ाकर 50%, तथा 1933 ई. में पुनः वृद्धि कर 75% कर दिया गया।

इस प्रकार, अपनी नीतियों में परिवर्तन करके (स्वतन्त्र व्यापार के स्थान पर संरक्षण की नीति अपनाकर) तथा खर्च कम करने व आय बढ़ाने के विभिन्न उपायों को कार्यान्वित करके इंगलैण्ड की सरकार आर्थिक मन्दी के भीषण प्रहार से अपने देश की रक्षा करने में सफल हुई, किन्तु फिर भी इसके कुप्रभाव भविष्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए।

परिणाम/निष्कर्ष
(CONCLUSION)

1929 ई. से 1933 ई. के मध्य विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का इंगलैण्ड पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। आर्थिक असन्तोष स्वाभाविक रूप से राजनीतिक आन्दोलनों को प्रोत्साहित करता है, अतः इस आर्थिक मन्दी ने इंगलैण्ड में प्रदर्शनों, हड़तालों, आन्दोलनों, उपनिवेशों द्वारा राजस्व की मांग को शक्ति दी। इस आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप कहा जाता है कि इंगलैण्ड ने दीर्घकाल से चली आ रही राजनीतिक सर्वोच्चता और विशाल साम्राज्य को खो दिया। इंगलैण्ड की आर्थिक सर्वोच्चता समाप्त होने का सीधा प्रभाव उसकी राजनीतिक स्थिति पर पड़ा, जिससे इंगलैण्ड को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी।

प्रश्न

1. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् आर्थिक मन्दी के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. आर्थिक मन्दी के कारणों व परिणामों पर प्रकाश डालिए।

11

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान का अभ्युदय

[EMERGENCE OF JAPAN AFTER THE FIRST WORLD WAR]

भूमिका
(INTRODUCTION)

1894-95 ई. में होने वाले चीन-जापान युद्ध ने निःसन्देह जापान के साम्राज्यवादी जीवन का श्रीगणेश कर दिया था। 1895 ई. से 1919 ई. तक जापान ने अत्यन्त सफलता के साथ अपना साम्राज्य विस्तार कर लिया था। चीन में उसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हो चुके थे। वह चीन के कई भू-भागों में अपना आधिपत्य भी स्थापित कर चुका था। **जापान जिस समय चीन में अपना प्रभाव स्थापित करने में संलग्न था ठीक उसी समय अमेरिका चीन में उन्मुक्त द्वार की नीति का पक्षपाती था।** अतः संघर्ष स्वाभाविक था, किन्तु 1917 ई. में अमेरिका के विश्व-युद्ध में शामिल होने पर जापान ने सफलतापूर्वक अपने स्वार्थों के लिए अपनी कटुता को भुलाकर अमरीका का साथ दिया। उसे आशा थी कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसे भी उसकी इच्छाओं की पूर्ति में मित्रराष्ट्र सहायक होंगे, किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् जापान के समान जातीय अधिकार के सिद्धान्त को राष्ट्र संघ ने स्वीकार नहीं किया। अतः अब उसने अमरीका की उन्मुक्त द्वार की नीति को चुनौती दी। **अतः अमेरिका के राष्ट्रपति हार्डिंग ने सुदूरपूर्व में शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया।** यह सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 ई. से 6 फरवरी 1922 ई. तक चला।

वाशिंगटन सम्मेलन : 12 नवम्बर 1921 ई. से 6 फरवरी 1922 ई. तक
(WASHINGTON CONFERENCE : 12 NOV. 1921 TO 6 FEB. 1922 A.D.)

वाशिंगटन सम्मेलन के कारण (Causes of the Washington Conference)

वाशिंगटन सम्मेलन के कारण निम्नलिखित थे :

1. जापान की शक्ति से चिन्ता (Anxiety over Japan's Increased Strength)—प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व से ही जापान का मुख्य उद्देश्य चीन में अपने प्रभाव की वृद्धि करना था। प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी के परास्त होने तथा रूस में बोल्शेविक क्रान्ति ने तो मानो जापान को सुदूरपूर्व में एकमात्र शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। चीन में अमरीका जहां एक

और उन्मुक्त व्यापार का पक्षपाती था वहीं जापान मात्र अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता था। जनवरी 1916 ई. में जापान ने चीन पर अपनी 21 मांगों को लादने का प्रयत्न किया। ये 21 मांगें शांण्टुंग, मंचूरिया, पूर्वी मंगोलिया से तो सम्बन्धित थीं ही साथ ही चीन में लोहे व कोयले के व्यापार पर रियायतों, कतिपय बन्दरगाहों, खाड़ियों एवं तटों पर जापान को आवागमन की सुविधा एवं चीन में जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति के सन्दर्भ में थी। इन मांगों को मानने का सीधा अर्थ था चीन का जापानी संरक्षक राष्ट्र बन जाना। 25 मई, 1915 ई. को जापान ने इन मांगों के सन्दर्भ में चीन से एक सन्धि करने में भी सफलता प्राप्त कर ली। इसका सीधा अर्थ था अमरीका की मुक्त द्वार की नीति की अवमानना। अतः अमरीका के विदेशमन्त्री ब्रियां ने कहा, **''संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार किसी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं करती जिससे संयुक्त राज्य अमरीका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों को और चीन की राजनीतिक या प्रादेशिक अखण्डता को या मुक्त द्वार की नीति को कोई आंच पहुंचती हो।''** जापान ने स्थिति का अवलोकन किया और अमरीका के विश्व-युद्ध में कूदते ही 1927 ई. में अमरीका का साथ देना आरम्भ कर दिया, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही दोनों देशों के सम्बन्धों में पुनः कटुता आ गई। जापान वस्तुतः शाण्टुंग एवं प्रशान्त में स्थित जर्मनी टापुओं पर अधिकार करना चाहता था, परन्तु फ्रांस एवं ब्रिटेन इसके विरोधी थे। इधर अमरीका ने साइबेरिया में हस्तक्षेप किया। कटुता यहां तक बढ़ गई कि अमरीका ने उन सभी सन्धियों को मानने से इन्कार कर दिया जो कि मित्र राष्ट्रों ने जापान से की थीं। विल्सन ने जापान के द्वारा शान्ति सभा से अलग होने की घोषणा करने पर ही जापानी दावों को माना था।

इसी प्रकार शान्ति सभा ने याप द्वीप पर विल्सन की इच्छा के विरुद्ध जापान का अधिकार मान लिया। इस अधिकार से जापान की शक्ति में वृद्धि हो गई क्योंकि अब संयुक्त राज्य अमरीका का एक ऐसा महत्वपूर्ण गढ़ जापान के हाथ चला गया था जहां से वह समुद्री तार द्वारा स्वतः को फिलीपाइन्स द्वीप समूह से जोड़ता था।

2. आंग्ल-जापानी सन्धि (Anglo-Japanese Treaty)—1902 ई. में आंग्ल-जापानी सन्धि ने भी अमरीका को आशंकित कर दिया था। इस सन्धि से अमरीका ने यह आशय निकाला था कि जापान व अमरीका का युद्ध छिड़ने पर इंगलैण्ड जापान का साथ देगा। 1911 ई. में जब इस सन्धि का नवीनीकरण जिस प्रकार से हुआ उससे अमरीका का संशय दूर हो जाना चाहिए था, किन्तु पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने अमरीका को इस ओर सशंकित कर दिया था कि एशिया में जापानी हितों की दृष्टि से इंगलैण्ड जापान का साथ देगा। इंगलैण्ड को अमरीका की इसी भयभीत स्थिति को देखकर 1920 ई. में सन्धि के नवीनीकरण के समय स्पष्ट करना पड़ा कि यह सन्धि केवल रूस व जर्मनी के खतरे के सम्बन्ध में है।

3. नौ-सैनिक शक्ति शत्रुता (Naval Rivalry)—अमरीका व जापान के मध्य शत्रुता इतनी विकट स्थिति में पहुंच गई कि दोनों देशों ने अपनी-अपनी नौ-सैनिक शक्ति का विस्तार आरम्भ कर दिया। 1920 ई. में जिस प्रकार इंगलैण्ड ने आंग्ल-जापानी सन्धि की व्याख्या की थी उससे जापान यह समझ गया था कि अमरीका व इंगलैण्ड ने आंग्ल-जापानी सन्धि की व्याख्या की थी उससे जापान यह समझ गया था कि अमरीका व इंगलैण्ड दोनों को मिश्रित शक्ति से अधिक शक्तिशाली नौ-सेना का विकास जापान को करना होगा।

इस प्रकार जापान व अमरीका तथा इंगलैण्ड के मध्य चलने वाली नौ-सैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए तथा सुदूरपूर्व की समस्याओं के शान्तिपूर्ण निराकरण के लिए वाशिंगटन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया।

सम्मेलन का आयोजन व सन्धियां

सम्मेलन का आयोजन संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा वाशिंगटन में किया गया। इसमें अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, चीन, इटली, पुर्तगाल, बेल्जियम एवं हालैण्ड ने भाग लिया। रूस ने सम्मेलन में भाग नहीं लिया। इस सम्मेलन में 6 सन्धियां की गयीं तथा 12 प्रस्ताव पास हुए। **इस सम्मेलन में की गई सन्धियां निम्नवत् हैं :**

1. **पंच शक्ति नौ-सैन्य सन्धि** (The Five Power Naval Treaty)—यह सन्धि अमरीका, जापान, फ्रांस, ब्रिटेन व इटली के मध्य नौ-सैनिक शक्ति के नियन्त्रण को लेकर हुई। युद्धपोतों का अनुपात अमरीका 5, इंगलैण्ड 5, जापान 3, फ्रांस 1 तथा इटली 75 का रखा गया। 10 वर्ष के लिए कोई भी देश नये युद्धपोत भी नहीं बनायेगा। यह सन्धि 31 दिसम्बर, 1930 ई. तक लागू रहेगी। इसके पश्चात् 20 वर्ष का नोटिस देकर कोई भी देश इससे स्वतन्त्र हो सकता था।

2. **प्रथम नव-शक्ति मुक्त द्वार सन्धि** (First Nine Power Open door Treaty)—इस सन्धि के अनुसार सम्मेलन में उपस्थित नौ राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि वे चीन की सम्प्रभुता व प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करेंगे। कोई भी देश अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए चीन में अपना प्रभाव क्षेत्र कायम नहीं करेगा। वहां पर सभी को व्यापार का अधिकार होगा।

3. **द्वितीय नव-शक्ति सन्धि** (Second Nine Power Treaty)—इस सन्धि के अनुसार चीन अपने देश में आयात होने वाली वस्तुओं में कर में वृद्धि का अधिकारी होगा।

4. **चतुर्शक्ति शान्ति सन्धि** (Four Power Pacific Treaty)—अमरीका, इंगलैण्ड, जापान व फ्रांस के मध्य 13 दिसम्बर, 1921 ई. को चतुर्शक्ति शान्ति सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार चार देशों ने प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के टापुओं एवं प्रभाव क्षेत्रों के सम्मान का वचन दिया। यदि प्रशान्त महासागर में किसी देश के अधिकारों का निर्णय कूटनीति से न हो पाए तो इस पर सम्मेलन में विचार होगा। चारों राष्ट्र इस अधिकार को रखेंगे कि यदि किसी महाशक्ति की आक्रमण की कार्यवाही से उनके अधिकारों को नुकसान होने की आशंका हो तो वह इस सम्बन्ध में आपस में पत्र-व्यवहार कर सकेंगे। जापान Tsian Tsinghts की रेलवे लाइन पर 15 वर्ष तक नियन्त्रण का अधिकारी हो गया। इसके बदले में जापान ने सम्पूर्ण जर्मनी की सम्पत्ति विषयक अधिकार चीन को दे दिए।

5. **छः-शक्ति सन्धि** (Six Power Treaty)—इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन, अमरीका, जापान, इटली, फ्रांस व चीन ने जर्मनी के समुद्र तटों के विभाजन पर विचार किया।

6. **अमरीका व जापान की सन्धि**—याप प्रशान्त महासागर से कैरोलाइन द्वीप समूह के पश्चिम में 80 वर्ग मील का चार टापुओं का समूह है। पेरिस के शान्ति सम्मेलन से इस पर जापान का अधिकार हो गया था। वाशिंगटन सम्मेलन में अमरीका ने जापान के साथ सन्धि कर इस टापू के एक द्वीप पर जापान के सदृश अधिकार प्राप्त कर लिए। अब सम्पूर्ण द्वीप समूह को स्वतन्त्र प्रदेश का अधिकार प्राप्त हो गया। इससे अमरीका व जापान के मध्य तनाव में कमी आ गई।

वाशिंगटन सम्मेलन के परिणाम/महत्व
(RESULTS/IMPORTANCE OF THE WASHINGTON CONFERENCE)

वाशिंगटन सम्मेलन को तत्कालीन समय की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सफलता के रूप में स्वीकार किया जाता है। वास्तव में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। **इस सम्मेलन के प्रायः दो ही प्रधान उद्देश्य थे। प्रथम,** जापान की द्रुतगति से बढ़ती शक्ति को नियन्त्रित कर चीन की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करते हुए चीन के दरवाजे व्यापार के लिए सभी देशों के लिए समान रूप से खोलना और दूसरा जापान, अमरीका व इंगलैण्ड के मध्य बढ़ रही नौ-सैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करना। इस सम्मेलन ने दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त की। **मेकनेअर एवं लाच** ने ठीक ही लिखा है, **"चतुर्शक्ति प्रशासन सन्धि और पंचशक्ति नौ-सैनिक सन्धि द्वारा आंग्ल-जापानी सन्धि को समाप्त करने के साथ-साथ यह परिणाम भी दिया कि अमरीका और जापान या ब्रिटेन के मध्य युद्ध की सम्भावना को इन निश्चितकाल के लिए लटका दिया।"**[1] इसी प्रकार कार महोदय ने भी लिया है कि **"यह ठीक है कि सुदूरपूर्व में ऐंग्लो-सैम्पसन प्रभुत्व रहेगा या जापान का प्रमुख स्थापित होगा यह प्रश्न अवश्य अभी भी अनिर्णीत था, किन्तु सम्मेलन के परिणामस्वरूप यह प्रश्न ठीक दस वर्षों के लिए भविष्य के गर्भ में पड़ा रहा।"**[2]

वाशिंगटन सम्मेलन की आलोचना/दोष

यह ठीक है कि वाशिंगटन ने संघर्षशील राष्ट्रों में तनाव को कम अवश्य कर दिया और यह तनाव चाहे बाह्य रूप से कम प्रतीत हुआ पर आन्तरिक रूप से तनाव अभी भी व्याप्त था। सम्मेलन द्वारा शस्त्रास्त्रों पर नियन्त्रण अत्यन्त सीमित था। प्रतिबन्ध केवल बड़े युद्धपोतों के सन्दर्भ में ही था अन्य युद्ध सामग्री पर नहीं जिससे निःशस्त्रीकरण की समस्या का निदान न हो सका। **चीन में अवश्य सभी शक्तियों को समान व्यापारिक अधिकार की बात कही गई, परन्तु इसे लागू करने के लिए कोई कदम नहीं उठाए गए।** चीन से की गई पूर्व सन्धियों को भी निरस्त किया गया जिससे कि व्यापारिक समानता का मार्ग प्रशस्त होता। जापान इस सम्मेलन से सन्तुष्ट न था। पंचशक्ति नौ-सैनिक सन्धि में उसके शस्त्रास्त्रों का अनुपात ब्रिटेन व अमरीका से कम रखा गया था। इसी प्रकार चतुर्शक्ति प्रशान्त महासागरीय समझौते से भी वह सन्तुष्ट न था। वह इस सम्मेलन को अमरीका की जबरदस्ती मानता था। उसने तो अनिच्छा से सन्धियों को स्वीकार किया क्योंकि वह अमरीका तथा ब्रिटेन की नौ-सैनिक शक्ति पर नियन्त्रण का पक्षपाती था।

जापान की नियन्त्रित प्रतिभा को कब तक दबाया जा सकता था। वाशिंगटन सम्मेलन इसे एक दशक से अधिक नियन्त्रित न कर सका। 1930 ई. में जापान की नीति ने एक नया मोड़ लिया और शीघ्र ही जापान में साम्राज्यवाद का द्वितीय दौर आरम्भ हो गया जिसे जापानी सैन्यवाद के नाम से भी जाना जाता है।

जापानी साम्राज्यवाद या सैन्यवाद के पुनरुद्भव के कारण
(CAUSES OF THE REBIRTH OF THE JAPANESE IMPERIALISM AND MILITARISM)

जापानी साम्राज्यवाद या सैन्यवाद के पुनरुद्भव के अग्रलिखित कारण थे :

1 MacNair and Lach, *Modern Far Eastern International Relations*, p. 180.
2 E. H. Carr, *International Relations between the Two World Wars*, pp. 21-22.

1. सैन्यवादियों का प्रभाव—जापान में साम्राज्यवादी या सैन्यवादी प्रवृत्ति के पुनरुद्भव का सबसे बड़ा कारण वहां पर शनैः-शनैः सैन्यवादियों के प्रभाव में वृद्धि होना था। 1918 ई. से 1930 ई. तक जापान की शान्तिपूर्ण नीति का कारण जापान का नेतृत्व एक तो शान्तिवादियों के हाथों में होना था और ऊपर से वाशिंगटन सम्मेलन का अंकुश। किन्तु 1930 ई. में जापान में लैफ्टीनेण्ट जनरल कोई सी कूनीआकी, मेजर जनरल तातेकावा योशीतसूगू एवं लैफ्टीनेण्ट कर्नर होशीमोतो किंगशोरी ने **साकूराकाई नामक संस्था का गठन किया। इसका मुख्य उद्देश्य जापन में सैनिक शासन स्थापित करना था।** इन्हें पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों से भी समर्थन प्राप्त हुआ क्योंकि जिस उदार नीति का पालन पिछले 10 वर्षों में जापान की सरकार ने किया था उससे उनके व्यापारिक लाभों को नुकसान हुआ। चीन में जापान विरोधी आन्दोलन से व्यापारी अत्यन्त हताश हो चुके थे। अतः वे उग्र साम्राज्यवादी एवं सैन्यवादी नीति के पक्षपाती थे। इसका लाभ उठाकर शनैः-शनैः सैन्यवादी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

2. विकृत राष्ट्रवाद का उदय—जापान में विकृत राष्ट्रवाद के विकास ने भी सैन्यवादी प्रवृत्तियों के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। 1930 ई. में जापानी संस्था कोकरयुकाई ने अपनी तीसवीं वर्षगांठ का आयोजन किया और कोरिया के विलय का इतिहास दो भागों में प्रस्तुत किया। इस संस्था ने स्पष्ट घोषित किया कि जापान को विदेशी विस्तार की ओर विशेष ध्यान देना होगा और यह जापान में सैन्यवाद के विकास से ही सम्भव हो सकेगा। जापान की सरकार को सेना के विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। **जापान की जनता जो कि उदारवादी जापानी सरकार की दब्बू नीति से थक चुकी थी अब किसी उग्र नीति की समर्थक हो गई।** इस प्रकार विकृत राष्ट्रवाद की भावना ने जापान को सैन्यवादी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के पुनरुद्भव के मार्ग को खोल दिया।

3. चीन की राजनीति का प्रभाव—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद हुए वाशिंगटन सम्मेलन के साथ-साथ जापान में उदार सरकार की स्थापना से जैसे ही जापानी सैन्यवादी प्रवृत्तियां शिथिल पड़ीं तो इसका लाभ चीन ने उठाया। चीन में राष्ट्रीय एकता के प्रयास जोर पकड़ने लगे। 1926 ई. में स्थापित नानकिंग की सरकार का गठन जिस प्रकार च्यांगकाई शेक ने किया था और चीन में विद्रोही पट्टों को समाप्त करने के जो प्रयास किए थे उससे जापान के सैनिकवादी अत्यन्त सशंकित हो गए। **अब यह धारणा बन रही थी कि यदि इसी गति से चीन ने राजनीतिक एकता के प्रयास जारी रखे तो जापान को जो सुविधाएं चीन में प्राप्त हैं, उनसे जापान को हाथ धोना पड़ेगा।** अतः चीन के राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली होने से पूर्व जापान के साम्राज्यवादी नेता चीन पर आक्रमण कर उसे निर्बल कर देना चाहते थे। यह तभी सम्भव था, जबकि जापान का सैन्यीकरण होता। इन परिस्थितियों ने जापान में सैन्यवाद के विकास के मार्ग को प्रशस्त किया।

4. बोल्शेविकवाद का भय—चीन का नेतृत्व च्यांगकाई शेक के हाथों में आते ही चीन एवं रूस के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न होने लगी। दिसम्बर, 1929 ई. तक रूस ने मंचूरिया पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। जापान जिसके हित मंचूरिया में निहित थे, वहां रूस

1 एस. एन. धर, इण्टरनेशनल रिलेशन्स एण्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स, पृ. 211।

के प्रभाव को देख सकता था। अतः उसने साम्यवादियों के विरोध का नारा देते हुए अपना सैनिक विकास आरम्भ कर दिया।

5. 1930 ई. का आर्थिक संकट—जापान में सैन्यवाद के पुनरुद्भव के लिए जितना अधिक उत्तरदायित्व 1930 ई. के विश्वव्यापी आर्थिक संकट का था उतना निःसन्देह अन्य कारणों का नहीं था। **जापान में आर्थिक संकट का प्रभाव सामान्य जन-जीवन पर भी पड़ा।** अब आर्थिक दृष्टि से शोषित वर्ग ने पूंजीपति वर्ग के विरोध में आवाज उठाई। ऐसी स्थिति में पूंजीपति वर्ग ने जनता का ध्यान आर्थिक विप्लव से हटाने के लिए विकृत राष्ट्रवाद की ओर आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। यह प्रचार किया गया कि आर्थिक संकट से छुटकारा साम्राज्यवादी नीति अपनाकर ही किया जा सकता है। इसके लिए सैन्यवादी प्रवृत्ति का विकास होना आवश्यक था।

6. आर्थिक क्षेत्र की खोज—जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने एवं बाजार की आवश्यकता के लिए जापान के लिए आर्थिक क्षेत्रों की खोज आवश्यक थी। उसकी इस आवश्यकता ने सैन्यवादी-साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया।

उपरोक्त कारणों से 1930 ई. के पश्चात् जापान की नीति में एक नया मोड़ आ गया और जापानी साम्राज्यवाद का द्वितीय चरण आरम्भ हो गया, जिसकी महत्वपूर्ण कड़ी मंचूरिया पर जापान के अधिकार एवं द्वितीय चीन-जापान युद्ध के रूप में देखी जा सकती है।

मंचूरिया संकट एवं द्वितीय चीन-जापान युद्ध
(MANCHURIAN CRISIS AND THE SECOND SINO-JAPANESE WAR)

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (1930 ई. तक) जापान की साम्राज्यवादी एवं सैन्यवादी प्रवृत्ति में कुछ शिथिलता आ गई थी। जापानी प्रधानमन्त्री हारा (Hara) ने तो स्पष्टतः घोषित किया कि **विश्व शान्ति के लिए किसी भी जाति या राष्ट्र के अस्तित्व को चुनौती नहीं देनी चाहिए। मानव हित के क्षुद्र अहम् की सन्तुष्टि के स्थान पर आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय समानता को बढ़ावा देकर राष्ट्रों एवं जातियों के जीवित रहने एवं विकास करने के अधिकार को मान्यता देनी चाहिए।"** हारा का **'जीओ और जीने दो'** के सिद्धान्त का अनुपालन विदेशमन्त्री **शिडेहेरा (Shidehera)** ने भी किया। जापान की इस शान्तिप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह था कि इस समय जापान में दलीय मन्त्रिमण्डलों का शासन था, जो कि सैन्यवादी प्रवृत्तियों के नेताओं के प्रभाव से परे था, किन्तु जापान के शान्तिवादी प्रवृत्ति की इस शासनावधि में भी अन्दर ही अन्दर साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां पनप रही थीं जो कि समय की प्रतीक्षा में थीं। **फलस्वरूप 1930 ई. के पश्चात् जापान की नीति में एक नया मोड़ आ गया** और जापानी साम्राज्यवाद का द्वितीय चरण आरम्भ हो गया, जिसकी महत्वपूर्ण कड़ी मंचूरिया पर जापान के अधिकार एवं द्वितीय चीन-जापान युद्ध के रूप में देखी जा सकती है।

मंचूरिया संकट (1931 ई.)
(MANCHURIAN CRISIS)

मंचूरिया संकट के कारण (Causes of Manchurian Crisis)

मंचूरिया संकट के कारणों को निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :

(1) जापानी साम्राज्यवाद का पुनरुद्भव—मंचूरिया संकट का महत्वपूर्ण कारण जापानी साम्राज्यवाद का पुनरुद्भव था। 1928-29 ई. से ही जापान में सैन्यवादी प्रवृत्तियों ने सिर

उठाना प्रारम्भ कर दिया था। सितम्बर 1930 ई. में लेफ्टीनेण्ट जनरल **'काई सी कूनीआकी'**, मेजर जनरल तातेकावा योशीतसूगू एवं लेफ्टीनेण्ट कर्नल होशीमोतो किगशोरी ने सैनिक शासन की स्थापना के उद्देश्य से साकूराकाई नामक संस्था का गठन किया। इस संस्था को जापान के पूंजीपति वर्ग का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। फलस्वरूप जापान की शासन नीति में सैन्यवादी प्रवृत्तियां हावी हो गयीं। प्रधानमन्त्री तनाका (Tanaka) ने उग्र सैन्यवादी प्रवृत्तियों का समर्थन कर ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण **'तनाका स्मार पत्र'** (Tanaka memorial) प्रकाशित कर दिया। इस पत्र में स्पष्टतः कहा गया, **"विश्व-विजय के लिए सर्वप्रथम एशिया की विजय आवश्यक है, एशिया पर विजय के लिए चीन की विजय आवश्यक है, चीन की विजय के लिए मंचूरिया विजय एवं मंचूरिया विजय के लिए कोरिया की विजय आवश्यक है।"**[1] इस प्रकार जापानी साम्राज्यवाद के पुनरुद्भव ने जापान के लिए मंचूरिया विजय करना आवश्यक घोषित कर दिया।

(2) **मंचूरिया में जापान के हित**—1894 ई. से ही जापान मंचूरिया पर अपनी नजर गड़ाए हुए था। इसका सबसे प्रधान कारण यह था कि मंचूरिया में जापान के अपने स्वार्थ निहित थे। जापान के बढ़ते हुए औद्योगीकरण एवं साम्राज्यवाद के विकास ने उसके स्वार्थों में हुताग्नि दी। मंचूरिया की रेलवे लाइनों का ठेका प्राप्त कर जापान ने वहां कई प्रकार के उद्योगों का विकास कर लिया था, प्रथम विश्व-युद्ध के समय जापान ने अपने प्रभुत्व को मंचूरिया में मजबूत कर लिया। जापान ने प्रथम विश्व-युद्ध के समय जो 21 मांगें चीन के समक्ष रखी थीं, उनके अनुसार मंचूरिया स्थित पट्टे वाले क्षेत्र और रेलवे पर जापानी अधिकार की अवधि 99 वर्ष तक मान ली गयी। यही नहीं जापान को यह अधिकार मिल गया कि वह मंचूरिया में अपने देशवासियों को बसाने एवं कारोबार कराने के लिए स्वतन्त्र है। **इस प्रकार मंचूरिया में प्राप्त इन अधिकारों को जापान को त्यागना कठिन था। यह भी उस स्थिति में जबकि जापान में आबादी बढ़ती चली जा रही थी।** जापान मंचूरिया में अधिकार कर बढ़ी हुई जनसंख्या को बसा सकता था। 1929-30 के आर्थिक संकट ने जापान की अर्थव्यवस्था को भी प्रभावित किया था। अमेरिका को निर्यात किए जाने वाले रेशम में एकाएक 45% की कमी आ जाने से वहां एक लाख लोग बेरोजगार हो गए। जापान में 9 करोड़ 20 लाख लोग कृषि-योग्य भूमि से वंचित थे। अतः जापान मंचूरिया की 3 लाख 90 हजार वर्ग मील क्षेत्रफल वाली उर्वरा भूमि पर अधिकार कर इस समस्या से छुटकारा पाना चाहता था। इतना ही नहीं, मंचूरिया पर अधिकार कर लेने से उसे कच्चा माल भी उपलब्ध हो जाता। जापान में तैयार माल को वहां आसानी से खपाया जा सकता था। वास्तव में जापान को ऐसे **'विस्तृत आर्थिक क्षेत्र'** (Large Economic Area) की आवश्यकता थी, जहां उसे **'आयात कर एवं संरक्षण नीति'** की परेशानी का सामना न करना पड़े।

(3) **कोरियाइयों का प्रश्न**—मंचूरिया की कृषि की दृष्टि से महत्ता को देखते हुए अनेक कोरियावासी मंचूरिया में बस गए थे। 1910 ई. में जापान ने कोरिया अपना प्रान्त बना लिया था और कोरिया की प्रजा जापानी कही जाने लगी थी। मंचूरिया में 1930 ई. तक 8 लाख

1 "To conquer the world one first conquer Asia, to conquer Asia one must first conquer China, to conquer China one must first conquer Manchuria, to conquer Manchuria one must first conquer Koria."

—Tanaka Memorial, quoted by B. R. Banarjee, *The Last Hundred Years to the Far-East*, p. 43.

कोरियाई बस गए थे। इन्होंने मंचूरिया में जमीनें भी खरीदना प्रारम्भ कर दिया। चीन की सरकार इसे मंचूरिया में जापानी प्रभुत्व जमाने का साधन समझती थी। अतः कोरियाइयों को मंचूरिया में समस्याओं का सामना भी करना पड़ रहा था। जापान ने समाचार पत्रों में कोरियाइयों का पक्ष लेते हुए चीन की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार कोरियाइयों के मामले को लेकर चीन एवं जापान के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया।

(4) चीन की राजनीति—मंचूरिया पर चीन का अधिकार होने पर चीन ने सदा ही इसे अपना प्रान्त मानकर **'तृतीय पूर्वी प्रान्त'** की संज्ञा दी थी। चीन की कुओमिनतांग सरकार ने भी मंचूरिया को चीन का अभिन्न अंग स्वीकार किया। च्यांग काई शेक की नानकिंग सरकार ने मंचूरिया के सूबेदार **'च्यांग स्युह ल्यिांग'** से समझौता कर मंचूरिया पर स्थायी रूप से चीन का आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। यही नहीं, च्यांग काई शेक की सरकार के प्रयत्नों से विदेशी शक्तियों को अपने कुछ पट्टे के अधिकारों को भी छोड़ना पड़ा था। जापान को भी चीन में अपने कुछ पट्टे के अधिकारों को भी छोड़ना पड़ा था। चीन की इस उग्र राजनीति से जापान के कान खड़े हो गए। वह राजनीतिक दृष्टि से चीन को शक्तिशाली बनने से पूर्व ही मंचूरिया में आधिपत्य स्थापित करने के लिए उतावला हो उठा।

(5) साम्यवाद का भय—डॉ. सुनयात सेन की मृत्यु के पश्चात् च्यांग काई शेक के शासन काल में चीन के रूस के साथ सम्बन्धों में खाई पैदा हो गयी थी। मंचूरिया में रूस के प्रभाव को कम करने के लिए च्यांग काई शेक ने जो नीति अपनायी थी, उससे रुष्ट होकर रूस ने मंचूरिया पर आक्रमण कर चीन की सरकार को **'रूसी-चीनी सन्धि'** (22 दिसम्बर, 1929) के लिए बाध्य किया। इससे मंचूरिया में रूस के प्रभाव में वृद्धि हो गयी। इधर चीन में साम्यवादियों की लोकप्रियता भी बढ़ रही थी। इस प्रकार जापान के लिए यह स्पष्ट हो गया कि यदि समय रहते कदम न उठाया तो मंचूरिया रूसी आधिपत्य में आ जाएगा। अतः जापान साम्यवाद के विनाश की दुहाई देकर मंचूरिया पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा।

(6) नाकामुरा की हत्या—मंचूरिया पर आक्रमण करने के लिए जापान अब जिस बहाने की खोज में था वह उसे नाकामुरा की हत्या से मिल गया। नाकामुरा जापानी कप्तान था। जून 1931 को कुछ चीनियों ने मंचूरिया में उसकी हत्या कर दी। जापान ने इस हत्या के लिए चीन से क्षतिपूर्ति की मांग की और अपराधी अधिकारियों को तुरन्त दण्डित करने के लिए कहा। चीन ने जापानी मांग को यह कहकर ठुकरा दिया कि नाकामुरा मंचूरिया में जासूसी का कार्य कर रहा था। इससे जापान में घोर प्रतिक्रिया हुई। जापानी सैन्यवादियों ने तुरन्त युद्ध की मांग की।

जापान का मंचूरिया पर आक्रमण एवं अधिकार

इस प्रकार जापान ने मंचूरिया से साम्यवाद के नाश की दुहाई, कोरियाइयों के हितों की रक्षा एवं नाकामुरा हत्याकाण्ड की दुहाई देते हुए 18 सितम्बर, 1931 को मुकदेन को अपने आधिपत्य में ले लिया। मुकदेन में 15 हजार सैनिक रहते थे। उन्होंने 18 सितम्बर, 1931 ई. की रात्रि को दस हजार चीनी सैनिकों को जो कि अपने-अपने शिविरों में सोए थे निरस्त्र कर सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। नवम्बर के मध्य तक उत्तरी मंचूरिया

में जापान का आधिपत्य स्थापित हो गया। 18 फरवरी, 1932 ई. को जापान ने मंचूरिया का नाम बदलकर मंचूकाओ रख दिया और वहां पर एक कठपुतली सरकार कायम कर दी।
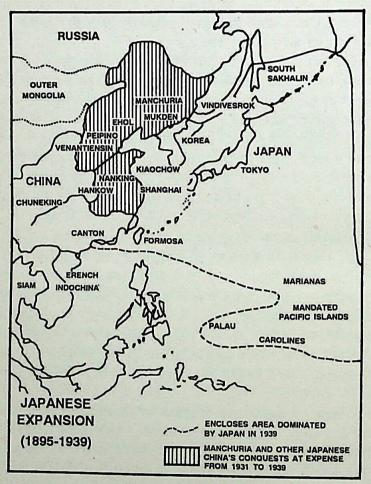
मंचूरिया संकट के परिणाम
(RESULTS OF MANCHURIAN CRISIS)

मंचूरिया पर जापान के आक्रमण एवं पश्चात् में अधिकार करने के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। इसने न केवल पश्चिमी राष्ट्रों के ही कान खड़े कर दिए, अपितु विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। प्रधानमन्त्री हारा के नेतृत्व में जापान में 'जियो और जीने दो' की जिस नीति का अवलम्बन किया जा रहा था उससे यह लग रहा था कि जापान के साम्राज्यवादी युग का अन्त हो रहा है, परन्तु अचानक 1928 के पश्चात् जिस प्रकार सैन्यवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ वह विश्व के लिए आशानुरूप नहीं था। **संक्षेप में, इसके परिणामों को अग्रवत् इंगित किया जा सकता है :**

(1) **विश्व में प्रतिक्रिया**—मंचूरिया पर जापानी आक्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया चीन में हुई। स्थान-स्थान पर जापान विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। जापानियों से सम्बन्ध रखने वालों का सामाजिक बहिष्कार ही नहीं, अपितु मौत तक की सजा दी गई। जापान के बारम्बार यह नारा दिए जाने पर भी कि '**मंचूरिया में उनकी कार्यवाही युद्ध नहीं अपितु एक पुलिस कार्यवाही है**'—विश्व स्तब्ध था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसे अपने हितों में बाधा समझा। 7 जनवरी, 1932 ई. को अमेरिका के विदेश सचिव '**स्टिमसन**' ने चीन और जापान की सरकारों को स्पष्ट कर दिया कि "**अमेरिका किन्हीं भी देशों या उनके प्रतिनिधियों में हुई ऐसी किसी भी सन्धि या समझौते की वैधता स्वीकार नहीं करेगा, जिसका अमेरिका अथवा उसके चीन स्थित नागरिकों के सन्धिगत अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो, उन्मुक्त द्वार की नीति की चुनौती अमेरिका स्वीकार नहीं कर सकता। पेरिस की सन्धि 27 अगस्त, 1928 की शर्तों के विपरीत सम्पन्न की गई किसी भी सन्धि को अमेरिका मान्यता नहीं देगा, क्योंकि चीन, जापान एवं अमेरिका भी उस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले देश हैं।**" अमेरिका राजनीतिक दबाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाया। ब्रिटेन एवं फ्रांस ने अमेरिका का साथ ही नहीं दिया। इस प्रकार विश्व में शान्ति स्थापित करने का जो प्रयत्न 1919 ई. से किया जा रहा था, उसे जवर्दस्त आघात लगा। राष्ट्र संघ के विधान का अतिक्रमण ही नहीं, इस काण्ड ने पेरिस पैक्ट एवं वाशिंगटन में की गई नौ राष्ट्रों की सन्धियों का अपमान कर सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को खतरे में डाल दिया।

(2) **राष्ट्र संघ की निष्क्रियता स्पष्ट होना**—चीन ने राष्ट्र संघ का सदस्य होने के कारण मंचूरिया काण्ड का मामला राष्ट्र संघ में उठाया। 10 दिसम्बर, 1931 ई. को मामले की जांच के लिए राष्ट्र संघ की परिषद् ने एक आयोग के गठन पर प्रस्ताव पास कर ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी एवं इटली को आयोग का सदस्य बनाया। इन देशों को अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए कहा गया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लार्ड लिटन को आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। इसी बीच 7 जनवरी, 1932 ई. को अमेरिका के विदेश सचिव स्टिमसन ने चीन एवं जापान की सरकारों को पत्र लिखकर अमरीकी नीति स्पष्ट कर दी। 2 अक्टूबर, 1932 ई. को लिटन आयोग ने अपनी रिपोर्ट जेनेवा में प्रकाशित कर दी। इस रिपोर्ट में कहा गया कि "**मंचूरिया को चीन से अलग कर देने के परिणाम घातक होंगे। राष्ट्र संघ के तत्वावधान में चीन एवं जापान के सम्बन्धों को सुनिश्चित करना श्रेयस्कर होगा। मंचूरिया में जापान के स्वार्थ निहित हैं। अतः चीन की प्रभुसत्ता के अधीन मंचूरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होना चाहिए।**" नवम्बर में यह रिपोर्ट राष्ट्र संघ में प्रस्तुत की गई। राष्ट्र संघ ने 3 दिसम्बर, 1932 ई. को लिटन रिपोर्ट पर विचार करने के लिए एक विशेष अधिवेशन बुलाया, परन्तु सब व्यर्थ था। अन्ततः असेम्बली ने मामले को उन्नीस व्यक्तियों की एक गुप्त समिति को सौंप दिया। समिति ने किसी ऐसी योजना को प्रस्तुत करने का दावा नहीं किया जो कि दोनों पक्षों को मान्य हो। हां समिति ने राष्ट्र संघ से अनुमोदन किया कि "**जापान राष्ट्र संघ के तत्वावधान में मंचूरिया से सेना हटा ले और चीन की प्रभुसत्ता के अधीन मंचूरिया में स्वायत्त शासन होना चाहिए। मंचूकाओ सरकार को मान्यता दी जाए।**" इस प्रकार यह रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई। जापान ने इस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए 20 मार्च, 1933 ई. को राष्ट्र संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और अपने सैन्य अभियान को और तेज कर दिया। राष्ट्र संघ कुछ न कर सका और 'सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त' खोखला सिद्धान्त रह गया।

राष्ट्र संघ की इस निष्क्रियता या असफलता ने सैन्यवादी प्रवृत्तियों की शक्ति को नवजीवन प्रदान कर दिया और अब विश्व की राजनीति में विश्वयुद्ध के बादल मंडराते दिखाई देने लगे।

(3) **मंचूकाओ सरकार की स्थापना**—जापान ने मंचूरिया में 18 फरवरी, 1932 ई. मंचूकाओ सरकार की स्थापना कर दी। यह सरकार जापान के हाथ की कठपुतली थी। हेनरी पुयी (Henry Puyi) को सरकार का अध्यक्ष बनाया गया। 9 मार्च, 1932 ई. **मंचूकाओ सरकार के लिए जापान ने संघटनात्मक विधि' का निर्माण कर डाला।** मंचूरिया में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

इस प्रकार मंचूरिया काण्ड ने मंचूरिया में जापान के प्रभुत्व को स्पष्ट कर विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया। राष्ट्र संघ की असफलता स्पष्ट हो गई और अब जापान इस सफलता से सन्तुष्ट होकर सम्पूर्ण चीन को अपने प्रभाव में लाने का स्वप्न देखने लगा।

द्वितीय चीन-जापान युद्ध (1937 ई.)
(SECOND SINO-JAPANESE WAR)

युद्ध की पृष्ठभूमि (Background of the War)

मंचूरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के पश्चात् जापान सम्पूर्ण चीन को अपने आधिपत्य में लाना चाहता था। जापान में बढ़ती सैन्यवादी प्रवृत्ति ने उदारवादी प्रवृत्तियों की एक न चलने दी। सैन्यवादी जापान के लिए उत्तरी चीन का अत्यधिक महत्व था। कीटन के अनुसार, **"मंचूरिया के पश्चात् उत्तरी चीन, जापान के लिए आशाओं की भूमि था।"**[1] वास्तव में जापान के आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की पूर्ति में उत्तरी चीन सहायक हो सकता था। उत्तरी चीन रसद की दृष्टि से तो आत्मनिर्भर था ही, साथ ही कोयला, लोहा, आदि कच्चे माल का भण्डार भी था, अतः जापान चीन पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था, किन्तु मंचूरिया के पतन के पश्चात् चीन में जापान के विरोध में जो विषवमन हो रहा था उसके कारण चीन में जापान विरोधी आन्दोलन हो रहे थे। **चीन में साम्यवाद का प्रसार बढ़ रहा था।** ऐसी परिस्थिति में साम्यवादी पार्टी एवं च्यांग काई शेक की कम्युनिस्ट पार्टी में समझौता भी हो गया था और शेक ने कम्युनिस्ट सेना को आठवीं सेना स्वीकार कर लिया था। चीन में जापानियों के विरुद्ध इन गतिविधियों ने जापान के कान खड़े कर दिए। वह चीन में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ने से पूर्व ही चीन को निगलने के लिए उतावला हो गया।

इधर 1937 ई. तक **अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां भी जापान के अनुकूल हो चुकी थीं।** मंचूरिया के प्रश्न पर राष्ट्र संघ की निर्बलता से उसका भय समाप्त हो गया था। इंग्लैण्ड, फ्रांस एवं रूस तो जर्मनी में हिटलर एवं इटली में मुसोलिनी के अभ्युदय से परेशान थे। इंग्लैण्ड, फ्रांस व रूस के लिए हिटलर व मुसोलिनी का आतंक समाप्त किए बिना सुदूरपूर्व की समस्या पर गम्भीर रूप से ध्यान दे सकना सम्भव नहीं था। अमेरिका ने इसी बीच तटस्थता की नीति की घोषणा कर दी। जापान ने इस परिस्थिति में 1936-37 में जर्मनी एवं इटली से समझौता कर लिया। यह समझौता इतिहास में **'एण्टी कोमिण्टर्न पैक्ट'** (Anti-comintern Pact) के नाम से जाना जाता है। जापान, जर्मनी एवं इटली के मध्य हुए इस समझौते ने जापान को नई शक्ति प्रदान कर दी। अतः अब जापान चीन में सैनिक कार्यवाही के लिए मौके की तलाश में था। चीन पर युद्ध थोपने के लिए आमादा जापान को बहाना तो मिल ही जाना था। **जुलाई,**

1 **"For the Japanese North China had becomes after Manchuria, another land of promise."**
—Keeton, *China, Far-East and the Future*, p. 212.

1937 में पीकिंग के निकट लुकचिकाओ नामक स्थान पर जापान की सेना युद्धाभ्यास कर रही थी। किसी कारण जापानियों का एक सैनिक लापता हो गया। जापानी सैनिकों ने मार्कोपोलो पुल पारकर वानपिंग शहर में अपने लापता साथी की तलाश हेतु जाने के लिए चीनी अधिकारियों से इजाजत मांगी। चीनी अधिकारियों के इजाजत न देने पर उन्होंने जबरन पुल पार करने का प्रयत्न किया। चीनी सेना द्वारा प्रतिरोध करने पर जापानियों ने गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया और एक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। लापता सैनिक की खोज तो बहाना मात्र था। वास्तव में जापानी सैनिक इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य कर लेना चाहते थे, जिससे भविष्य में चीन के विरुद्ध युद्ध में उन्हें पर्याप्त लाभ मिल सके। सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण इस स्थान से पीकिंग-तीन्तसिन और पीकिंग-हांको मुख्य रेलवे लाइन गुजरती थीं। लगभग तीन सप्ताह तक चीन एवं जापान के बीच समझौता वार्ता चलती रही, परन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। अतः जापान ने 26 जुलाई, 1937 को पीकिंग-तीन्तसिन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चीन की नानकिंग सरकार द्वारा विरोध किए जाने पर जापान ने चीन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

युद्ध का विस्तार एवं युद्ध का द्वितीय विश्व-युद्ध का अंग बन जाना

जापान ने पीकिंग-तीन्तसिन पर अपना आधिपत्य स्थापित करते ही जोरदार सैनिक अभियान छेड़ दिया। पीकिंग से चीनी फौज के हटते ही सम्पूर्ण हपोई प्रान्त को जापान ने अपने कब्जे में ले लिया। 31 अगस्त, 1937 को जापानी सेना ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने यांगत्सी घाटी को युद्ध की चपेट में ले लिया। मंगोलिया के चाहार एवं सुइचुआन प्रान्तों पर अधिकार कर जापान ने 29 अक्टूबर, 1937 को मंगोलिया में संघीय स्वायत्त सरकार बना दी। चीनी कम्युनिस्टों ने जापानी आक्रमण का विरोध किया, परन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। 12 सितम्बर, 1937 को चीन ने मामला राष्ट्र संघ में उठा दिया, परन्तु राष्ट्र संघ इस मामले को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के प्रयत्न में अन्ततः असफल रहा। उधर जापान ने शंघाई एवं नानकिंग पर 13 दिसम्बर, 1937 तक अपना कब्जा कर लिया। च्यांग काई शेक की नानकिंग सरकार को पश्चिम चुगकिंग पलायन करना पड़ा। 22 मार्च, 1938 में जापान ने नानकिंग में एक कठपुतली सरकार बना डाली। अब जापानी सेना ने सैनिक अभियान और अधिक तीव्र करते हुए फरवरी 1939 तक हांको, हेनान एवं कैण्टन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार पीकिंग-हांको कैण्टन रेखा से पूर्व का सम्पूर्ण चीनी क्षेत्र जापान के कब्जे में हो गया।

इसी बीच द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने से जापान का सैनिक अभियान चीन में कुछ ढीला पड़ गया। अतः साम्यवादियों ने अपना अभियान तीव्र कर दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने से अब जापान सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध करने का पक्षपाती बन गया था। साथ ही वह दक्षिण पूर्व एशिया में फ्रांस व ब्रिटेन के उपनिवेशों पर अधिकार करने पर विचार करने लगा। अतः अब जापान ने चीन में कठपुतली सरकार को पूर्ण अधिकार प्रदान करने पर विचार किया। इससे दो लाभ मिलने की सम्भावना थी। प्रथम तो चीन पर जापान की ही मर्जी से शासन होता और दूसरा, दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर जापान आसानी से बढ़ सकता था। अतः जापान के अनुरोध पर जुलाई 1941 ई. को 'वांग चिंग वेई' की कठपुतली सरकार को जर्मनी, इटली, स्पेन एवं रूमानिया सदृश फासीवादी विचारधारा के समर्थक राष्ट्रों ने मान्यता दे दी। जापान के दबाव में आकर अब नानकिंग की इस कठपुतली सरकार ने 9 जनवरी, 1953 ई. में इंग्लैण्ड और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इधर

साम्यवादियों ने माओ-त्से तुंग के नेतृत्व में कठपुतली सरकार एवं जापान का विरोध जारी रखा। इस पर जापानियों ने नृशंस अत्याचार किए। **द्वितीय विश्व-युद्ध का भाग बन जाने के कारण चीन-जापान युद्ध का अन्त भी अगस्त, 1945 ई. में जापान के समर्पण के पश्चात् ही हुआ।**

प्रश्न

1. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान के अभ्युदय पर संक्षिप्त नोट लिखिए। (पूर्वांचल, 1990; गोरखपुर, 1996)
2. वाशिंगटन सन्धियों (1921-22) की व्यवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए तथा सुदूरपूर्व पर इनके द्वारा पड़ने वाले प्रभाव पर प्रकाश डालिए। (पूर्वांचल, 1992)
3. वाशिंगटन सम्मेलन पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।
4. वाशिंगटन सम्मेलन बुलाये जाने के क्या कारण थे? इस सम्मेलन में की गई सन्धियों पर प्रकाश डालिए।
5. वाशिंगटन में की गई सन्धियों का वर्णन कीजिए। इसके महत्व एवं दोषों को भी इंगित कीजिए।
6. वाशिंगटन सम्मेलन की सन्धियों का उल्लेख करते हुए इसके परिणामों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
7. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापानी सैन्यवाद के उदय के क्या कारण थे?
8. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापानी साम्राज्यवाद के विकास के कारणों को इंगित कीजिए।
9. मंचूरिया संकट के कारणों एवं परिणामों को इंगित कीजिए। (गोरखपुर, 1992)
10. मंचूरिया संकट पर एक नोट लिखिए। (गोरखपुर, 1989)
11. द्वितीय चीन-जापान युद्ध (1937 ई.) की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए इसके प्रसार को लिखिए।
12. द्वितीय चीन-जापान युद्ध के कारणों एवं प्रसार को लिखिए।
13. दो विश्व-युद्धों के बीच जापान की विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।
14. दो विश्व-युद्धों के बीच सुदूरपूर्व में एक शक्ति के रूप में जापान के उत्थान का संक्षिप्त विवरण दीजिए। (गोरखपुर, 1993)
15. टिप्पणी लिखिए :
    (अ) मंचूरिया संकट
    (ब) द्वितीय चीन-जापान युद्ध
    (स) मंचूरिया संकट में राष्ट्र संघ की भूमिका
    (द) तनाका स्मारक पत्र
    (य) वाशिंगटन सम्मेलन

12

पूंजीवादी संकट एवं रूजवेल्ट की पुनर्व्यवस्था

[CRISIS OF CAPITALISM AND THE NEW DEAL OF ROOSEVELT]

भूमिका
(INTRODUCTION)

अमरीका के इतिहास में अमेरिकन गृह-युद्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। इसने अमरीका के इतिहास की धारा ही परिवर्तित कर दी। डब्ल्यू. आर. ब्रोक के शब्दों में, **"गृह युद्ध ने समाज के विकास क्रम को निश्चित मोड़ दिया—एक ऐसा समाज जो पहले विश्व द्वारा नहीं देखा गया हो।"**[1] अर्थव्यवस्था में क्रान्ति हो गई। उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। वैज्ञानिक साधनों से प्रकृति के अमूल्य वरदान का समाज के हित में भरपूर प्रयोग किया गया। बैंकों, उद्योगों तथा पूंजीपतियों का अमेरिकन समाज पर प्रभुत्व आरम्भ हो गया। 1910 तक जो अमरीका खेतिहर उद्योगों का कर्जदार राष्ट्र था वही 1914 तक विश्व की प्रमुख पूंजीवादी आर्थिक शक्ति के रूप में सामने आया। सी. पी. हिल के शब्दों में, **"किसी भी देश ने कभी भी इतने छोटे समय में इतनी बड़ी भौतिकवादी प्रगति नहीं देखी थी जितनी कि संयुक्त राज्य अमरीका ने कर दिखाई थी।"**[2] नि:सन्देह इस क्रान्ति के कारण राजनीति का नेतृत्व पूंजीपतियों, उद्योगपतियों एवं बैंकरों के हाथ में आ गया। एकाधिकारयुक्त पूंजी व्यवस्था देश की **'भाग्य-विधाता'** बन गई। यह ठीक है कि एकाधिकारयुक्त पूंजीवाद का विरोध भी हुआ, किन्तु अमरीका की जनता उद्योगों एवं व्यवसायों से होने वाले लाभ एवं सुविधाओं से वंचित भी नहीं होना चाहती थी। अतः अमेरिकन अर्थव्यवस्था का मूल आधार पूंजीवादी व्यवस्था यथावत् बना रहा।

पूंजीवादी व्यवस्था के पक्षपाती हर्बर्ट हूवर ने (जो कि मार्च 1929 ई. में अमरीका का राष्ट्रपति बना) यह स्पष्ट घोषित किया था कि, **"अमरीका गरीबी को नष्ट करने की दिशा में सफलता के निकट पहुंच गया है।"** किन्तु हर्बर्ट हूवर का स्वप्न उस समय रेत के ढेर से बने

1 "The civil war marked a decisive stage in the evolution of society unlike any which the world had known."
—W. R. Brock, *The Character of American History*, p. 170.

2 "No country has ever seen such material progress on so great a scale in so short time, as the U. S. A. made them."
—C. P. Hill, *A History of United States*, p. 134.

घरोंदे की तरह ढह गया जब अत्यधिक उत्पादन, अत्यधिक सट्टा एवं निम्न खपत के कारण 24 अक्टूबर 1929 में भयंकर मन्दी आ गई। हूवर ने इसे क्षणिक परिवर्तन माना, किन्तु आने वाले समय ने तो पूंजीपतियों को संकट में डाल दिया। 24 अक्टूबर, 1929 को 1 करोड़ 20 लाख के शेयर खरीदे एवं बेचे गए थे।[1] 29 अक्टूबर तक संकट इतना गहरा गया कि आर्थिक मन्दी अपनी पराकाष्ठा पर थी। महीने के अन्त तक शेयरहोल्डरों को 15 अरब डालर से अधिक की कागजी हानि हो गई एवं 1930 का प्रारम्भ होते-होते सिक्यूरिटियों की राशि घटते-घटते 40 अरब डालर रह गई। बैंकों का दिवाला निकल गया। कारखाने बन्द हो गये। बेरोजगारों की लाइन लग गई। 1929 ई. में जो शेयर 300 से 400 डालर तक बिकते थे, अब वे 25 प्रतिशत पर बेचे जाने की स्थिति में आ गए, फिर भी खरीदने वाले नहीं थे। पूंजीपति कंगाल हो गए। गैथार्न हार्डी के शब्दों में, **"आर्थिक मन्दी रूपी जिस प्रचण्ड बर्फीले तूफान ने जो अन्धड़ न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेन्ज पर छोड़ा था वह तूफान के विनाशकारी रूप में बदल गया।"**[1] अर्थ विशेषज्ञों ने अनेक प्रयत्न किए, किन्तु पतनावस्था को कोई रोक न पाया। 1933 ई. में अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने नई व्यवस्था नामक प्रसिद्ध कार्यक्रम प्रारम्भ किया तब 1933 के अन्त तक संकट के मिटने के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे।

संकट के कारण
(CAUSES OF THE CRISIS)

पूंजीवादी संकट के कारण निम्नवत् थे :

(1) सट्टेबाजी (Speculation)—कम-से-कम समय में साख पर आसानी से पूंजी कमाने की मनोवृत्ति के विकास ने शेयर बाजार में अनियन्त्रित सट्टेबाजी को प्रोत्साहित किया। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह वह निर्धन वर्ग से ही क्यों न सम्बन्धित था सट्टेबाजी पर विश्वास करता था। इन परिस्थितियों में शेयरों एवं वास्तविक सम्पत्ति के मूल्य में उत्तरोत्तर वृद्धि हो गई। मार्च 1928 में जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी के स्टॉक $128\frac{3}{4}$ थे। 18 माह बाद उनका चढ़ाव $396\frac{1}{4}$ था। न्यूयार्क एक्सचेन्ज का प्रतिदिन का व्यापार तो 50,00,000 डालर था, किन्तु जैसे ही दाम गिरने प्रारम्भ हुए, हानि से बचने के लिए सट्टेबाजों ने शेयरों की बिक्री आरम्भ कर दी, किन्तु मूल्य पतन इतनी तीव्र गति से हुआ कि यह 25 प्रतिशत पर भी बिकने मुश्किल हो गए। हूवर शासन ने इसे क्षणिक संकट समझकर सट्टेबाजी को दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। स्थिति दिनोंदिन अत्यन्त गम्भीर होती गई।

(2) उत्पादन की अधिकता और वितरण की समस्या (Over-Production and Problem of Distribution)—अमरीका में जिस प्रकार स्टॉक मार्केट में लाभांश एवं मुनाफे का 1928 के अन्त तक चरम उत्कर्ष का वेग चल रहा था उससे प्रभावित होकर अल्पसंख्यक उद्योगपति एवं पूंजीपति वर्ग ने अपनी पूंजी उत्पादन में बेहिचक लगा दी। स्थिति का आंकलन इस तथ्य से लग जाता है कि 1920 से 1929 के बीच उत्पादन में 46 प्रतिशत वृद्धि हो गई। रेफ्रीजरेटर, टेलीफोन, विद्युत सामग्री एवं मोटर गाड़ियों का निर्माण सीमा पार कर चुका था। **यह भी उल्लेखनीय है कि गृह युद्ध के पश्चात् से देश की आर्थिक स्थिति पर विशाल निगमों का व्यापक**

1 यह दिन अमरीका के इतिहास में काले गुरुवार के नाम से जाना जाता है।
2 गैथॉर्न हार्डी, ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ इण्टरनेशनल अफेयर्स, पृ. 277।

प्रभाव था। मूल्यों में वृद्धि या उनका अवमूल्यन इनके हाथ में था। प्रतिस्पर्धा का पूर्ण रूप से अभाव था। अतः प्रतिस्पर्धात्मक उत्पादन तो हुआ नहीं, जब उत्पादन का आधिक्य हो गया तो कीमतों को कम कर माल निकालना चाहिए था, किन्तु विशाल निगमों (कुछ ही लोगों) के हाथों में यह एकाधिकार होने से यह कार्य न किया जा सका। इस प्रकार के एकाधिकार प्राप्त वर्ग को मन्दी की स्थिति में कीमतों को स्थिर कर उत्पादन करने में लाभ था न कि कीमतों को कम करने में। अतः उत्पादन कम करने की प्रक्रिया व कीमतों को स्थिर करने की प्रक्रिया में मन्दी के साथ ही बेकारी बढ़ गई। इस प्रकार उत्पादन व वितरण की पूंजीवादी व्यवस्था की इस दोषपूर्ण प्रक्रिया ने पूंजीवादी संकट को अधिक तीव्र कर दिया।

(3) **ऋण** (Debts)—1923 से 1929 में लोगों ने मोटर गाड़ियां, रेफ्रीजरेटर, मशीनों, आदि की जो खरीददारी किश्तों में की वह 5 अरब डालर की कर्जदारी में थी। लघु उद्योग-धन्धे वालों ने अपने व्यापार की वृद्धि के लिए जो कर्ज लिए थे वह 2 खरब डालर पहुंच गए थे। निःसन्देह ऋण की प्रक्रिया में लाभ होता है क्योंकि इस प्रकार का ऋण अधिक ब्याज की दरों पर दिया जाता है, किन्तु इस समय अमरीका में इस ऋण की व्यवस्था ने संकट को गहरा कर दिया। **इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि 1920 से 1929 तक अमरीका के बाजार का बढ़ाव ऋण व्यवस्था पर आधारित हो गया।** ऋण किसी सीमा तक ही दिया जा सकता है क्योंकि एक सीमा तक ही खपत की वस्तुओं का निर्माण सम्भव होता है। जब ऋण वापस करने की स्थिति आती है तो स्वाभाविक रूप से बाजार सिकुड़ता है। अतः यह मानना होगा कि इस भयंकर संकट का बीज स्वयं अमरीका की दूषित अर्थव्यवस्था में निहित था।

विदेशी ऋण की अदायगी रुक गई। जब तक जर्मनी मित्र राष्ट्रों को हर्जाने का भुगतान करता रहा तब तक मित्र राष्ट्र अमरीका से लिए ऋण की धनरीश लौटाते गए। जर्मनी ने भी जो धनराशि मित्र राष्ट्रों को चुकाई वह अमरीकी बैंकरों से कर्जा लेकर चुकाई थी। अतः अमरीका का धन ही दूसरे रूप में अमरीका आ रहा था। गैथोर्न हार्डी के शब्दों में, **"अमरीकी धन एक प्रकार से गोल दायरे में चक्कर काट रहा था। अमरीका से जर्मनी, जर्मनी से क्षतिपूर्ति के दावेदार देश के पास और उस देश से कर्ज की किश्तों में वापस अमरीका।"**[1] यह व्यवस्था भी विश्वव्यापी आर्थिक संकट के आते ही चरमरा गई। इधर रूस ने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि वह जार के समय लिए गए कर्ज को नहीं चुकाएगा। धीरे-धीरे फिनलैण्ड को छोड़कर सभी कर्जदार देशों ने कर्ज को चुकाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस प्रकार अमरीका की पूंजी ठप्प हो गई जोकि अमरीका में चल रही मन्दी के समय अत्यन्त घातक सिद्ध हुई।

(4) **विदेशी व्यापार की समाप्ति** (End of the Foreign trade)—यूरोप के राष्ट्रों द्वारा अमरीका से लिए गए ऋण की अदायगी के ढुलमुल रवैये एवं अमरीका की आर्थिक स्थिति में आए संकट के कारण 1929 ई. में अमरीका ने यूरोपीय देशों को कर्जा देना बन्द कर दिया। अमरीका ने हाले-स्मूट एवं फोर्ड ने अधिनियमों के द्वारा अमरीका में होने वाले आयात माल पर भारी कर लगा दिए। यूरोपीय देशों ने भी अमरीका से निर्यात होने वाले माल पर अधिक तट कर लगा दिया। अमरीका का विदेशी व्यापार चौपट हो गया।

1 **"The American money had been making a kind of circular tour of Germany, from Germany to the claimants of reparation and from these, back again to the U. S. in the form of war-debt payments."**

—**Gathorne Hardy, *A Short History of International Affairs*.**

(5) वेतन की असमानता—यह ठीक है कि अमरीका ने विश्व की आर्थिक शक्ति के रूप में अपना स्थान बना लिया था, किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में समाज की आर्थिक स्थिति असमान थी। हार्डिंग कूलिज एवं हर्बर्ट हूबर किसानों की समस्याओं को दूर नहीं कर सके। **1929 में 60 प्रतिशत नौकरी करने वाले लोगों को प्रति वर्ष 2,500 डालर मिलता, शेष 40 प्रतिशत को 1,500 डालर प्रतिवर्ष मिल रहा था।** उच्चवर्गीय लोगों का जीवन चमक-दमकपूर्ण था। कुल मिलाकर असमानता की भयंकर खाई विद्यमान थी। अतः भयंकर आर्थिक संकट के समय लोगों की क्रयशक्ति क्षीण होना आवश्यक था जिसने पूंजीवादी संकट को स्पष्ट कर दिया।

इस प्रकार माना जा सकता है कि अत्यधिक सट्टेबाजी, प्रभूत उत्पादन एवं निम्न खपत ऋण, सामाजिक-आर्थिक असमानता, विश्वव्यापी आर्थिक संकट एवं विदेशी व्यापार की समाप्ति, आदि ने अमरीका में पूंजीवादी संकट को जन्म दिया।

परिणाम
(RESULTS)

पूंजीवादी व्यवस्था के लिए 1929 का आर्थिक संकट निःसन्देह एक भयंकर संकट के रूप में उपस्थित हुआ। नेविन्स एवं कॉमजेर के शब्दों में, **"स्पष्टतः यह संकट अधिक उत्पादन के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था, कमी के कारण नहीं। सम्पत्ति और वस्तुओं की वितरण व्यवस्था लड़खड़ा जाने का और व्यावसायिक नेतृत्व की असफलता का इतना विशाल और सम्पूर्ण उदाहरण कहीं न प्राप्त न होगा।"** 1929 के प्रारम्भ तक पूंजीवादी व्यवस्था पर गर्व करने वाले शीघ्र ही वर्ग संघर्ष एवं ग़रीबी को समाप्त करने का दावा कर रहे थे, वह खोखला सिद्ध हो चुका था। निःसन्देह यह अमरीकी विश्वास का भी संकट था। अमरीका में 1929 में बेकारों की संख्या 5 लाख थी जो कि 1933 में 1 करोड़ 20 लाख पहुंच गई। **महान पूंजीवादी देश अमरीका जो कि धन कुबेर माना जाता था, की भी आर्थिक स्थिति को चरमराता देख अब यूरोपीय स्वार्थपरायणता पर आधारित आर्थिक राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख हुए।** लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के स्थान पर लोगों का विश्वास अधिनायकवाद की ओर उन्मुख हुआ। जर्मनी में नाजी एवं इटली में फासीवादी प्रवृत्तियों को बल मिला। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् विश्व मोटे तौर पर साम्यवादी एवं पूंजीवादी इन दो गुटों के रूप में विभक्त हो गया था। साम्यवादी रूस पर विश्वव्यापी आर्थिक संकट का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। जब पूंजीवादी विश्व भयंकर आर्थिक समस्या से जूझ रहा था तब सोवियत रूस ने औद्योगिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की। जनता साम्यवाद की ओर आकृष्ट होने लगी। इस स्थिति में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल ने अपनी गतिविधियों को और अधिक तीव्र कर दिया। फलस्वरूप यूरोपीय देशों में साम्यवाद का प्रसार तीव्र गति से होने लगा। निःसन्देह साम्यवाद की अभूतपूर्व उन्नति पूंजीवादी व्यवस्था के लिए गम्भीर चुनौती थी।

पूंजीवादी अमरीका में व्याप्त भयावह स्थिति को राष्ट्रपति हूवर नियन्त्रित न कर सका। क्रान्ति की भयंकर स्थिति होते हुए भी अमरीका की राजनीतिक परम्परा अवश्य प्रशंसनीय है कि क्रान्ति नहीं हुई और लोकतन्त्रीय परम्परानुसार जनता ने 1932 के चुनावों में डेमोक्रेटिक दल को विजय दिलाई और प्रत्याशी फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट को राष्ट्रपति के पद पर आसीन किया।

फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट
(FRANKLIN DELANO ROOSEVELT)

संकट की स्थिति में स्वाभाविक रूप से सभी का ध्यान शासन के अधिपति की ओर चला ही जाता है। हर्बर्ट हूवर के सम्पूर्ण प्रयास निरन्तर, मन्दी, उत्पादन की कमी, बेकारी एवं कारखानों की बन्दी के कारण जब असफल हो गए तो अमरीका में बारम्बार यह प्रश्न पूछा जा रहा था कि **"वह कहां है"?** इस प्रश्न का उत्तर था फ्रैंकलिन डिलानो रूजवेल्ट। उसके माता-पिता ने उसे स्कूली शिक्षा देने के साथ-साथ 7 एवं 14 वर्ष की छोटी-सी आयु के बीच में ही यूरोप के देशों के भ्रमण पर भेजा। उसने हवाई विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। विल्सन के कार्यकाल में यह नौसेना का सहायक सचिव रह चुका था। 1920 ई. में उसने राष्ट्रपति के पद के लिए चुनाव लड़ा, किन्तु इसी बीच पक्षाघात के कारण उसे 7 वर्ष स्वास्थ्य लाभ में लगाने पड़े। इन 7 वर्षों को उसने खाली नहीं गंवाया अपितु राजनीति का गम्भीर अध्ययन करने के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा अपने अनुयायियों का एक निष्ठावान वर्ग तैयार किया और 1932 के आम चुनाव में भाग लिया, उसने अपने चुनाव प्रचार अभियान में अपने एक भाषण में स्पष्टतः कहा **"मैं आपको आश्वस्त करता हूं। अमरीकी जनता को मैं न्यू डील देने का आश्वासन देता हूं।"** अमरीकी जनता ने आशा से उसे एवं उसके डेमोक्रेटिक दल को भारी बहुमत से विजयी बनाया। स्वयं रूजवेल्ट का भी सामान्य जनता के प्रति अगाध स्नेह था। नेविन्स एवं कौमेजर के शब्दों में, **"उसका सामान्य जनता में गहरा विश्वास ठीक उतना ही अगाध था जितना ब्रायन का था और लोकतन्त्र में उसका हार्दिक विश्वास विल्सन जैसा गहरा था।"** अमरीकी जनता से मिले अगाध प्रेम एवं आशा की अब रूजवेल्ट को रक्षा करनी थी। अतः 4 मार्च, 1933 को राष्ट्रपति के पद पर आसीन होने के पश्चात् से ही उसने अपनी **न्यू डील** (New Deal) की नीति को क्रियान्वयन में लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया, जिससे भयंकर संकट की स्थिति से अमरीका को बचाया जा सके।

पुनर्व्यवस्था
(NEW DEAL)

पुनर्व्यवस्था से तात्पर्य (Meaning of the New Deal)

न्यू डील या पुनर्व्यवस्था शब्द जिसका प्रयोग फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने राष्ट्रपति पद के लिए नामांकन भरते समय 1932 में किया था, लन्दन के अर्थशास्त्रियों के लिए विचारणीय विषय बन गया था। फलस्वरूप उन्होंने इस शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए 150 पृष्ठों की एक पुस्तक की रचना की, किन्तु अन्ततः यह स्वीकार किया कि **"उत्तर अभी भी पूर्ण नहीं है।"** वेड वाइल्डर ने इसे **'एक संकटकालीन कार्यक्रम बताया जिसका मूल उद्देश्य दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था को ठीक ढर्रे पर लाना था।** सम्भवतः इसी कारण रूजवेल्ट ने स्पष्ट घोषित किया "मैं उन कदमों को उठाने के लिए कृत संकल्प हूं, जो संकटग्रस्त विश्व में एक संकटासन्न राष्ट्र को उठाने चाहिए। इन कदमों को उठाने के लिए मैं सभी संवैधानिक अधिकारों का प्रयोग करूंगा और यदि कांग्रेस ने इसमें बाधा डाली तो मैं इस संकट को टालने के लिए अन्तिम अस्त्र की मांग करूंगा जो कि किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण के समय राष्ट्रपति को प्राप्त हो जाते हैं।" राष्ट्रपति ने जिस प्रकार 6 मार्च, 1933 को ही आपातकालीन घोषणा प्रसारित की और बैंकों का विलम्ब काल घोषित कर स्वर्णमान

को समाप्त किया तथा आपातकालीन विधेयक पास कराए वह राष्ट्र की वित्तीय, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को ठीक करने के लिए आवश्यक थे। **इस प्रकार जो विधेयक पास किए गए उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम,** वे विधेयक जो तात्कालिक एवं आवश्यक समस्याओं से सम्बन्धित थे और **द्वितीय,** वे विधेयक जो स्थायी विकास से सम्बन्धित थे। इन दोनों प्रकार के विधेयकों को सामूहिक रूप से न्यू डील के नाम से जाना गया।

न्यू डील के उद्देश्य (Objectives of the New Deal)

न्यू डील का प्रमुख उद्देश्य प्रचलित अर्थव्यवस्था में राजकीय हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण स्थापित कर आर्थिक मन्दी के दुष्परिणामों को समाप्त करना था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने स्वयं इस व्यवस्था के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था "हम अपनी अर्थव्यवस्था द्वारा कृषि एवं उद्योग में सन्तुलन के पक्षपाती हैं। हम मजदूर, मालिक एवं उपभोक्ताओं के मध्य सन्तुलन स्थापित करना चाहते हैं। हम अपने आन्तरिक व्यापार को समृद्धिशाली बनाए रखना चाहते हैं तथा हमारा बाह्य व्यापार खाते के दोनों पक्षों में वृद्धि को प्राप्त करे।" इस प्रकार रूजवेल्ट के न्यू डील का उद्देश्य केवल आर्थिक प्रत्युत्थान तक ही सीमित नहीं था। गैथार्न हार्डी के शब्दों में **"सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि रूजवेल्ट का उद्देश्य केवल आर्थिक प्रत्युत्थान नहीं था। उसके द्वारा अपनाए गए उपायों के तीन उद्देश्य राहत, सुधार एवं प्रत्युत्थान थे।"**[1]

न्यू डील के क्रियान्वयन में जो नीतियां अपनाई गईं उन्हें मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम औद्योगिक नीति, द्वितीय आर्थिक प्रत्युत्थान की नीति, तृतीय कृषि नीति एवं चतुर्थ वित्तीय नीति। **संक्षेप में, इन चारों का उल्लेख निम्नवत् है :**

1. **औद्योगिक नीति** (Industrial Policy)—फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की धारणा थी कि उद्योगपतियों को लाभ के स्थान पर जो हानि हो रही है उसका मूल कारण अत्यधिक प्रतियोगिता था। लाभ की वृद्धि के लिए प्रतियोगिता का समाप्त करना आवश्यक था। अतः रूजवेल्ट ने विनियोग करने एवं विनियोग के लिए प्रोत्साहन की नीति को अपनाते हुए **निम्नलिखित कदम उठाए :**

(अ) राष्ट्रपति को प्रत्येक उद्योग में एक औद्योगिक संहिता बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया जिससे कि प्रतियोगिता एवं वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि की नीति को प्रभावशाली तरीके से लागू किया जा सके।

(ब) औद्योगिक प्रत्युत्थान के लिए जनता की क्रय शक्ति का शक्तिशाली होना आवश्यक था। अतः श्रमिकों की सामूहिक मोल-भाव व्यवस्था हेतु कानून पास किए गए।

(स) राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह न्यूनतम मजदूरी, काम के घण्टे एवं रोजगार की शर्तें निर्धारित करें।

(द) कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति को जनहित पर 30,000 लाख डालर व्यय करने का अधिकार दिया गया।

उक्त सभी कदम **"राष्ट्रीय, औद्योगिक प्रत्युत्थान अधिनियम"** (नीरा)—(National Recovery Administration Department) के तहत किए गए। यह अधिनियम 1933 में पास हुआ। इस अधिनियम के उपबन्धों को लागू कराने के लिए 'राष्ट्रीय औद्योगिक प्रत्युत्थान प्रशासन विभाग' (National Recovery Administration Department) खोला गया।

---

1 गैर्थार्न हार्डी, ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ इण्टरनेशनल अफेयर्स, पृ. 277-78।

रूजवेल्ट ने नीरा के विषय में कहा, **"यह अत्यन्त महत्वपूर्ण दूरव्यापी अधिनियम है जो अभी तक इसके पूर्व कांग्रेस ने पारित नहीं किया।"**

नीरा का अत्यन्त सुखद प्रभाव पड़ा। 1933 के अन्त तक मजदूरी में 25% की वृद्धि एवं रोजगार में 37% तक की वृद्धि हुई, किन्तु 1935 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा नीरा को अवैध घोषित कर दिया गया। न्यू डील के प्रति न्यायालय के इस रवैये ने रूजवेल्ट को अधिक सोचने एवं शीघ्र कार्य करने पर प्रोत्साहित किया। सर्वोच्च न्यायालय में 9 में से 4 न्यायाधीश अनुदारवादी थे, किन्तु न्यायाधीश रॉबर्ट ढुलमुल था। स्थिति को देखते हुए रूजवेल्ट ने कांग्रेस को यह प्रस्ताव दिया कि जब कोई न्यायाधीश 70 वर्ष की आयु पूर्ण कर ले, किन्तु अवकाश प्राप्त न करे तो राष्ट्रपति को एक अतिरिक्त न्यायाधीश की नियुक्ति की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। अब क्योंकि इस समय 6 न्यायाधीश 70 वर्ष के ऊपर थे, अतः स्पष्ट था कि 15 न्यायाधीश (9 + 6) न्यायालय में होंगे। जब इस प्रस्ताव पर बहस चल ही रही थी कि रॉबर्ट ने न्यू डील के पक्ष में अपना मत देकर अधिनियम की अवैधता को समाप्त कर दिया, अतः सन् 1935 में ही 'वेजनर अधिनियम' (Weizner Act) पारित हुआ। राष्ट्रपति की नीति एवं न्यायालय के मध्य शक्ति युद्ध का अन्त तो हुआ, किन्तु अगले चार वर्षों में 6 न्यायाधीशों के सेवा निवृत्त होते ही रूजवेल्ट ने उदारवादी न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति को ही परिवर्तित कर दिया। **नैविन्स एवं कौमेजर के शब्दों में, "इस विवाद ने न्यायालय को प्रेरित किया कि वह शासन की तीनों शाखाओं की पृथकता एवं समानता के संवैधानिक उपबन्धों का अधिक यथार्थवादी नीति से सम्मान करे और स्वतः को अमरीकी लोकतन्त्र के अनुरूप ढाले।"**

पिछड़े उद्योगों के श्रमिकों की स्थिति ठीक करने के लिए 25 जून, 1938 को फेअर लेबर स्टेण्डर्ड एक्ट पास हुआ। इसके अनुसार 18 वर्ष की उम्र से कम के बच्चों से काम कराना अवैध घोषित किया गया, न्यूनतम मजदूरी एवं अधिकतम काम के घण्टे निश्चित कर दिए गए।

2. आर्थिक प्रत्युत्थान की नीति (Policy of Economic Recovery)—घाटे की अर्थव्यवस्था की प्रणाली को अपनाना, लोक व्यय के लिए विभिन्न संगठनों की स्थापना, कृषकों की आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखकर 'प्रक्षेत्र साख प्रशासन' की स्थापना, कार्य सहाय्य तथा लोक कार्य विभाग की स्थापना, आवास निर्माणार्थ गृह स्वामी ऋण निगम की स्थापना, सामाजिक सुरक्षा अधिनियम 1935 (जिसके अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था, बेरोजगारी बीमा, वृद्धावस्था पैंशन, आदि का प्रावधान था।) आदि उपाय निःसन्देह आर्थिक प्रत्युत्थान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए।

3. कृषि नीति (Agriculture Policy)—रूजवेल्ट की धारणा थी कि अत्यधिक उत्पादन कृषि समस्याओं का मुख्य कारण है। रूजवेल्ट न्यू डील कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का निदान करना चाहता था। **अतः रूजवेल्ट ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1933 ई. में 'कृषि समायोजन अधिनियम' पास किया।** इस अधिनियम का उद्देश्य कृषि उपज का मूल्य बढ़ाकर उसे नियन्त्रित कराना था। कृषकों को कम उत्पादन के लिए आग्रह किया गया, परन्तु इस आग्रह के सफल क्रियान्वयन के लिए कृषकों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की गई। व्यावसायियों से अतिरिक्त कर वसूल किया गया। ये उपाय कठोर तो थे, किन्तु इन

उपायों ने 1937 ई. तक खेतिहर पैदावारों का भाव 86% तक बढ़ाकर रख दिया। 1936 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को अवैध घोषित कर दिया। इसका कारण यह बताया गया कि राज्यों के अधिकारों पर संघीय अतिक्रमण था, किन्तु रूजवेल्ट ने अपने ढंग से कार्य करने की नीति पर चलते हुए 'कृषि काश्तकारी अधिनियम 1937' पास कराकर प्रत्येक क्षेत्र की उत्पादन सीमा निर्धारित की। जब लाभ की विशेष आशा रूजवेल्ट को न दिखाई दी तो उसने तुरन्त कदम उठाते हुए कृषिगत वस्तुओं के निर्यात हेतु सरकार द्वारा सहायता देने की घोषणा की। **यह घोषित किया कि "यदि कृषक अपनी कृषि योग्य भूमि के एक अंश पर कृषि नहीं करेगा तो उसे सरकार की ओर से 'बोनस' (Bonus) प्रदान किया जाएगा।"** इस बोनस का मुख्य उद्देश्य यह था कि कृषक को जो हानि अपनी कृषि योग्य भूमि के एक अंश पर कृषि न करके होती उसे बोनस देकर पूरा कर लिया जाएगा।

4. वित्तीय नीतियां (Financial Policies)—रूजवेल्ट ने मुद्रा एवं साख की व्यवस्था में सुधार लाने के लिए तुरन्त बैंकों का आदेश दिए कि वे जितनी भी स्वर्ण मुद्राएं एवं स्वर्ण प्रमाणपत्र उनके पास हैं शासन को लौटा दें। कांग्रेस का आपातकालीन अधिवेशन तुरन्त बुलाया गया और 1933 ई. में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम (The Banking Company Act) के द्वारा पुनर्निर्माण वित्त निगम (Reconstruction Finance Corporation) तक संघीय रिजर्व बैंक की संस्थाओं एवं व्यावसायिक फर्मों को आवश्यक मात्रा में ऋण देने की दृष्टि से एक कर दिया गया। **संघीय रिजर्व बैंकों को नोट प्रचलित करने का अधिकार प्रदान किया गया। 1933 के बैंकिंग अधिनियम द्वारा मुद्रा एवं साख के संघीय नियन्त्रण को बढ़ा दिया गया।** संघीय निरीक्षकों को आदेश दिया गया कि वे बैंकों का पुर्निरीक्षण करें और बन्द बैंकों को पुनः खोलने की व्यवस्था करें। बैंकों को संघीय ऋण प्रदान करने की व्यवस्था की गई। संघीय ऋण के कारण बैंकों को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। यह आदेश दे दिया गया कि 15 मार्च, 1933 तक 50 प्रतिशत बैंक खोल दिए जाएं। 25 प्रतिशत बैंकों को सीमित व्यापार एवं 20 प्रतिशत बैंकों को सामान्यतः धनराशि जमा करने की दृष्टि से कारगर घोषित किया गया। शेष 5 प्रतिशत बैंकों को दिवालिया घोषित कर बन्द कर दिया गया। लोगों ने राष्ट्रपति के महत्वपूर्ण कदमों से आशान्वित होकर तीन सप्ताह के भीतर ही 1 अरब डालर की मुद्रा बैंकों में जमा कर दी। **निःसन्देह अब बैंकों का संकट समाप्त हो गया। वाल्टर लिपमैन ने ठीक ही लिखा था "देश को खोया हुआ आत्मविश्वास एक सप्ताह में ही लौट आया और शासन के प्रति निष्ठा ने जन्म ले लिया था।"**

यही नहीं, बाजार नियन्त्रण पर विशेष बल दिया गया। प्रतिभूतियों के बाजारों को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की गई। निर्यात में वृद्धि करने हेतु डालर के अवमूल्यन की नीति अपनाई गई। द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते की नीति के तहत विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते किए। **'सुलभ मुद्रा नीति'** को विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए लागू किया गया। **'टेनेसी घाटी क्षेत्र'** के विकास के लिए **'टेनेसी घाटी परियोजना'** बनाई गई। टेनेसी योजना वास्तव में प्रादेशिक विकास योजना थी जिसे दूसरे शब्दों में क्षेत्रीय नियोजन भी कहा जा सकता है। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए **'टेनेसी वेली डेवलपमैण्ट एक्ट'** पास कराया गया और कांग्रेस ने विकास की योजना को लागू करने का कार्य **'टेनेसी घाटी सत्ता'** को सौंपा। 1940 तक टेनेसी सत्ता ने सात बांधों का निर्माण कर डाला। विद्युत गृहों का

निर्माण हुआ तथा विद्युत उत्पादन का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। भूमि कटाव को रोकने के लिए वृक्षारोपण कार्यक्रम अपनाया गया। बाढ़ नियन्त्रण कार्यक्रम बनाए गए। इस प्रकार इस योजना ने 49 हजार हेक्टेयर क्षेत्रफल वाले जिसमें 20 लाख लोग निवास करते थे, अत्यन्त अविकसित क्षेत्र को विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

न्यू डील का मूल्यांकन
(EVALUATION OF THE NEW DEAL)

न्यू डील का कार्यक्रम फ्रैंकलिन रूजवेल्ट द्वारा ऐसे समय पर लागू किया गया जबकि अमरीका का राष्ट्रीय जनजीवन आर्थिक मन्दी के कारण अत्यन्त अस्त-व्यस्त था। ऐसा लगता था कि अमरीका रक्तमय क्रान्ति में डूब सकता था, किन्तु रूजवेल्ट के न्यू डील ने स्थिति को नियन्त्रित किया। जहां तक न्यू डील के परीक्षण का प्रश्न है राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। न्यू डील के समर्थक इस बात का दावा करते हैं कि न्यू डील ने बैंकिंग एवं मुद्रा पद्धति को पुनर्जीवन प्रदान किया, कृषि तथा उद्योग में वृद्धि हुई, रोजगार का प्रतिशत बढ़ा एवं व्यापार व व्यवसाय की उन्नति हुई, किन्तु न्यू डील के आलोचकों का मानना है कि न्यू डील एक अत्यावश्यक आक्रमण था। **कट्टर व्यक्तिवादियों ने तो यहां तक कहा कि 'रूजवेल्ट पागल राजनीतिज्ञ था जो देश की आर्थिक व्यवस्था एवं संवैधानिक परम्पराओं को समाप्त करने पर तुला हुआ था। न्यू डील ने आधुनिक अमरीकी पूंजीवाद के उदय में बाधा डाली।''** आलोचकों ने अमेरिका की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुधरती दशा को उत्तरदायी माना है न कि न्यू डील को। अपने मत की पुष्टि में आलोचकों का दावा है कि न्यू डील का आर्थिक प्रत्युत्थान सन्तोषप्रद नहीं था। जो परिवर्तन दृष्टिगत हुए वह सरकारी व्यय के कारण हुए। न्यू डील को लागू करने में भी अपार धनराशि खर्च हुई। फलस्वरूप अमरीका का राष्ट्रीय ऋण जो कि 1933 में 19,500 मिलियन डालर था। 1937 में 36,000 मिलियन डालर तक पहुंच गया। जहां तक बेकारी दूर करने एवं उत्पादन का प्रश्न है वह असफल रहा।

न्यू डील की आलोचना के सन्दर्भ में जो भी आरोप लगाए गए हैं उन्हें पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। न्यू डील ने आधुनिक अमरीकी पूंजीवाद के उदय में बाधा पहुंचाई यह दावा तो राजनीतिक परिस्थिति एवं परिवर्तन की दृष्टि से उचित प्रतीत होता ही नहीं है। 1932 में समाजवादी एवं साम्यवादियों को 10 लाख मत प्राप्त हुए जबकि 1936 में 2 लाख और 1940 में 1 लाख मत प्राप्त हुए। वास्तव में ये आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति राजनीति में प्रवेश करना चाहता हो, उसे तो मुक्त उद्यम के सिद्धान्त पर विश्वास करना आवश्यक हो गया था। ऐसी स्थिति में न्यू डील को पूंजीवाद के उदय में अवरोध की बात कहना हास्यास्पद प्रतीत होता है।

जहां तक अर्थव्यवस्था का सम्बन्ध है उसमें भी नवीन सुधार दृष्टिगत हुए। आर्थिक पद्धति में नियोजन एवं केन्द्रीय नियन्त्रण का समावेश हुआ। राजकीय नियन्त्रण के मार्ग से समाजवादी व्यवस्था को अपनाने की आवश्यकता समाप्त हो गई। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसने शीघ्र से शीघ्र सम्पन्नता प्राप्ति का द्वार खोल दिया था। इसने अर्थव्यवस्था में एक नए सिद्धान्त का सूत्रपात कर दिया कि आर्थिक संक्रान्ति का मूल कारण अत्यधिक बचत एवं अल्प व्यय है। सामाजिक सुरक्षा, राष्ट्रीय युवा प्रशासन, वेजनर अधिनियम, राष्ट्रीय पुनरुद्धार अधिनियम,

सुरक्षा समायोजन एवं टेनेसी घाटी परियोजना, आदि ऐसे कार्यक्रम थे जिन्होंने प्रतिस्पर्धा के युग में गरीब, निर्धन, अल्पसंख्यक, प्रवासी, शिक्षक एवं कलाकार, आदि को संरक्षण प्रदान किया जो कि रूजवेल्ट का एक महान कार्य था। वास्तव में न्यू डील एक क्रान्ति नहीं अपितु रक्तमय क्रान्ति को रोकने की दिशा में लागू की गई व्यवस्था थी। अन्ततः वेड-वाइडर-वेड के शब्दों में कहा जा सकता है कि "वास्तव में न्यू डील की कमजोरियां इसके द्वारा जीने के कारगर तरीकों के लिए प्रजातन्त्र की पुनः स्थापना के आगे समाप्त हो जाती हैं। आर्थिक संकट की भयंकर विभीषिका से उत्पन्न भयंकर अराजकता में भी प्रजातन्त्र को शक्ति प्रदान कर रूजवेल्ट ने निश्चय ही प्रजातन्त्र की रक्षा की थी। स्वयं रिपब्लिकन दल ने भी 1940 तक इन सभी कार्यक्रमों पर अपनी पक्की मुहर लगा दी।"[1]

प्रश्न

1. पूंजीवादी संकट से क्या अभिप्राय है? अमेरिका के सन्दर्भ में इस संकट की व्याख्या कीजिए।
2. पूंजीवादी संकट के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए।
3. भयंकर मन्दी के कारणों एवं परिणामों को इंगित कीजिए।
4. एफ. डी. रूजवेल्ट की न्यू डील नीति का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
5. एफ. डी. रूजवेल्ट के न्यू डील का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
6. रूजवेल्ट की पुनव्यर्वस्था से क्या अभिप्राय है? इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहां तक सफल हो सकी?
7. फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के न्यू डील पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
   (गोरखपुर, 1990, 93, 96; लखनऊ, 1992)
8. अमरीका में आई घोर मन्दी से क्या अभिप्राय है? इसे फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने दूर करने में कहां तक सफलता प्राप्त की?

1 Wade-Wider-Wade, *A History of United States*, p. 806.

13

द्वितीय विश्व-युद्ध एवं उसके अनुपरिणाम

[SECOND WORLD WAR AND ITS AFTERMATH]

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रथम विश्व-युद्ध 1914-18 ई. तक चला था तथा इसमें भाग ले रहे 36 राष्ट्रों को अपार जन-धन की हानि का सामना करना पड़ा था। **युद्ध की समाप्ति पर पराजित राष्ट्रों तथा विशेष रूप से जर्मनी के साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार किया गया जिससे उन राष्ट्रों में प्रतिशोध की भावना प्रबल होती गयी और बीस वर्ष पश्चात् पुनः युद्ध के बादल विश्व पर मंडराने लगे।** इंगलैण्ड की तुष्टीकरण की नीति से यह बादल और भी सघन होते गये और शीघ्र ही 1939 ई. में द्वितीय विश्व-युद्ध के रूप में प्रस्फुटित हो गये।

द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण
(CAUSES OF THE SOCOND WORLD WAR)

1939 ई. से 1945 ई. तक हुए इस युद्ध के प्रारम्भ होने के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे :

(i) प्रथम विश्व-युद्ध एवं वार्साय की सन्धि (First World War and the Treaty of Versailles)—द्वितीय विश्व-युद्ध का एक प्रमुख कारण प्रथम विश्व-युद्ध में ही निहित था। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने के वही कारण थे जिनके कारण प्रथम विश्व-युद्ध हुआ था। वार्साय की सन्धि, ऐसा प्रतीत होता है कि शान्ति सन्धि नहीं थी, अपितु बीस वर्षों के लिए युद्ध-विराम सन्धि थी। प्रथम विश्व-युद्ध सम्भवतः दोनों पक्षों की आकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सका था। अतः इन अरमानों की पूर्ति हेतु द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ।

वार्साय की सन्धि (Treaty of Versailles) पर भी द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ करने का उत्तरदायित्व है। प्रथम विश्व-युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् 1919 ई. में जर्मन के साथ वार्साय की सन्धि की गयी थी। **जर्मनी के साथ इसमें प्रतिशोध की भावना से अत्यन्त कठोर व्यवहार किया गया था, ताकि उसे स्थायी रूप से शक्तिहीन बनाया जा सके।** इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को अनेक भागों में विभक्त किया गया, उसके उपनिवेशों पर मित्र-राष्ट्रों ने अधिकार किया तथा खानों एवं कारखानों को मित्र-राष्ट्रों ने परस्पर वितरित कर लिया। **जर्मनी पर युद्ध-हर्जाना भी इतना अधिक किया गया था कि उसे चुकाना जर्मनी के लिए असम्भव था।** जर्मनी से इस सन्धि-पत्र पर बलपूर्वक हस्ताक्षर कराये गये। इस प्रकार मित्र-राष्ट्रों द्वारा अदूरदर्शिता

का प्रदर्शन करती हुई, जर्मनी के साथ की गयी इस सन्धि ने जर्मन को इसे भंग करने एवं मित्र-राष्ट्रों से प्रतिशोध लेने के लिए बाध्य किया। **इसी कारण द्वितीय विश्व-युद्ध को प्रतिशोधात्मक-युद्ध** (War of Revenge) **कहा जाता है।**

(ii) दलबन्दी (Party System)—प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व यूरोप दो सैनिक खेमों **त्रि-दल** (Triple Alliance) तथा **त्रि-मैत्री** (Triple Entente) में विभक्त हो गया था। इसी प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व भी यूरोप दो भागों में विभक्त हो चुका। **द्वितीय विश्व-युद्ध में एक ओर जर्मनी, इटली व जापान थे जिन्हें धुरी शक्तियां** (Axis Powers) **कहते थे।** धुरी शक्तियां वार्साय सन्धि की विरोधी तथा अधिनायकवाद की समर्थक थीं। **दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों में फ्रांस, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया तथा रूमानिया थे।** युद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ समय पश्चात् इंग्लैण्ड मित्र राष्ट्रों की तथा रूस धुरी शक्तियों की ओर हो गया। युद्ध काल में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने से रूस भी मित्र-राष्ट्रों की ओर हो गया तथा पर्ल हार्बर पर आक्रमण होने पर अमरीका भी इसी दल में मिल गया। इस प्रकार पोलैण्ड व जर्मनी का झगड़ा विश्व-युद्ध में परिणत हो गया।

(iii) सैनिकवाद (Militarism) 1919 ई. की वार्साय की सन्धि के द्वारा जर्मनी को निर्बल बनाने के उद्देश्य से उसका निःशस्त्रीकरण कर दिया गया था। इसके पश्चात् भी फ्रांस का जर्मनी के प्रति भय कम न हुआ। अतः वह सैनिक तैयारियां करता ही रहा। 1933 ई. में जर्मनी में हिटलर शक्ति में आया। **हिटलर ने वार्साय की सन्धि की अवहेलना करके अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करना प्रारम्भ कर दिया। उसने सैनिक सेवा अनिवार्य की तथा हथियारों के उत्पादन को बढ़ाया।** हिटलर द्वारा निरन्तर सैनिक शक्ति में वृद्धि होते देखकर इंगलैण्ड को भी इस ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ा। इंगलैण्ड, जो प्रारम्भ में निःशस्त्रीकरण के पक्ष में था, हिटलर की नीति को देखकर स्वयं की सैन्य-शक्ति में वृद्धि करने पर विवश हुआ। धीरे-धीरे जापान, इटली तथा रूस ने भी अपनी सैन्य-शक्ति में वृद्धि करना प्रारंम्भ किया। सभी देशों के द्वारा सैनिक तैयारियां करने पर युद्ध का होना स्वाभाविक ही था।

(iv) राष्ट्र संघ की निर्बलता (Weakness of League of Nations)—प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् पारस्परिक समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी थी, **किन्तु राष्ट्र-संघ अपने उद्देश्य में सफलता न प्राप्त कर सका।** अनेक राष्ट्र, राष्ट्र-संघ से पृथक् हो गये तथा उन्होंने उसके प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया, किन्तु राष्ट्र संघ ऐसे देशों के विरुद्ध कार्यवाही न कर सका जिससे उसकी निर्बलता स्पष्ट हो गयी। अतः अन्य देशों को भी राष्ट्र संघ से सुरक्षा प्राप्त करने का विश्वास समाप्त हो गया।

(v) साम्राज्यवाद (Imperialism)—प्रथम विश्व-युद्ध का भी एक प्रमुख कारण साम्राज्यवाद था। इस युद्ध के पश्चात् भी साम्राज्यवाद की भावनाएं समाप्त न हो सकीं। **जर्मनी एवं इटली वार्साय सन्धि का विरोध करते हुए बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए उपनिवेश स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो गये।** जापान भी साम्राज्यवादी नीति का समर्थक था तथा उसकी दृष्टि चीन पर लगी थी। इन देशों की साम्राज्यवादी नीति इंगलैण्ड व फ्रांस के हितों से टकरा रही थी। अतः युद्ध होना आवश्यक भी था।

(vi) **तानाशाहों का उदय (Rise of Dictators)**—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व यूरोप के अनेक देशों में तानाशाहों का शासन स्थापित हुआ। जर्मनी में बीमर गणतन्त्र के शासन की असफलता के पश्चात् नाजी दल का नेता हिटलर (Hitler) शक्ति में आया। **उसका प्रमुख उद्देश्य वार्साय सन्धि की अवहेलना करके जर्मनी के खोये हुए सम्मान को पुनः अर्जित करना था।** अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने सैन्य-शक्ति को बढ़ाया व आस्ट्रिया तथा चैकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिया।

इटली में भी मुसोलिनी (Mussolini) नामक तानाशाह शक्ति में आया तथा इटली में फासीवाद की स्थापना करने में सफल हुआ। **इटली का विचार था कि यद्यपि उसने मित्र-राष्ट्रों को प्रथम विश्व-युद्ध में सहयोग दिया तथापि उसे उचित इनाम नहीं दिया गया।** अतः यह मित्र राष्ट्रों एवं वार्साय की सन्धि का विरोधी हो गया तथा उपनिवेश स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो गया। **स्पेन में भी तानाशाही की भावनाएं शक्तिशाली होती गयीं** तथा शीघ्र ही जनरल फ्रैंको नामक व्यक्ति ने इटली एवं जर्मनी की सहायता से गणतन्त्र शासन के विरुद्ध विद्रोह किया तथा अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार विभिन्न देशों में तानाशाहों का उदय हुआ, जिन्होंने शीघ्र ही अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयास सैनिक शक्ति के आधार पर किया। ऐसी स्थिति में युद्ध होना स्वाभाविक ही था।

(vii) **दो विचारधाराओं का संघर्ष (Struggle between two thought)**—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व में **दो प्रकार की विचारधाराएं प्रचलित थीं—जनतन्त्रात्मक एवं एकतन्त्रात्मक।** जनतन्त्रात्मक विचारधारा इंगलैण्ड, फ्रांस एवं अमरीका में प्रचलित थी जबकि इटली, जर्मनी एवं जापान एकतन्त्रात्मक विचारधारा के समर्थक थे। शीघ्र ही इन दोनों विचारधाराओं में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अतः दोनों में निर्णय होना निश्चित ही था जिसका एकमात्र रास्ता युद्ध ही था। इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने एक बार कहा था—'**दोनों विचारधाराओं के संघर्ष में समझौता होना असम्भव है। इस संघर्ष के कारण या तो हम रहेंगे अथवा वे ही रहेंगे।**'[1]

(viii) **राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism)—जर्मनी में इस प्रकार की भावना जागृत हो गयी कि वे शुद्ध आर्य हैं। अतः मनुष्यों में श्रेष्ठ होने के कारण उन्हें ही शासन करने का अधिकार प्राप्त है।** यह राष्ट्रीय समाजवाद की भावना भविष्य में अत्यन्त हानिकारक प्रमाणित हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जर्मनी को विभिन्न भागों में विभक्त कर दिया था जिसने जर्मन अलग-अलग राष्ट्रों के अधीन हो गये थे। आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड में रहने वाले जर्मनों के कारण अत्यन्त गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी। **हिटलर विदेशों में रहने वाले जर्मनों को जर्मनी से मिलाना चाहता था।** जर्मनी ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शक्ति का सहारा लिया। फ्रांस व इंग्लैण्ड ने तुष्टीकरण की नीति के स्थान पर यदि इसी समय जर्मनी को आस्ट्रिया पर अधिकार करने से रोका होता तो सम्भवतः द्वितीय विश्व-युद्ध न होता।

(ix) **तुष्टीकरण की नीति (Policy of Appcasement)**—मित्र राष्ट्रों द्वारा तानाशाहों के प्रति तुष्टीकरण की नीति के परिणामस्वरूप तानाशाह अत्यधिक शक्तिशाली होते चले गये और विश्व-युद्ध का एक कारण बने। मित्र-राष्ट्रों द्वारा तुष्टीकरण की नीति का पालन करने

1 **"The struggle between the two worlds permits no compromise, either we or they."**
—***Mussolini.***

का कारण मित्र-राष्ट्रों में पारस्परिक झगड़ों का होना था। इंगलैण्ड और अमरीका जर्मनी के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहते थे, क्योंकि उनका मत था कि इस प्रकार के व्यवहार करने पर जर्मनी भविष्य में युद्ध नहीं करेगा। वहां इंगलैण्ड में बने सामान की अत्यधिक मांग थी। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड रूस के साम्यवाद के प्रति अत्यन्त शंकित था तथा रूस के साम्यवाद को रोकने के लिए जर्मनी का उत्थान आवश्यक था। इंगलैण्ड यूरोप के झगड़ों में पुनः पड़ना नहीं चाहता था। फ्रांस जर्मनी के प्रति कठोर नीति का पालन करना चाहता था। **इस प्रकार मित्र-राष्ट्रों में परस्पर मतभेद से तानाशाहों ने लाभ उठाया।** हिटलर ने आस्ट्रिया को अपने अधिकार में ले लिया तथा चैकोस्लोवाकिया को भी सेना भेजी। इटली ने भी अबीसीनिया पर अधिकार कर लिया। इंगलैण्ड ने फिर भी कोई ठोस कार्यवाही न की। तानाशाहों की महत्वाकांक्षाएं मित्र-राष्ट्रों की तुष्टीकरण की नीति से बढ़ती गयीं। अतः युद्ध का होना निश्चित हो गया।

(x) अनाक्रमण सन्धि (Non-aggression Pact)—रूस की साम्यवादी नीति के कारण इंगलैण्ड व रूस के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो गया था। मित्र-राष्ट्र रूस पर विश्वास न करते थे तथा म्यूनिख सम्मेलन में भी रूस को आमन्त्रित नहीं किया गया था। रूस पश्चिम में जर्मनी एवं पूर्व में जापान से घिरा हुआ था। अतः मित्र-राष्ट्रों से मित्रता करना चाहता था। इंगलैण्ड एवं फ्रांस भी जर्मनी के विरुद्ध रूस से सन्धि करना चाहते थे, किन्तु रूस की कुछ शर्तें थीं जिन्हें इंगलैण्ड स्वीकार करने के लिए तैयार न था। अतः रूस जो पहले से ही मित्र-राष्ट्रों से प्रसन्न न था, अब रुष्ट हो गया तथा उसने जर्मनी के साथ 1939 ई. में **अनाक्रमण सन्धि** (Non-aggression Pact) कर लिया। **जर्मनी को इससे अत्यधिक लाभ हुआ, क्योंकि इसके उसकी पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गयी।**

इस प्रकार अपनी स्थिति को दृढ़ बनाकर जर्मनी ने 1 सितम्बर, 1939 ई. को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। पोलैण्ड की सहायतार्थ इंगलैण्ड व फ्रांस ने तथा जर्मनी की ओर से रूस ने हस्तक्षेप किया, परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

युद्ध की घटनाएं
(EVENTS OF THE WAR)

जर्मनी ने 1 सितम्बर, 1939 ई. को पोलैण्ड पर आक्रमण किया। **पोलैण्ड** ने यद्यपि अत्यन्त वीरतापूर्वक जर्मन सेनाओं का सामना किया, किन्तु जर्मन सेनाओं की सहायतार्थ रूस की सेनाओं के भी आ जाने पर पोलैण्ड परास्त हुआ तथा उस पर जर्मनी एवं रूस का अधिकार हो गया। रूस जर्मनी पर विश्वास नहीं करता था। अतः उसने फिनलैण्ड पर भी अधिकार किया तत्पश्चात् लटाविया, लिथूनिया तथा एस्टोनिया पर अधिकार कर अपनी पश्चिमी सीमा को रूस ने सुरक्षित कर लिया।

1940 ई. के प्रारम्भ में जर्मनी ने डेनमार्क तथा नीदरलैण्ड पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् 1914 ई. की पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु बेल्जियम होते हुए फ्रांस पर जर्मनी ने आक्रमण किया। कन्कर्क के स्थान पर घमासान युद्ध हुआ। जिसमें जर्मन सेना ने फ्रांस व इंगलैण्ड की सेनाओं को बुरी तरह परास्त किया। 22 जून, 1940 ई. को फ्रांस ने हथियार डाले। इस विजय से फ्रांस के विस्तृत भाग पर जर्मनी का अधिकार हो गया। इसी वर्ष इटली

भी फ्रांस के अधीन उसके क्षेत्र सेवाय, नाइस, कोर्सिका, आदि अधिकार करने के उद्देश्य से युद्ध में सम्मिलित हो गया। जर्मनी की सेना की सहायता से इटली यूनान को परास्त करने में भी सफल हो गया। जर्मनी ने क्रीट पर भी अधिकार कर लिया तथा पतझड़ के मौसम में इंगलैण्ड पर हवाई आक्रमण किया। लन्दन व अन्य बड़े नगरों पर बमबारी की गयी जिसमें हजारों व्यक्ति मारे गये तथा अपार सम्पत्ति नष्ट हुई। इंगलैण्ड ने भी जर्मनी के जहाजों को नष्ट करना प्रारम्भ किया तथा जर्मनी को विशेष सफल न होने दिया।
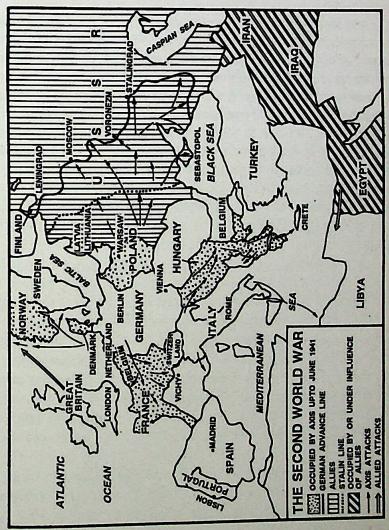
22 जून, 1941 ई. को जर्मनी ने 1919 को अनाक्रमण सन्धि को भंग करके बिना किसी चेतावनी के रूस पर आक्रमण कर दिया। यहां पर यह जानना आवश्यक है कि जर्मनी

ने अचानक रूस पर आक्रमण क्यों कर दिया। **जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण करने के निम्नलिखित कारण थे :**

(i) जर्मनी रूस की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित होने लगा था।

(ii) हिटलर का विचार था कि रूस जर्मनी को धोखा दे रहा था व किसी भी समय वह जर्मनी पर आक्रमण कर सकता था।

(iii) हिटलर को यह भी सन्देह था कि इंगलैण्ड व अमेरिका ने रूस से सन्धि कर ली थी।

अतः हिटलर का विचार था कि इंगलैण्ड को पराजित करने से पूर्व रूस की शक्ति कुचलना आवश्यक था, ताकि इंगलैण्ड को रूस की मदद न मिल सके। इस विषय में लैंगसम का कथन उल्लेखनीय है, **"नाजी नेता इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जब तक उन्हें पूर्वी सीमा पर जर्मन सेना एवं विमानों को रखना पड़ेगा तब तक इंगलैण्ड को पराजित करना सम्भव न होगा। अतः उन्होंने पहले अचानक विद्युतगति से आक्रमण कर रूस को पराजित करने और फिर इंगलैण्ड के विरुद्ध सम्पूर्ण शक्ति लगाने का निश्चय किया।"**[1] वैसे भी हिटलर व साम्यवादी रूस मजबूरी में ही एक दूसरे का साथ दे रहे थे। रूस पर आक्रमण करते समय हिटलर ने मुसोलिनी को लिखा था। **सोवियत के साथ मैत्री निभाना अत्यधिक कष्टप्रद हो गया था। इससे मुझे अत्यधिक मानसिक क्लेश हो रहा था। अब मैं शान्ति अनुभव कर रहा हूं।"**[2] हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण करना उसकी एक बड़ी भूल थी। हिटलर का विचार था कि वह रूस को सफलतापूर्वक परास्त कर लेगा, किन्तु रूसी सेना ने अत्यन्त वीरतापूर्वक जर्मन सेनाओं का सामना किया तथा हिटलर को उसके उद्देश्य पूर्ति में सफल न होने दिया। रूस पर जर्मनी द्वारा आक्रमण करने के परिणामस्वरूप रूस ने जुलाई, 1941 ई. में इंगलैण्ड से सन्धि कर ली।

जापान का इस समय तक चीन से युद्ध चल रहा था, किन्तु दिसम्बर, 1941 ई. में जापान ने अमरीका के मध्य प्रदेश पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी एवं इटली ने जापान को सहायता दी। **अमरीका को भी विवश होकर युद्ध में कूदना पड़ा** तथा वह भी मित्र-राष्ट्रों से मिल गया तथा चर्चिल एवं रूजवेल्ट ने **'एटलांटिक चार्टर'** की घोषणा की।

उत्तरी अफ्रीका में भी भीषण लड़ाइयां लड़ी गयीं। प्रारम्भ में जर्मनी तथा इटली की सेनाओं ने 1932 ई. में मिस्र, अल्जीरिया, त्रिपोली, आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, **किन्तु 1943 ई. में स्थिति में परिवर्तन हो गया।** अफ्रीका से इटली एवं जर्मनी का प्रभाव समाप्त करने में मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं सफल हुईं, तत्पश्चात् इटली पर आक्रमण किया गया तथा सिसली केपमेटापन, आदि पर विजय प्राप्त की। मित्र-राष्ट्रों ने शीघ्र ही सम्पूर्ण इटली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार मुसोलिनी का पतन हो गया तथा उसे भागकर जर्मन जाना पड़ा।

इटली को परास्त करने के पश्चात् मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी पर आक्रमण किये। 1944 ई. में नार्वे पर अधिकार कर लिया गया तथा फ्रांस को जर्मनी से मुक्त कराया गया। इंगलैण्ड व अमरीका की वायुसेना ने जर्मनी पर भीषण आक्रमण किये तथा जन-धन की अपार हानि हुई जर्मनी के कारखानों को भी हवाई आक्रमण से नष्ट कर दिया गया, तत्पश्चात् पश्चिम की

1 लैंगमस, वर्ल्ड सिंस 1914, पृ. 555।
2 क्रेग, यूरोप सिंस 1815, पृ. 749।

ओर से अमरीका तथा इंगलैण्ड की सेनाओं ने और पूर्व दिशा से जर्मनी पर रूस की सेना आक्रमण किया तथा निरन्तर सफलता प्राप्त की। अप्रेल, 1945 ई. में हिटलर ने आत्महत्या कर ली। अतः मई, 1945 ई. में जर्मनी की सेना ने हथियार डाल दिये।

जापान अब भी युद्ध में व्यस्त था। जापान के हिरोशिमा तथा नागासाकी नगरों पर अमरीका ने 6 व 9 अगस्त, 1945 ई. को अणुबम गिराये। जापान में अब और युद्ध करने का साहस न बचा था। अतः 14 अगस्त, 1945 ई. को जापान ने भी आत्मसमर्पण कर दिया।

इस प्रकार 1 सितम्बर, 1939 ई. को प्रारम्भ हुआ द्वितीय विश्व-युद्ध 14 अगस्त, 1945 ई. को समाप्त हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणाम
(EFFECTS OF THE SECOND WORLD WAR)

लगभग 6 वर्षों तक लड़ा जाने वाला द्वितीय विश्व-युद्ध मानव इतिहास का सबसे भयावह एवं विनाशकारी युद्ध था, जिसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। **इसके प्रभाव इतने व्यापक थे कि विश्व-इतिहास में एक युग का ही अन्त हो गया और एक नये युग का प्रारम्भ** हुआ, परन्तु इस नूतन युग में भय, चिन्ता, अनिश्चितता एवं तनाव की स्थिति पूर्ववत् ही बनी रही। **संक्षेप में द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणामों को निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :**

(1) **युद्धरत देशों की क्षति**—द्वितीय विश्व-युद्ध में भाग लेने वाले देशों को गम्भीर क्षति उठानी पड़ी थी। सर्वाधिक क्षति रूस को उठानी पड़ी। **केवल स्तालिनग्राड के युद्ध में मारे गये रूसी नागरिकों की संख्या तो सम्पूर्ण युद्ध में मारे गये अमरीकनों के लगभग बराबर ही थी।** इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि पश्चिमी मित्रों ने 1944 ई. तक धुरी राष्ट्रों के विरोध में कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला था। अतः जर्मनी के प्रहार को रूसी मोर्चे को ही सहना पड़ा था। युद्ध में रूस को 1 खरब 28 करोड़ डालर की सम्पत्ति का नुकसान सहना पड़ा। उसके 17 हजार नगर नष्ट हो गये और 70 लाख नागरिक काल-कवलित हो गये। ब्रिटेन को भी महान क्षति का सामना करना पड़ा। उसके 4 लाख 45 हजार नागरिक काल-कवलित हो गये। उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले की अपेक्षा कम हो गया। कोयले एवं कपड़े के उत्पादन में कमी आ जाने से 41% गिरावट आ गयी। उसे 1946 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका से 3 अरब 75 करोड़ डालर कर्ज के रूप में लेना पड़ा। यह कर्ज उसे 2% ब्याज की दर पर 50 वर्ष में चुकाना तय हुआ था। फ्रांस को भी 3 लाख 80 हजार नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। उसका कृषि का उत्पादन 38% कम हो गया और औद्योगिक उत्पादन 30% घट गया। स्थिति यहां तक पहुंच गयी कि 1945 ई. में फ्रांस के रहन-सहन की वस्तुओं की कीमतों में 296% की वृद्धि हो गयी। इटली के युद्ध में 6 लाख 36 हजार 37 सैनिक काल-कवलित हो गये। उसकी राष्ट्रीय सम्पत्ति पूर्व की अपेक्षा अब मात्र 1/3 रह गयी। उसे लगभग 1 लाख खरब 'लिरा' की क्षति उठानी पड़ी। **जर्मनी** को भी भयंकर क्षति का सामना करना पड़ा। उसे 40 लाख जर्मन नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। एक निरीक्षक के अनुसार, **"1945 ई. में जर्मनी विशिष्ट नगरों, भयभीत व्यक्तियों और कल्पनातीत भयंकर दुर्दशाओं का देश था।"** जर्मनी का विभाजन कर दिया गया। जापान का भी आर्थिक पराभव हुआ। हिरोशिमा एवं नागासाकी में गिराये गये एटम बम के कारण जापान का मनोबल टूट चुका था। जापान का प्रादेशिक प्रभुत्व भी

पूर्व से कम हो गया। उसे विदेशी बाजारों एवं कच्चे माल के साधनों से वंचित होना पड़ा। जहां तक **अमेरिका** का सम्बन्ध है अमेरिका युद्ध में अन्त में कूदा था। न तो उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया और न ही उसे भयंकर बम वर्षा का सामना करना पड़ा। अतः अमेरिका को कोई विशेष हानि नहीं उठानी पड़ी। उल्टे युद्ध के पश्चात् उसके उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। जहां तक छोटे-छोटे राष्ट्रों का सम्बन्ध था उन्हें भी अपार क्षति उठानी पड़ी। **चैकोस्लोवाकिया** के 2 लाख 50 हजार नागरिक मारे गये। **पोलैण्ड** को 60 लाख व्यक्तियों की बलि देनी पड़ी। हंगरी के 70 प्रतिशत कारखाने एवं मशीनें युद्ध काल में समाप्त हो गयीं। **यूगोस्लाविया, बल्गारिया, यूनान एवं अलबानिया** भी आर्थिक संकट में फंस गये।

(2) यूरोपीय प्रभुत्व की समाप्ति—द्वितीय विश्व-युद्ध ने जिस नूतन युग को जन्म दिया वह युग यूरोपीय प्रभुत्व की समाप्ति का युग था। द्वितीय महायुद्ध ने यूरोपीय शक्तियों को इतना झकझोर दिया था कि युद्ध से पूर्व तक **विश्व को अनुशासित करने का दावा करने वाला यूरोप** (World Domination Europe) अब **समस्या प्रधान यूरोप** (Problem Europe) के रूप में सामने आ गया। धुरी राष्ट्रों ने अपना साम्राज्य खो दिया। ब्रिटेन, फ्रांस, आदि भी शक्तिहीन हो गये।

(3) दो महाशक्तियों का उदय—यूरोप की प्रभुसत्ता विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर क्षीण होते ही नये युग में दो महाशक्तियों का अभ्युदय हुआ। **संयुक्त राज्य अमेरिका एवं रूस ये दो शक्तियां थीं।** रूस को युद्ध के अन्त तक विशाल प्रदेश प्राप्त हो चुके थे। वह अपनी सीमाएं पश्चिम में फैला ही चुका था। पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, अल्बानिया एवं चैकोस्लोवाकिया, आदि राष्ट्रों की सरकारें रूस के मित्र के रूप में सामने आयीं। जापान का पतन हो ही चुका था। **ब्रिटेन आर्थिक रूप से जर्जरित हो गया।** जर्मनी व इटली की शक्ति क्षीण. हो गयी थी। चीन गृह युद्ध की अग्नि में तप रहा था। अतः रूस का मुकावला करने वाली एक ही शक्ति बच गयी थी। वह शक्ति थी संयुक्त राज्य अमेरिका। विश्व के पूंजीवादी देशों के लिए अमेरिका उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए आशा बन गया था।

(4) शीत युद्ध का प्रारम्भ—द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन, फ्रांस एवं अमेरिका ने रूस के साथ मिलकर धुरी राष्ट्रों का विरोध किया था। इससे ऐसा लगता था कि युद्ध के पश्चात् इस मित्रतापूर्ण व्यवहार से शान्ति की स्थापना होगी। लैंगसम के शब्दों में, **"आशावादी इस बात से निश्चिन्त थे कि भविष्य में शान्ति निश्चित रूप से बनी रहेगी जैसे ही युद्ध समाप्त होगा विभिन्न राज्यों की एकता जो युद्ध के कठिन वर्षों में थी वह शान्ति बनाये रखेगी।"**[1] किन्तु यह आशा उस समय निराधार सिद्ध हुई जब विश्व के रंगमंच पर सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका दो महाशक्तियों के रूप में उभर कर सामने आये। दोनों की विचारधाराएं एक-दूसरे से अलग थीं। अतः दोनों विश्व के दो परस्पर विरोधी खेमों का प्रतिनिधित्व करने लगे। इससे दोनों के मध्य तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो गया जिसने **'शीत युद्ध'** को जन्म दिया।

(5) साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विघटन—द्वितीय विश्व-युद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विघटन भी था। मित्र राष्ट्रों ने धुरी राष्ट्रों के विरोध में केवल स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर युद्ध किया था। अतः युद्ध

1 "The optimists were certain that future peace would be assured by the continuance, after the hostilities caused of the unity that characterised the difficult war years."
—*Langsom*
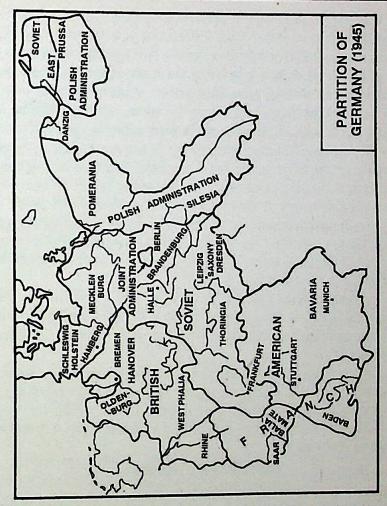
की समाप्ति के पश्चात् साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विघटन होना स्वाभाविक हो चुका था, क्योंकि युद्ध में मित्र राष्ट्र विजयी हुए थे।

(6) उपनिवेशों में नव-जागरण—द्वितीय विश्व-युद्ध का गम्भीर प्रभाव उन उपनिवेशों पर पड़ा जो कि पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों के शिकार थे। जापान ने **'एशिया एशिया वालों के लिए'** का जो नारा अपने हितों की दृष्टि से दिया था, वह अप्रत्यक्ष रूप से भारत एवं चीन जैसे उपनिवेशों के लिए स्वतन्त्रता का प्रतीक़ बन गया। जापान ने जिस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्यवादिता का अपने ढंग से विरोध किया था वह एशिया के उपनिवेशों के लिए एक ज्वलन्त प्रतीक था। द्वितीय महायुद्ध तो स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्णय की दुहाई पर धुरी राष्ट्रों के विरोध में ही लड़ा गया था। अतः बर्मा, भारत एवं चीन जैसे राष्ट्रों में राष्ट्रीयता

का संचार होने लगा जिसने उपनिवेश व्यवस्था पर प्रबल आघात किया। 1945 से पूर्व तो विश्व की जनसंख्या का 33% उपनिवेशों में निवास करता था जबकि आज केवल 4% ही निवास करता है। यही कारण है कि चेस्टर बाउल्स ने लिखा है, **"सम्पूर्ण महाद्वीप (एशिया) पर हुई क्रान्ति के धुएं और अग्नि में उन दिनों का अन्त हो गया, जबकि एशिया के गुलाम लोग किसी पश्चिमी राष्ट्र की दी गई आवाज में नाच उठते थे।"**[1] एशिया एवं अफ्रीका के पराधीन राष्ट्र स्वतन्त्र होने लगे। स्मिथ ने ठीक ही लिखा है, **"अब यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य में यूरोपीय राष्ट्रों के सम्बन्ध और गैर यूरोपीय राष्ट्रों के सम्बन्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण होंगे।"**[2]

(7) **मानवतावाद**—विश्व-युद्ध में कमजोर राष्ट्रों को साम्राज्यवादी शिकंजों का शिकार होना पड़ा था। युद्ध के पूर्व एवं युद्ध काल में अल्पसंख्यकों के अधिकारों को जिस प्रकार कुचला गया था उससे प्रभावित होकर संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवीय अधिकारों का एक घोषणा पत्र प्रकाशित कर मानवता की पवित्रता कायम करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाया।

(8) **निःशस्त्रीकरण के प्रयास**—द्वितीय विश्व-युद्ध में अणु बम के प्रयोग एवं उससे हुई विनाश लीला ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में निःशस्त्रीकरण का प्रश्न खड़ा कर दिया, परन्तु निःशस्त्रीकरण की दिशा में रूस एवं अमेरिका के मध्य मतभेदों के कारण निःशस्त्रीकरण के लिए किये गये प्रयास कभी सार्थक न हो सके।

(9) **प्रादेशिक संगठन**—शीत युद्ध की स्थिति को देखते हुए साम्यवादी रूस एवं गैरसाम्यवादी अमेरिका ने अपने-अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए क्षेत्रीय या प्रादेशिक संगठनों का गठन प्रारम्भ कर दिया, जिसमें नाटो, वारसा पैक्ट, सीटो एवं ओ. ए. एस. विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व-युद्ध ने प्रथम महायुद्ध के सदृश ही अनेक समस्याएं उत्पन्न कर दीं। यह ठीक है कि इस युद्ध के प्रभाव ने साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी प्रवृत्ति की समाप्ति में योगदान दिया और एशिया एवं अफ्रीका में राष्ट्रवाद हिलोरें लेने लगा, परन्तु जिस प्रकार एक नये विश्व का गठन हुआ उसमें दो महाशक्तियों के प्रादुर्भाव ने युद्धकालीन एकता का विघटन कर दिया।

युद्धकालीन एकता का विघटन
(END OF THE WAR TIME UNITY)

द्वितीय विश्व-युद्ध में अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस ने अपनी पुरानी शत्रुता को भुलाकर धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली एवं जापान) का डटकर मुकाबला किया था। युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों की इस एकता से ऐसा प्रतीत होता था कि युद्ध के पश्चात् शान्ति स्थापित होगी, किन्तु विश्व-युद्ध समाप्त होते ही यह आशा सही सिद्ध नहीं हुई। रूस एवं अमेरिका के रूप में दो महाशक्तियों का उदय हुआ। **युद्धकालीन एकता का विघटन हो गया। संक्षेप में इस विघटन के निम्नलिखित कारण हैं :**

(1) **सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था**—युद्धकालीन एकता के विघटन का महत्वपूर्ण कारण सोवियत संघ में समाजवादी व्यवस्था का विकास था। युद्ध के समय तो ब्रिटेन, फ्रांस

1 "The days when a western nation could call the tune and the Asian subject peoples would dance to it have ended in the smoke and fire of revolution across the whole continent."
—Chester Bowles

2 G. C. Smith : *Pattern of the Post War World*, p. 9.

एवं अमेरिका जैसे पूंजीवादी देशों की प्रमुख समस्या धुरी राष्ट्रों का दमन थी। अतः रूस को अपने खेमे में मिलाने के लिए उन्हें रूसी व्यवस्था पर प्रत्यक्षतः विशेष ध्यान नहीं दिया, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे रूस का इतना दमन करना चाहते थे कि रूसी साम्यवादी व्यवस्था पूंजीवाद के लिए खतरा न बन सके। यही कारण था कि 1941 ई. में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण करने पर इंगलैण्ड एवं रूस के बीच हुए समझौते को सुदृढ़ करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। पश्चिमी देशों ने तो इसे **'निषेधात्मक मैत्री'** की संज्ञा दी। रूस के इस अनुरोध को कि युद्ध का द्वितीय मोर्चा फ्रांस में खोला जाना चाहिए, चर्चिल ने यह कहकर खटाई में डालने का प्रयत्न किया कि दूसरा मोर्चा बाल्कान प्रदेश में खुलना चाहिए। स्तालिन के अनुरोध पर बहस 1942 ई. से 1944 ई. तक जारी रही। इस बीच जर्मनी की सेनाओं के लगातार प्रहार रूस पर हो रहे थे। **पूंजीवादी मित्र देश चाहते भी यही थे कि रूस पर जर्मनी के इतने प्रहार हों कि रूस पुनः सिर न उठा सके।** इस प्रकार पूंजीवादी देशों ने अपने मित्र देश रूस की पीठ में छुरा भौंकने का जो प्रयत्न किया उससे रूस का सशंकित होना स्वाभाविक ही था।

(2) सोवियत संघ का राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति रूख—पूंजीवादी एवं साम्राज्यवादी शक्तियों के चंगुल से अपने को आजाद करने के लिए एशिया एवं अफ्रीका के विभिन्न उपनिवेशों में जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहे थे उसे द्वितीय विश्व-युद्ध ने और अधिक भड़का दिया। रूस इस प्रकार के आन्दोलनों का पक्षपाती था, किन्तु ब्रिटेन ने इस प्रकार के आन्दोलनों को कुचलने का भरसक प्रयत्न किया। अतः रूस एवं ब्रिटेन के सम्बन्धों में दरार पड़नी प्रारम्भ हो गई।

(3) युद्ध काल में रूस के प्रति अविश्वास—युद्ध काल में रूस के मित्र राष्ट्रों ने सदा ही उसके प्रति अविश्वास की धारणा रखी। 13 अगस्त, 1943 ई. को चर्चिल ने यूगोस्लाविया और यूनान में राजवंशों के पुनर्स्थापन की बात कही। मार्शल टीटो द्वारा इस बात का विरोध किये जाने पर चर्चिल ने उसे सहायता देना भी बन्द कर दिया। अब अमेरिका ने जापान पर एटम बम गिराया तो उसनै ब्रिटेन को तो विश्वास में ले लिया, परन्तु रूस को इस विषय में कोई जानकारी तक नहीं दी।

(4) युद्धोत्तर समस्याओं में मतैक्य न होना—जैसे ही द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हुआ 5 मार्च, 1946 ई. को चर्चिल ने अमेरिका में फुल्टन (Fulton) नामक स्थान पर सोवियत रूस को **लौह आवरण** (Iron Curtain) की संज्ञा देते हुए अपने भाषण में रूस का अपमान किया। सोवियत रूस जो कि युद्ध काल से ही स्थिति को जांच एवं परख रहा था, अब अपने लिए एक ऐसी मजबूत आधारशिला खड़ी करना चाहता था जिस पर स्वयं खड़ा होकर गर्व कर सके। उसकी इस भावना को युद्ध के पश्चात् उत्पन्न समस्याओं के समाधान में अमेरिका एवं ब्रिटेन के रूसी विरोधी रुख ने और अधिक मजबूत बना दिया। फारस, टर्की, यूनान एवं जर्मनी की समस्याओं के समाधान के प्रश्न पर रूस का मतैक्य ब्रिटेन व अमेरिका से नहीं था। इसी समय सोवियत रूस को पृथक् कर यूरोप के एक संयुक्त राज्य की स्थापना की बात भी पूंजीवादी देश करने लगे थे। 10 अगस्त, 1945 में एक फ्रांसीसी दैनिक पत्र ने प्रकाशित किया कि **"यदि यूरोप को सोवियत संघ के पंजों से बचाना है तो पश्चिमी देशों को एक हो जाना चाहिए।"**

इस प्रकार युद्ध काल में तथा युद्ध काल के पश्चात् पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा रूस के प्रति अपनाई गई नीतियों से क्षुब्ध होकर 20 सितम्बर, 1945 ई. को सोवियत समाचार

पत्र इजवेस्तिया (Izvestia) ने लिखा है, **"पश्चिमी गुट पश्चिम में रूसी विश्वास को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं।"** सन्देह एवं भय के वातावरण में रूस का अलग हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः अब विश्व-इतिहास का एक नया दौर आरम्भ हुआ जिसे **'शीत-युद्ध का दौर'** (Cold War Era) के नाम से जाना जाता है।

प्रश्न

1. द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए। (लखनऊ, 1992)
2. द्वितीय विश्व-युद्ध के लिए कौन-कौन से कारण उत्तरदायी थे? वर्णन कीजिए।
3. द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों एवं प्रभावों का वर्णन कीजिए।
4. द्वितीय विश्व-युद्ध की प्रमुख घटनाओं एवं परिणामों का उल्लेख कीजिए।
5. क्या द्वितीय विश्व-युद्ध आवश्यक था? विवेचना कीजिए।
6. द्वितीय विश्व-युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालिए। (गोरखपुर, 1990, 92; पूर्वांचल, 1991)
7. "द्वितीय विश्च-युद्ध, अधिकांशतः, प्रथम विश्व-युद्ध की पुनरावृत्ति थी।" आप ए. जे. पी. टेलर के उपरोक्त कथन से कहां तक सहमत हैं? (गोरखपुर, 1996)

14

संयुक्त राष्ट्र संघ

[THE UNITED NATIONS ORGANISATIONS]

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व-शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से राष्ट्र संघ की स्थापना की गई थी, परन्तु राष्ट्र-संघ शान्ति स्थापना करने में असफल रहा और विश्व को बीस वर्ष पश्चात् ही द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका का सामना करना पड़ा। यह प्रश्न अपने आप में अलग है कि राष्ट्र संघ की असफलता क्या उसके जन्म के साथ ही निश्चित हो चुकी थी? कुल मिलाकर राष्ट्र संघ की असफलता ने स्थायी शान्ति को सुरक्षित रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता का अनुभव करा ही दिया। प्रश्न यह उठा कि क्या राष्ट्र संघ को ही पुनर्जीवित कर नया रूप दिया जाय? किन्तु अमेरिका एवं पश्चिमी देश राष्ट्र संघ से पृथक् संगठन के पक्षपाती थे। अतः एक नई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के गठन के प्रयास युद्ध काल में ही प्रारम्भ हो गए।

संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की पृष्ठभूमि
(BACKGROUND OF THE FORMATION OF U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना किसी एक दिन के प्रयत्न का परिणाम नहीं है। विश्व-युद्ध के काल से ही इसके गठन के प्रयास हेतु मित्र राष्ट्रों के मध्य वार्तालाप एवं विचारों का जो आदान-प्रदान हुआ, संयुक्त राष्ट्र संघ उसी की उपज है। इस प्रकार विश्व-युद्ध के दौरान से ही अनेक प्रयास इस सम्बन्ध में किये गये। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की पृठभूमि को लन्दन घोषणा से सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन तक मित्र राष्ट्रों के किए गए प्रयासों के निम्नलिखित चरणों में इंगित किया जा सकता है।

(1) लन्दन घोषणा (14 जुलाई, 1941)—युद्ध-काल में जुलाई, 1941 ई. में लन्दन में मित्र राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। **इस सम्मेलन की घोषणा में विश्व में स्थायी शान्ति की बात कही गई।** यह ठीक है कि इस घोषणा में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं शान्ति की घोषणा की गई थी, उसे दृष्टिगत रखते हुए लन्दन घोषणा को संयुक्त राष्ट्र संघ का बीजारोपण माना जाता है।

(2) अटलांटिक चार्टर (14 अगस्त, 1941)—द्वितीय विश्व-युद्ध में अपना कदम रखने से पूर्व अमेरिका ने भाषण, धर्म, अभाव एवं भय की स्वतन्त्रता की बात कही थी।[1] इस घोषणा के पश्चात् रूजवेल्ट ने इंगलैण्ड की सहायता की थी। इसके तुरन्त पश्चात् रूजवेल्ट एवं चर्चिल ने समान हितों पर बात के लिए मुलाकात की और बातचीत के पश्चात् 14 अगस्त, 1941 को एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई जिसे **'अटलांटिक चार्टर'** कहा जाता है। इस चार्टर में आक्रमण से सुरक्षा के प्रश्न पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि प्रत्येक राष्ट्र के लोग स्वेच्छा की शासन व्यवस्था अंगीकार करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस चार्टर में जिस प्रकार शक्ति स्थापना की बात कही गई, उसी को दृष्टिगत रखते हुए इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का प्रथम कदम माना जाता है।

(3) संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा (1 जनवरी, 1942)—1 जनवरी, 1942 ई. में मित्र राष्ट्रों एवं उनके साथी सभी राष्ट्रों ने वाशिंगटन में एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। इस घोषणा पत्र में जर्मनी एवं उसके साथी राष्ट्रों को पराजित करने पर जोर देते हुए अटलांटिक चार्टर को स्वीकार किया गया। **साथ ही इस घोषणा में प्रथम बार 'संयुक्त राष्ट्र' शब्द का प्रयोग हुआ। लैंगसम ने यहीं से संयुक्त राष्ट्र संघ का श्रीगणेश माना है।**[2]

(4) मास्को सम्मेलन (30 अक्टूबर, 1943)—संयुक्त राष्ट्रों की उपरोक्त घोषणा को रूस एवं चीन ने पश्चात् में स्वीकार कर लिया। अतः 30 अक्टूबर, 1943 ई. में इंगलैण्ड, अमेरिका, चीन एवं रूस के प्रमुख प्रतिनिधियों की बैठक मास्को में हुई। 1 नवम्बर, 1943 को **'मास्को घोषणा'** पर हस्ताक्षर कर मित्र राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि युद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना आवश्यक है। रूसी प्रतिनिधि एस. बी. क्रांइलोव ने मास्को सम्मेलन के महत्व के विषय में लिखा है, **"मास्को संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म स्थान बन गया, क्योंकि यह मास्को ही था, जहां पर अन्तरांष्ट्रीय संगठन की घोषणा की गई।"**

(5) तेहरान सम्मेलन (नवम्बर 1943)—मास्को सम्मेलन के पश्चात् तेहरान में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें चर्चिल, रूजवेल्ट एवं स्तालिन प्रथम बार एक साथ मिले। बैठक के पश्चात् 1 दिसम्बर, 1943 ई. को संयुक्त रूप से घोषणा की गई कि विश्व के सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों को विश्व संगठन का सदस्य होने के लिए आमन्त्रित किया जाएगा।

(6) डम्बर्टन आक्स सम्मेलन (अगस्त-अक्टूबर, 1944)—21 अगस्त, 1944 ई. से 7 अक्टूबर, 1944 ई. तक वाशिंगटन नगर के एक भवन 'डम्बर्टन आक्स' में अमेरिका, रूस, चीन एवं इंगलैण्ड के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रारम्भिक प्रस्तावों की रूपरेखा निर्धारित की गई। सम्मेलन के प्रस्तावों की घोषणा 9 अक्टूबर, 1944 ई. को करते समय अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा था, **"प्रस्तावित सामान्य सम्मेलन को मेहराव की मुख्य आधारशिला समझना चाहिए। सुरक्षा एवं शान्ति की इमारत के नियोजन का कार्य अच्छी तरह से आरम्भ हो गया है। अव यह राष्ट्रों के लिए वांछनीय है कि वे रचनात्मक उद्देश्य और पारस्परिक विश्वास की भावनाओं के साथ इस निर्माण कार्य को पूर्ण करें।"**[3]

---

1 लैंगसम, दि वर्ल्ड सिंस 1914, पृ. 569।

2 पूर्वोक्त, पृ. 567-68।

3 "The projected general organisation may be regarded as the Keystone of the arch."
—*Roosevelt*

(7) याल्टा सम्मेलन—डम्बर्टन आक्स सम्मेलन में उभरे मतभेदों के निराकरण हेतु फरवरी 1945 ई. में याल्टा में एक सम्मेलन हुआ। इसमें अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, चीन एवं फ्रांस के वीटो (Veto) के अधिकार को स्वीकार करते हुए यह घोषणा की गई कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हेतु 25 अप्रैल, 1945 ई. में सैनफ्रांसिस्को में एक सम्मेलन आयोजित किया जायेगा।

(8) सैनफ्रांसिस्को सम्मेलन (अप्रैल-जून 1945)—याल्टा सम्मेलन में लिए गए निर्णय के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हेतु 1945 ई. में सैनफ्रांसिस्को में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें 50 देशों ने भाग लिया। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ का मसविदा तैयार कर चार्टर को अन्तिम रूप प्रदान किया गया। 24 अक्टूबर, 1945 ई. को सुरक्षा परिषद के पांच स्थाई सदस्यों (अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस एवं चीन) तथा अन्य 24 राष्ट्रों का समर्थन पत्र प्राप्त होने पर संयुक्त राष्ट्र संघ का विधान लागू कर दिया गया। इसी दिन को संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस के रूप में मनाया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य एवं सिद्धान्त
(AIMS AND PRINCIPLES OF THE UNITED NATIONS ORGANIZATION)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में 19 अध्याय, 111 धाराएं एवं लगभग 10 हजार शब्द हैं। चार्टर के अनुच्छेद में उसके उद्देश्यों एवं चार्टर की दूसरी धारा में उसके सिद्धान्तों का उल्लेख है। **इसके उद्देश्य एवं सिद्धान्त निम्नवत् हैं :**

(अ) उद्देश्य (Aims)

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखते हुए युद्ध से **मानव जाति की रक्षा करना तथा शान्ति भंग करने वाली आक्रामक कार्यवाहियों को रोकने के उपाय करना।**

(2) राष्ट्रों के समान अधिकारों एवं आत्म-निर्णय के आधार पर विश्व के राष्ट्रों के मध्य **मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास एवं विश्व शान्ति को सुदृढ़ बनाने के उपाय करना।**

(3) विश्व की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवतावादी समस्याओं के निराकरण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना **तथा मानव अधिकारों व आधारभूत स्वतन्त्रताओं के प्रति** सम्मान भावना का विकास **करना।**

(4) संयुक्त राष्ट्र संघ को एक ऐसे केन्द्र के रूप में लाना जो कि उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले **प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित** कर सके।

(ब) सिद्धान्त (Principles)

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त निम्नवत् हैं :

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी **सदस्य राष्ट्रों की सार्वभौमिकता और समानता अक्षुण्ण है।**

(2) सभी सदस्य राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के **नियमों का पालन करेंगे।**

(3) पारस्परिक **झगड़ों का निपटारा** सभी सदस्य राष्ट्र शान्तिमय उपायों से करेंगे।

(4) कोई भी सदस्य राष्ट्र किसी राष्ट्र की **प्रादेशिक अखण्डता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता** के विरुद्ध कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे उस राष्ट्र एवं संयुक्त राष्ट्र संघ का अपमान होता हो।

(5) संयुक्त राष्ट्र संघ यह प्रयत्न करेगा कि संघ के सदस्य राष्ट्रों के अतिरिक्त भी अन्य राष्ट्र संघ के **सिद्धान्तों का पालन करें।**

(6) संघ किसी भी राष्ट्र के **आन्तरिक मामलों में दखल नहीं देगा।**

(7) सभी सदस्य राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के अनुरूप संघ को उस समय **पूर्ण सहायता** प्रदान करेंगे जबकि संघ किसी राष्ट्र के विरुद्ध कार्यवाही कर रहा हो।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता एवं मुख्य बातें

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में दो प्रकार के सदस्यों की व्यवस्था है। संघ के चार्टर में 3 से लेकर 6 अनुच्छेद तक सदस्यता का विस्तृत उल्लेख है। **प्रथम प्रकार के सदस्यों को प्रारम्भिक सदस्य कहा जाता है।** ये वे सदस्य राष्ट्र हैं जिन्होंने सेनफ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लिया था या चार्टर के विधान को स्वीकार किया था। **दूसरे प्रकार के सदस्य निर्वाचित सदस्य कहलाते हैं।** ये संघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए एक प्रार्थना पत्र देकर पश्चात् में संघ के सदस्य बने हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता सुरक्षा परिषद् के समर्थन एवं महासभा की स्वीकृति के पश्चात् सम्भव है। संघ किसी भी सदस्य राष्ट्र को यदि वह चार्टर के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करता है तो सुरक्षा परिषद् के समर्थन एवं महासभा के निर्णय के अनुसार निष्कासित कर सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है। अंग्रेजी, चीनी, स्पेनिश, फ्रेंच एवं रूसी भाषाएं संयुक्त राष्ट्र संघ को स्वीकृत भाषाएं हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की 7वीं धारा में उसके जिन 6 अंगों का उल्लेख है, **उनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है :**

(1) साधारण सभा (General Assembly)

(अ) संगठन—साधारण सभा संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख अंग है। साधारण सभा के सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य राष्ट्र हैं। साधारण सभा के अधिवेशन में जो कि वर्ष में एक बार सितम्बर माह के बाद पड़ने वाले पहले मंगलवार से आरम्भ होता है, प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकारी है। विशेष परिस्थिति में यदि सुरक्षा परिषद् या संघ के आधे से अधिक सदस्य चाहें तो साधारण सभा का अधिवेशन कभी भी बुला सकते हैं।

(ब) कार्य एवं शक्तियां—चार्टर की धारा 10 से 17 तक सभा के कार्यों एवं शक्तियों का उल्लेख है। सभा को संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है। वह संरक्षण समिति को आदेश दे सकती है तथा उसके कार्यों का निरीक्षण कर सकती है। आर्थिक एवं सामाजिक समिति के सदस्यों का चयन एवं उनके कार्यों को स्वीकृत करने की शक्ति भी सभा के पास है। सुरक्षा परिषद् के सहयोग से वह संयुक्त राष्ट्र संघ के नये सदस्यों की भरती एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय एवं कार्यालय में कुछ नियुक्तियां तथा संघ के विधान में परिवर्तन कर सकती है। **यह ठीक है कि शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने का कार्य सुरक्षा परिषद् का है, परन्तु साधारण सभा भी इस विषय में सीमित कार्यवाही कर सकती है, परन्तु यदि विषय सुरक्षा परिषद के विचाराधीन है तो वह इस विषय में कुछ नहीं कर सकती।** 1950 ई. में शान्ति एवं सुरक्षा प्रस्ताव के पास हो जाने से साधारण सभा को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसकी प्रमुख समितियां
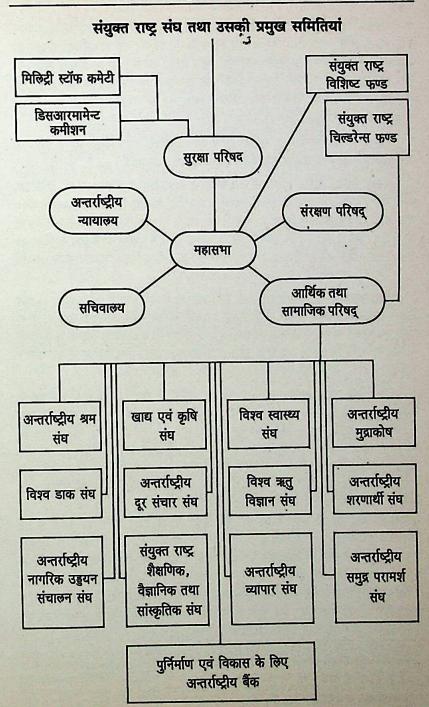
यदि सुरक्षा परिषद अपने सदस्यों के एकमत न होने पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करने में असफल रहती है तो सुरक्षा एवं शान्ति के मामले पर वह विचार कर सकती है। यही नहीं, साधारण सभा उस समय सामूहिक कदम उठाने का अनुरोध कर सकती है जबकि सुरक्षा परिषद किसी समस्या का समाधान नहीं कर पाती है। कोरिया के प्रश्न पर रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध साधारण सभा इस अधिकार का प्रयोग कर चुकी है।

2. सुरक्षा परिषद् (Security Council)

सुरक्षा परिषद के संगठन, मतदान कार्य एवं अधिकारों का उल्लेख संघ के चार्टर के पंचम अध्याय की धारा 23 से 32 में है। **इसका विवरण निम्नवत् है :**

(अ) संगठन—सुरक्षा परिषद् में 10 सदस्य अस्थायी तथा 5 स्थायी होते हैं। अमेरिका, रूस, चीन, फ्रांस एवं इंगलैण्ड इसके स्थायी सदस्य हैं। **अस्थायी सदस्यों का चयन साधारण सभा द्वारा दो वर्ष के लिए किया जाता है।** इसके स्थायी सदस्यों के प्रतिनिधि स्थायी रूप से न्यूयार्क में रहते हैं, जो कि निरन्तर बैठकों में संलग्न रहते हैं, परन्तु दो बैठकों के बीच का अन्तराल 14 दिन का हो सकता है। सुरक्षा परिषद के अधीन विश्व निःशस्त्रीकरण आयोग है जो कि 11 जनवरी, 1952 में स्थापित किया गया था।

(ब) मतदान—सुरक्षा परिषद किसी भी मामले में निर्णय सदस्यों का मतदान कराकर लेती है। प्रक्रिया सम्बन्धी मामले में तो स्थायी सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है, परन्तु महत्वपूर्ण मामलों में स्थायी सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि स्थायी सदस्यों में से किसी ने भी निर्णय के विरुद्ध मत दे दिया तो निर्णय अमान्य माना जाता है। इसे सुरक्षा परिषद के स्थायी परिषद के स्थायी सदस्यों को प्राप्त वीटो का अधिकार कहते हैं।

(स) वीटो का अधिकार—यू. एन. ओ. के चार्टर की धारा 27 में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार का अधिकार दिया गया है। इसका प्रयोग कर सुरक्षा परिषद का कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी महत्वपूर्ण मामले के निर्णय को रद्द कर सकता है। वास्तव में वीटो का अधिकार प्राप्त करने के स्थायी सदस्यों का (रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, चीन एवं फ्रांस) जो उद्देश्य था, वह यह था कि कहीं बहुमत के आधार पर रक्षा परिषद के अन्य राष्ट्र उनकी शक्ति को सीमित न कर दें। ब्रायरले ने ठीक ही लिखा है, '**निषेधाधिकार वह मूल्य है जो संयुक्त राष्ट्र ने सामूहिक सुरक्षा के कार्य करने वाली संस्था की स्थापना के लिए चुकाया है, और यह भी स्पष्ट है कि वह मूल्य बहुत अधिक है।**''[1] प्रश्न यह उठता है कि निषेधाधिकार समाप्त करने से क्या कोई लाभ होगा? श्लाइचर ने इसका सटीक उत्तर देते हुए कहा है, ''**निषेधाधिकार तो असहमति का परिणाम है, न कि उसका कारण। अतः इसको समाप्त करने से कोई विशेष लाभ होगा।**''[2] उल्लेखनीय बात तो यह है निषेधाधिकार ने विश्व-शान्ति में महत्वपूर्ण भूमिका तो निभाई ही है। कश्मीर के प्रश्न पर रूस ने वीटो की शक्ति का प्रयोग कर अमेरिका की इच्छा को पूर्ण होने से रोका तो 1964 ई. में रूस से ही सीरिया एवं इजरायल के प्रश्न पर वीटो का प्रयोग किया था।

1 "The veto is the price that united Nations has paid in order to obtain an organ which should have power to decide and act in a corporate capacity and it is already clear the price has been a higher one." —*Brierly.*

2 "The veto is a symptom of disagreement rather than its cause : its avolition would accomplish tittle." —*Schleicher.*

(द) **कार्य**—सुरक्षा परिषद के कार्य अत्यन्त व्यापक है। **संक्षेप में इनको निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :**

1. चार्टर की धारा 24 के अनुसार सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना है। इस सम्बन्ध में संघ के सभी सदस्य सुरक्षा परिषद के निर्णय को मानने के लिए बाध्य हैं। सुरक्षा परिषद समझौते द्वारा समस्या का समाधान न हो पाने पर सशस्त्र सैन्य बल का प्रयोग कर सकती है।
2. अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में लिये गये अपने निर्णयों को क्रियान्वित रूप देने का कार्य भी सुरक्षा परिषद का ही है।
3. सुरक्षा परिषद शान्ति एवं सुरक्षा भंग होने की सम्भावना पर झगड़ों की जांच कर इसकी रिपोर्ट साधारण सभा को देती है।
4. सुरक्षा परिषद जिन कार्यों को करती है उनकी योजना बनाना भी उसी का कार्य है।
5. नये सदस्यों को संघ में प्रवेश कराने का कार्य भी सुरक्षा परिषद के पास है।
6. सुरक्षा परिषद को अपनी वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभा को प्रेषित करनी होती है।

इस प्रकार माना जा सकता है कि सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्वपूर्ण अंग है। ई. पी. चैज ने ठीक ही लिखा है—**"सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो या शान्ति का, संघ के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों या न कर रहे हों, वर्ष का कोई भी समय हो......सुरक्षा परिषद अपना कार्य करती रहती है।"**[1]

3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (Economic and Social Council)

(अ) **संगठन**—आर्थिक एवं सामाजिक परिषद संयुक्त राष्ट्र का वह तीसरा महत्वपूर्ण अंग है जो कि विभिन्न राष्ट्रों में शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। चार्टर की धारा 61 के अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि सामान्य सभा द्वारा निर्वाचित 18 सदस्यों से युक्त यह परिषद होगी, परन्तु 1965 में हुए प्रथम संशोधन द्वारा यह संख्या 27 कर दी गयी है। इसके 9 सदस्य प्रति तीन वर्ष के पश्चात् परिषद के कार्य से मुक्त हो जाते हैं। परिषद अपने अध्यक्ष का चयन स्वयं करती है। निर्णय का आधार वहुमत है। वर्ष में इसकी बैठक दो बार बुलाई जाती है। आवश्यकतानुसार विशेष परिस्थिति में भी इसकी बैठक आयोजित की जा सकती है।

(ब) **परिषद के कार्य**—परिषद के प्रमुख कार्य निम्नवत् हैं :

1. सुरक्षा परिषद की प्रार्थना पर किसी भी आक्रान्ता देश पर आर्थिक दण्ड लगाने में यह सुरक्षा परिषद की सहायता करती है।

2. संघ के अधीन कार्य करने वाली सभी संस्थाओं में आपस में सामंजस्य स्थापित कराना तथा संस्थाओं से परामर्श करना।

3. सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करना तथा तकनीकी सलाह देना।

4. साधारण सभा, सुरक्षा परिषद एवं न्याय परिषद की प्रार्थना पर यह परिषद उन्हें सहायता एवं सम्बन्धित सूचना देती है।

---

1 ई. पी. चैज, **दि यूनाइटेड नेशन्स इन एक्शन**, पृ. 170।

5. अपनी कार्यप्रणाली एवं नियमों को स्वयं बनाकर उन्हें स्वयं ही कार्यान्वित करना तथा अपने कार्यक्षेत्र के भीतर किसी भी समय पर किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का अधिकार भी इसे है।

6. मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रता के रक्षार्थ सम्मान रखते हुए इनके विकास एवं प्रसार के लिए कार्य करना, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिषद विभिन्न समितियों एवं आयोगों का गठन कर सकती है। अब तक इसने **सांख्यिकी आयोग** (Statistical Commission), **जनसंख्या आयोग** (Population Commission), **सामाजिक विकास आयोग** (Commission for Social Development), **मानव अधिकार आयोग** (Commission on Human Rights), **नारी अधिकार सम्बन्धी आयोग** (Commission on Status of Women) एवं **मादक पदार्थ आयोग** (Commission on Narcotic Drugs) का निर्माण किया है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 92 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को संघ का महत्वपूर्ण अंग माना है। चार्टर के अध्याय 14 में धारा 92 से 96 तक इसके संगठन एवं क्षेत्राधिकार का उल्लेख है।

(अ) संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग (हालैण्ड) में है। इस न्यायालय में 15 न्यायाधीश हैं। न्यायाधीशों का चयन साधारण सभा एवं सुरक्षा परिषद संयुक्त रूप से 9 वर्ष के लिए करती है। न्यायाधीश अपने कार्यकाल में दूसरा कार्य नहीं कर सकता। किसी विवाद विशेष के उपस्थित हो जाने पर न्यायालय अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में विवाद रहने तक अपने पद पर बने रहते हैं। न्यायालय अपने अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं रजिस्ट्रार की नियुक्ति स्वयं करता है। जिस देश के विवाद के विषय में न्यायालय विचार कर रहा हो, उस देश का न्यायाधीश उस मामले में भाग नहीं ले सकता है।

(ब) क्षेत्राधिकार—हेग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, द्वितीय अनिवार्य क्षेत्राधिकार एवं तृतीय परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार। **ऐच्छिक क्षेत्राधिकार** के अन्तर्गत न्यायालय अपनी संविधि की धारा 36 के अन्तर्गत उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है, जो कि सम्बन्धित राष्ट्र द्वारा उसके सामने रखे गए हों। राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष होते हैं, व्यक्ति नहीं। **अनिवार्य क्षेत्राधिकार** के अन्तर्गत संविधि को स्वीकार करने वाला कोई भी राष्ट्र यह कह सकता है कि वह प्रस्तुत विवाद को अनिवार्य न्यायक्षेत्र में मानता है, परन्तु इसके लिए दोनों पक्षों की स्वीकृति अनिवार्य है। किसी भी सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले एवं किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के भंग होने पर मुआवजे का रूप एवं राशि निर्धारित करने सम्बन्धी मामले न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। **किसी भी राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध न्यायालय में कोई अभियोग नहीं लगाया जा सकता। इसीलिए माना जाता है कि इसका राष्ट्रों पर अनिवार्य क्षेत्राधिकार नहीं है।** परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत साधारण सभा, सुरक्षा परिषद तथा अन्य मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा सौंपे गये

प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी राय दे सकता है, परन्तु इस राय को मानने के लिए वे बाध्य नहीं हैं।

5. सचिवालय (Secretariat)

संघ के अध्याय 15 में अनुच्छेद 97 से 101 तक सचिवालय का विस्तृत विवरण है। सचिवालय के प्रधान कार्यालय न्यूयार्क एवं जेनेवा में हैं। सचिवालय का एक महामन्त्री होता है जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद के अनुमोदन पर साधारण सभा द्वारा की जाती है। महामन्त्री संघ का प्रशासनिक अधिकारी है। वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को छोड़कर संघ के सभी अंगों की बैठकों में भाग ले सकता है। वह सुरक्षा परिषद को सुरक्षा एवं शान्ति में अवरोध उत्पन्न करने वाली स्थिति से अवगत करा सकता है तथा साधारण सभा के नियमों के अनुरूप सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। **सचिवालय को सुविधा की दृष्टि से सुरक्षा परिषद से सम्बद्ध विषयों का विभाग, सम्मेलन एवं सामान्य सेवाएं, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवाएं, आर्थिक विषयों से सम्बन्धित विभाग, सामाजिक विषयों से सम्बन्धित विभाग, न्याय विभाग, लोक सूचना विभाग एवं ट्रस्टीशिप विभाग—इन 8 भागों में विभक्त कर दिया गया है।**

6. न्यास परिषद (Trusteeship Council)

यू. एन. ओ. के चार्टर के अध्याय 12 में अनुच्छेद 75 से 85 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था का वितरण है। अध्याय 13 के अनुच्छेद 86 से 91 तक न्यास परिषद का विवरण है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने पिछड़े हुए क्षेत्रों अथवा राष्ट्रों के लिए न्यास पद्धति को अपनाया। **इस पद्धति का तात्पर्य यह है कि उन्नत एवं विकसित राष्ट्र अव्यवस्थित एवं अविकसित प्रदेश का शासन धरोहर के रूप में देखें जिससे वहां की जनता में जागृति उत्पन्न हो।** राष्ट्र संघ की मैण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले प्रदेशों को न्यास परिषद के अन्तर्गत ले लिया गया।

न्यास परिषद के उद्देश्य भी निर्धारित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की वृद्धि में सहयोग करना तथा न्यास क्षेत्रों के लोगों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से विकसित कर उनमें स्वशासन एवं स्वतन्त्रता के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना न्यास परिषद का मूल उद्देश्य है।

न्यास परिषद के कार्यों के विषय में स्पष्ट किया गया है वह संरक्षित क्षेत्रों का निरीक्षण कर यह पता लगाती है कि संरक्षक राष्ट्र न्यास पद्धति से शासन कर रहे हैं या नहीं। संरक्षक राष्ट्र से वह वार्षिक रिपोर्ट मांगती है तथा संरक्षण प्राप्त प्रदेशों की जनता की शिकायतें सुनकर उनका निराकरण करती है।

7. अभिकरण एवं संस्थाएं (Organizations)

संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के अन्तर्गत अनेक विशिष्ट अभिकरण एवं संस्थाएं हैं। ये सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय कार्यों में संलग्न हैं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.), खाद्य एवं कृषि संघ (F. A. O.), संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संघ (U. N. E. S. C. O.), अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I. B. R. D.), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.), विश्व डाक संघ (W. P. O.), अन्तर्राष्ट्रीय तार संचार संघ (I. T. U.), अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (U. N. H. C. R.), अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (I. D. A. O.) एवं विश्व स्वास्थ्य संघ (W. H. O.) विशेष उल्लेखनीय हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य
(WORKS OF THE U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों को मूलतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम **राजनीतिक कार्य** जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करना तथा विश्व शान्ति की स्थापना उल्लेखनीय है। द्वितीय **मानवीय कार्य** जिसमें मानव जाति के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता एवं असफलता दोनों ही प्राप्त की हैं। **इसका परीक्षण उक्त दोनों कार्यों के सन्दर्भ में निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :**

(अ) राजनीतिक कार्य (विश्व शान्ति के सन्दर्भ में)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने राजनीतिक क्षेत्र में निम्नलिखित कार्य किए :

(1) इण्डोनेशिया का विवाद—द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् इण्डोनेशिया को जो कि विश्व-युद्ध के काल में जापान के आधिपत्य में आ गया था, जापान के आधिपत्य से मुक्ति मिल गयी और वहां पर स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना हो गयी, परन्तु हालैण्ड ने इस स्थिति को स्वीकार न करते हुए इण्डोनेशिया के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। भारत एवं आस्ट्रेलिया द्वारा संघर्ष की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित कराने के पश्चात् सुरक्षा परिषद के हस्तक्षेप से इण्डोनेशिया एवं हालैण्ड के मध्य 17 जून, 1948 ई. को एक समझौता हो गया। 18 दिसम्बर, 1948 ई. को हालैण्ड ने इस समझौते का अतिक्रमण कर इण्डोनेशिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस स्थिति में सुरक्षा परिषद के आदेशानुसार हालैण्ड को युद्ध बन्द करना पड़ा और 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया में स्वतन्त्र गणतन्त्रात्मक सरकार गठित हो गयी।

(2) यूनान का मामला—द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान ब्रिटेन की सेनाएं यूनान में प्रवेश कर गयी थीं, परन्तु युद्ध के पश्चात् वहां से नहीं हटीं और वहां पर साम्यवादियों का दमन करने में लग गयीं। अतः साम्यवादियों व ब्रिटिश सेना के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया। 21 फरवरी, 1946 में रूस ने इस मामले को सुरक्षा परिषद में उठाया। सुरक्षा परिषद ने जांच हेतु एक आयोग गठित किया जिसके प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया गया।

(3) सीरिया एवं लेबनान का प्रश्न—सीरिया तथा लेवनान में ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी सेनाएं जमी हुई थीं। 14 फरवरी, 1946 को सुरक्षा परिषद में इन दोनों देशों ने फ्रांसीसी सेनाओं के हटाये जाने हेतु अपील की। सुरक्षा परिषद के अनुरोध पर दोनों राष्ट्रों ने अपनी सेनाएं हटा लीं।

(4) बर्लिन की नाकेबन्दी—1948 ई. में पश्चिमी देशों ने पूर्वी बर्लिन में त्रिक्षेत्र की स्थापना करने के पश्चात् पोड्समाउथ समझौते की व्यवस्था का अतिक्रमण कर पश्चिमी जर्मनी में नयी मुद्रा का प्रचलन कर दिया। इससे पूर्व जर्मनी के व्यापार में बाधाएं आने पर रूस ने 24 जून, 1848 को पश्चिम बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। पश्चिमी भागों का मार्ग पूर्वी भाग से होकर जाता था। अतः पश्चिमी देशों को समस्या का सामना करना पड़ा। इस मामले में सुरक्षा परिषद के हस्तक्षेप से मई 1949 को एक समझौते से शान्ति स्थापित हुई।

(5) फिलिस्तीन की समस्या—फिलिस्तीन में मैण्डेट व्यवस्था कायम करने का अधिकार प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड को दिया था। फरवरी 1947 में ब्रिटेन ने घोषणा कर

दी कि उसके लिए अब फिलिस्तीन में मैण्डेट व्यवस्था कायम रखना सम्भव नहीं है। **इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि फिलिस्तीन में अरब एवं यहूदियों का संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो गया था। यहूदी फिलिस्तीन को अपना धर्मस्थल मानते थे।** अतः वे वहां पर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। ब्रिटेन ने समस्या संयुक्त राष्ट्र संघ में उठा दी। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयत्नों से अरब एवं इजराइल राष्ट्रों में सन्धियां अवश्य हो गयी हैं, परन्तु आज भी शान्ति पूर्णतः स्थापित नहीं हो पायी है।

(6) **ब्रिटेन व ईरान में तेल का मामला**—ईरान की सरकार द्वारा मई 1951 में ऐंग्लोईरानियन आयल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण करने पर ब्रिटेन ने इसके विरोध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अपील की और स्पष्ट कर दिया कि मामले पर जब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपना निर्णय नहीं देता, तब तक कम्पनी कोई उत्पादन न करे। ईरान द्वारा इस घोषणा की अवमानना पर मामला सुरक्षा परिषद में चला गया। सुरक्षा परिषद ने इसे न्यायालय के निर्णय पर छोड़ दिया। 22 जुलाई, 1952 में न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया कि वह इस समस्या पर विचार करने के लिए सक्षम नहीं है। अतः इंगलैण्ड द्वारा ईरान के विरुद्ध की गयी शिकायत का कोई अस्तित्व नहीं रह गया।

(7) **कोरिया का मामला**—द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् कोरिया का विभाजन उत्तरी कोरिया एवं दक्षिणी कोरिया के रूप में हो गया। **उत्तरी कोरिया में समाजवादी प्रभाव एवं दक्षिण कोरिया में अमेरिका का प्रभाव स्थापित हो गया।** 25 जून, 1950 में उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया के मध्य युद्ध होने पर संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से 1953 में कोरिया का युद्ध समाप्त हुआ और कोरिया में शान्ति कायम हुई।

(8) **स्वेज नहर विवाद**—1869 में निर्मित स्वेज नहर का संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमें ब्रिटेन व फ्रांस के शेयर थे। जुलाई, 1956 में मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। फ्रांस एवं ब्रिटेन की चाल पर इजरायल ने मिस्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मामला संयुक्त राष्ट्र संघ तक चला। संघ ने इस विवाद को स्वेज नहर की व्यवस्था एक स्वतन्त्र निकाय को सौंपकर हल करने में सफलता प्राप्त की।

(9) **कश्मीर की समस्या**—भारत विभाजन के सन्दर्भ में पाकिस्तान की जो मांग उठी थी, उसमें पाकिस्तान को कश्मीर दिये जाने की भी मांग थी, परन्तु भारत विभाजन कर जिस पाकिस्तान का निर्माण किया, उसमें उसे कश्मीर नहीं दिया था, क्योंकि कश्मीर के राजा ने भारत में कश्मीर को मिला दिया था। अतः पाकिस्तान तभी से कश्मीर पर अपने अधिकार का दावा करता चला आ रहा है। 22 अक्टूबर, 1947 में उसने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया जो कि सुरक्षा परिषद के हस्तक्षेप से समाप्त हुआ। 1965 एवं 1971 में भी दो बार पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किये, परन्तु उसे पराजित होना पड़ा। सुरक्षा परिषद के अनुरोध पर भारत ने युद्ध विराम किया था।

इस प्रकार उक्त विवादों को हल करने में संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि **यू. एन. ओ. निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान करने में सफल नहीं रहा।** यह भी विवेच्य है कि जब भी दो महाशक्तियों के विवाद से भरा प्रश्न उसके सम्मुख आया तो वह कुछ न कर सका। वियतनाम में अमरीकी हस्तक्षेप तथा बंगलादेश में पाकिस्तान के कार्यों को रोकने में वह असफल रहा। दक्षिण

अफ्रीका में रंग-भेद की नीति तथा पश्चिमी एशिया के संकट के स्थायी समाधान अभी भी नहीं हो पाये हैं, परन्तु फिर भी अनेक बार विश्व-शान्ति स्थापित करने में वह सफल रहा।

(ब) मानवीय कार्य

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में मानवीय कार्यों को अत्यधिक प्रधानता दी गयी है। मानवीय कार्यों के सम्पादन हेतु **राष्ट्र संघ के प्रयत्नों को निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :**

(1) **आर्थिक क्षेत्र**—संघ के आर्थिक कार्यों के सम्पादन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, खाद्य एवं कृषि संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निकाय विशेष उल्लेखनीय हैं।

(2) **संचार-साधन सम्बन्धी क्षेत्र**—संचार साधन सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सैनिकतर हवाई संगठन, सार्वभौमिक पोस्टल संघ, अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ, विश्व ऋतु विज्ञानीय संगठन एवं अन्तःसरकारी सामुद्रिक परामर्शदाता संगठन की स्थापना की गयी।

(3) **सांस्कृतिक एवं शिक्षा का क्षेत्र**—सांस्कृतिक एवं शिक्षा से सम्बन्धित कार्यों के लिए संघ ने संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक संगठन की स्थापना की। इसे प्रजातन्त्र का अग्रदूत माना जाता है।

(4) **स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र**—स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गयी। इसका मुख्य उद्देश्य **'विश्व के देशों की जनता द्वारा स्वास्थ्य की उच्चतम सम्भव दशा'** प्राप्त करना है। इस संगठन के कार्यों की सफलता का अन्दाजा इस बात से लग जाता है कि यूनान में मलेरिया निवारण के कार्य में इसके प्रयत्नों से बीमारी का औसत 95% से घटकर 5% रह गया है। भारत में भी इसने क्षय रोग के उन्मूलन हेतु बी. सी. जी. वैक्सीन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध करायी।

संघ का मूल्यांकन
(EVALUATION)

संयुक्त राष्ट्र संघ निःसन्देह राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट संस्था के रूप में सामने आया है। यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्र संघ निःशस्त्रीकरण, दक्षिण अफ्रीका में काले लोगों पर किये जाने वाले अत्याचार एवं कांगो के मामले में सफलता प्राप्त नहीं कर पाया है, परन्तु उसकी सफलताओं से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। **मानवीय क्षेत्र में किये गये उसके कार्य सराहनीय हैं। यह ठीक है कि संघ उतने सुचारु रूप से कार्य नहीं कर पा रहा है जितना उसे करना चाहिए था, परन्तु इसके पीछे मुख्य कारण विश्व की महाशक्तियों का उसे सही दिशा में सहयोग न मिल पाना ही रहा है।** वास्तव में संघ भी एक मानव निर्मित संस्था ही है। उसकी पूर्ण सफलता तो विश्व के सभी राष्ट्रों द्वारा अपनी स्वार्थपरता का त्याग कर मानव जाति के सहयोग में अपना योगदान देने पर ही सम्भव है।

प्रश्न

1. **संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए इसके उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को भी लिखिए।**
2. **संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवरण दीजिए।**
   (गोरखपुर, 1991, 93; पूर्वांचल, 1991; लखनऊ, 1992)
3. **संयुक्त राष्ट्र पर एक निबन्ध लिखिए।**
4. **विश्व शान्ति में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका लिखिए।**
5. **संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।** **(पूर्वांचल, 1992)**

15

संयुक्त राज्य अमरीका एवं यूरोप

[UNITED STATES OF AMERICA AND EUROPE] (1919-1945)

भूमिका
(INTRODUCTION)

संयुक्त राज्य अमरीका एक प्रजातन्त्रात्मक देश है। अत: जनमत के आधार पर उसकी नीतियों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व अमरीका ने यूरोप की राजनीति में जहां पृथकतावादी नीति का पालन किया, वहीं दूसरी ओर प्रथम महायुद्ध में उसने पृथकतावादी नीति का परित्याग किया और प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से (1919 से 1932 ई. तक) 1932 ई. तक पुनः पृथकतावादी नीति का पालन किया; 1933 ई. से 1945 ई. तक अमरीका की विदेश नीति को हम पृथकतावाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर जाते हुए पाते हैं। के. रॉबर्ट ने ठीक ही लिखा है, **"यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक विशेष परिस्थिति में अमेरिकन किस प्रकार का व्यवहार करेंगे यह बात बहुत कुछ उन तत्वों पर निर्भर करती है जो वहां के समाज के वर्तमान एवं भावी रूप का निर्धारण करते हैं।"**[1] संक्षेप में 1919 ई. से 1945 ई. तक अमरीका की यूरोप की राजनीति में भूमिका का वर्णन निम्नवत् है :

अमरीका व यूरोप (1919 ई. से 1932 ई. तक)
(U.S.A. AND THE EUROPE)

पृथकतावादी नीति के पुनरोदय के कारण (Causes of the Rebirth of Isolationism)

प्रथम विश्व युद्ध में अमरीका के प्रवेश ने मित्रराष्ट्रों को विजय प्रदान की थी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरीका का महत्व भी अत्यन्त बढ़ गया। **विल्सन के चौदह सूत्र तो पेरिस के शान्ति सम्मेलन के आधार सिद्ध हुए।** किन्तु आश्चर्य की बात थी कि अमरीका को यूरोप की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने वाली विल्सन की नीति या अमरीका की यूरोप की राजनीति में हस्तक्षेप की नीति को स्वयं अमरीकावासियों ने स्वीकार नहीं किया। 1918 ई. के निर्वाचनों में रिपब्लिकन दल को

1 Robert K., *American Democracy in Theory and Practice* : *The Nation Govt.*, 951.

विजय मिली। **विल्सन के अन्तर्राष्ट्रीतावाद की पराजय या अमरीका की नीति में पृथकतावाद के पुनरावर्तन के कारण निम्नवत् थे :**

(1) अमरीका की जनता में इटैलियन, जर्मन, यूनानी एवं आयरिश जाति के लोग भी थे। **पेरिस के शान्ति सम्मेलन से इनकी मांगें पूर्ण नहीं हो पा रही थीं।** इधर अमरीका में यह भी धारणा फैल चुकी थी कि सम्मेलन का लाभ ब्रिटेन को अधिक मिल रहा है। अतः अमरीकावासियों में विल्सन की नीति के प्रति रोष व्याप्त था।

(2) अमरीका ने युद्ध में परिस्थितिवश भाग लिया था। युद्ध समाप्ति पर अमेरिकन यह मानते थे कि अब अमरीका का विश्व राजनीति में हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है। अमरीका की जनता अमरीका को यूरोपीय राजनीति में फंसाकर अमरीका की प्रगति पर बाधा नहीं पहुंचाना चाहती थी।

(3) युद्ध में प्रवेश करते समय विल्सन ने स्पष्ट कर दिया था कि अमरीका अपने स्वार्थ के लिए युद्ध में प्रवेश कर रहा है; किन्तु युद्ध समाप्ति पर अधिकांश अमेरिकन इस बात को नहीं समझ पाए कि इंगलैण्ड व फ्रांस का अमरीका के स्वार्थों की पूर्ति के लिए विश्व राजनीति में क्या महत्व है? यही कारण था कि विल्सन के विरोधियों ने राष्ट्र संघ की 10वीं धारा के विषय में कहा था, **"यह धारा अमरीका की सम्प्रभुता एवं युद्ध घोषित करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाती है।"**

(4) युद्धकाल में सरकार ने एण्टी ट्रस्ट कानून, फैडरल रिसर्ज कानून, आदि द्वारा अपनी शक्ति में असीमित वृद्धि कर ली थी। **युद्ध समाप्ति के पश्चात् व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पक्षपाती जनता ने इन अधिकारों का विरोध किया।** इधर युद्ध के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ा था। जनअसन्तोष का लाभ रिपब्लिकन दल ने उठाया। साथ ही विल्सन पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेने स्वयं गया था उसकी अनुपस्थिति ने उसके आलोचकों को अपनी शक्ति में वृद्धि करने का पूर्ण अवसर प्रदान कर दिया।

(5) विल्सन ने शान्ति सम्मेलन में भाग लेने वाले जिन प्रतिनिधियों का चयन किया था उनका सम्बन्ध केवल डेमोक्रेटिक दल से था। देश में यह धारणा फैल गई कि विल्सन को ऐसे प्रतिनिधि भी चुनने चाहिए जिनका सम्बन्ध दलगत राजनीति से न हो क्योंकि सम्पूर्ण अमरीका ने युद्ध में भाग लिया था।

(6) राष्ट्रपति विल्सन ने मतदान के दो सप्ताह पूर्व एक वक्तव्य जारी किया जिसमें कहा गया कि, **"कांग्रेस में रिपब्लिकन सदस्यों ने उसके युद्धों के उपायों का तो समर्थन किया है, परन्तु प्रशासन के सन्दर्भ में वे विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। संकट के समय इस प्रकार का भेदभाव उचित नहीं है।"** विल्सन के इस वक्तव्य ने तो मानो अमरीका में तूफान खड़ा कर दिया। फलतः दोनों सदनों में चुनाव में रिपब्लिकन दल को बहुमत मिला।

अमरीका की विदेश नीति (1919-1932)
(FOREIGN POLICY OF AMERICA)

2 नवम्बर, 1920 ई. को अमरीका का राष्ट्रपति बनते ही हार्डिंग (Harding) ने घोषणा की, **"राष्ट्र संघ से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है"**, सीनेट ने राष्ट्र संघ की सदस्यता से इन्कार ही नहीं कर दिया, अपितु जर्मनी का आक्रमण होने पर फ्रांस को ब्रिटेन व अमरीका की सहायता के आश्वासन की गारण्टी को भी मानने से इन्कार कर दिया। **अप्रवासी कानून**

(Immigration Act) एवं आपातकालीन तटकर कानून (Emergency Tarrif Act) पास किए गए : प्रथम कानून द्वारा विदेशियों के अमरीका बसने पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयोजन था और द्वितीय द्वारा तटकर की ऊंची दीवारें खड़ी करके विदेशों से आने वाले माल पर नियन्त्रण स्थापित करना था।

अमरीका की यह नीति यूरोपीय राजनीति में होने वाली उथल-पुथल के आगे अधिक समय तक टिक न सकी। यूरोप की राजनीति में हो रहे परिवर्तनों ने अमरीका को विवश कर दिया कि वह यूरोप की राजनीति में भाग ले। अतः अब अमरीका ने **'स्पर्शहीन सहयोग की नीति'** का पालन किया। अमरीका अब उत्तरदायित्व का निर्वाह करे बिना शक्ति व प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता था। अमरीका की सुरक्षा की भावना ने उसे पृथकतावाद की घोषणा के साथ-साथ यूरोपीय राजनीति में भाग लेने पर विवश ही कर दिया था। **अतः नई परिस्थितियों में अमरीका ने स्पर्शहीन सहयोग की नीति का पालन करते हुए निम्नलिखित कदम उठाए :**

(1) राष्ट्र संघ से सहयोग (Co-operation with the League of Nations)—अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए राष्ट्र की उपेक्षा करना अमरीका के लिए सम्भव न हो सका। अतः उसने 1924 ई. के बाद से ही राष्ट्र संघ की बैठकों में पूर्ण भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधियों को भेजना आरम्भ कर दिया। 1931 ई. तक तो वह राष्ट्र संघ के 13 समझौतों में सम्बद्ध हो चुका था। अब जेनेवा में उसके 5 स्थायी सदस्य रहने लगे। मंचूरियन संकट में तो उसने विशेष भाग लिया। 1934 में उसने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सदस्यता स्वीकार कर ली। शूमैन ने ठीक ही लिखा है, **''पहले राष्ट्र संघ की उपेक्षा की गई, बाद में इसे अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार किया गया और अन्त में तो इसका उपयोग भी किया गया।''**[1]

(3) निःशस्त्रीकरण एवं अमरीका (Disarmament and U.S.A.)—निःशस्त्रीकरण एवं सुदूरपूर्व के मामले में भी अमरीका ने विचार-विमर्श के लिए वाशिंगटन सम्मेलन आयोजित किया। इसमें पांच राज्यीय नौसैनिक सन्धि की गई। 1927 ई. में अमरीका के राष्ट्रपति कूलिज ने शस्त्रास्त्रों के नियन्त्रण को लेकर जेनेवा में एक सम्मेलन बुलाया। राष्ट्रपति हूवर के आग्रह पर 1930 में लन्दन में निःशस्त्रीकरण नौसैनिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। यही नहीं, 1932 में होने वाले जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जिसका आयोजन राष्ट्र संघ ने किया था अमरीका ने भाग लिया।

(3) क्षतिपूर्ति, युद्ध ऋण एवं अमरीका (Reparation, war debts and U.S.A.)—आर्थिक समस्याओं के क्षेत्र में भी अमरीका ने यूरोप की राजनीति में भाग लिया। डावेश एवं यंग योजना में अमरीका की भूमिका इसका प्रमाण है। 1931 ई. में विश्वव्यापी आर्थिक संकट के समय क्षतिपूर्ति व युद्ध ऋण की अदायगी के लिए 1 वर्ष का स्थगन एवं 1933 ई. में विश्व आर्थिक सम्मेलन में अमरीका का सक्रिय रूप से भाग लेना अमरीका की यूरोप की राजनीति में दिलचस्पी का स्पष्ट प्रमाण है। **यही नहीं, अमरीका व रूस ने निगारूगुआ से ऋण चुकाने सम्बन्धी समझौते किए।** जब फिनलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों ने अमरीका को अपनी ऋण की अदायगी विश्वव्यापी आर्थिक संकट के कारण बन्द कर देने की घोषणा की तो अमरीका ने 1934 ई. में जानसन एक्ट पास किया। इस एक्ट के अनुसार यह घोषणा

1 शूमैन, इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ. 628।

की गई कि **'अमरीकी धनदाता किसी भी ऐसी विदेशी सरकार को ऋण नहीं देंगे जिसने अमरीका का ऋण चुकाने में ढील की हो।'**

(4) **कैलॉग ब्रियां पैक्ट** (Kellog Brain Pact—31 Aug., 1928)—अमरीका द्वारा यूरोप की राजनीति में हस्तक्षेप का ज्वलन्त प्रमाण कैलॉग ब्रियां पैक्ट के रूप में भी सामने आता है। युद्ध से यूरोप को बचाने के लिए अमरीका का यह प्रयास सराहनीय था। निःसन्देह इस समझौते में ब्रिटेन व अमरीका ने हस्ताक्षर ही नहीं किए अपितु यह भी घोषित किया कि, **'वे अपनी राष्ट्रीय नीति के संचालन में इस पैक्ट को ठोस दायित्व के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।'** निःसन्देह यह समझौता यूरोप की राजनीति में अमरीका के पृथकत्व को तोड़ने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यूरोप की राजनीति से स्वयं को तटस्थ रखने की नीति का दावा करने वाली रिपब्लिकन सरकार यूरोप के रंगमंच पर घटित होने वाली घटनाओं से जो कि चाहे आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण थीं या फिर सैन्य दृष्टि से, स्वयं को तटस्थ न रख सकी तथा उसने अत्यन्त खूबी के साथ **'स्पर्शहीन सहयोग की नीति'** का पालन किया।

अमरीका एवं यूरोप (1933 ई. से 1945 ई. तक)
(U.S.A. AND EUROPE)

4 मार्च, 1933 ई. को फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के राष्ट्रपति पद पर आसीन होते ही अमरीका के यूरोप के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनने लगी। **राष्ट्रपति रूजवेल्ट का इस समय पूर्ण ध्यान अमरीका की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने की ओर लगा था।** अतः 1933 ई. से 1937 ई. तक का रूजवेल्ट के शासन का चरण पुनर्व्यवस्था (New Deal) द्वारा देश की अर्थव्यवस्था को सुगठित करने की ओर लगा रहा। यह ठीक है कि रूजवेल्ट जापान की आक्रामक गतिविधियों एवं फासीवाद तथा नाजीवाद के उत्कर्ष से विश्व शान्ति को मिलने वाली चुनौतियों से आशंकित था, किन्तु अभी यह अमरीका के जनमत की अवमानना करने में समर्थ नहीं था। इस समय सीनेट में पृथकतावादी ही अधिकांशतः थें, अतः अमरीका ने तटस्थता कानून पास किए।

तटस्थता कानून (Neutrality Laws)

(1) 31 अगस्त, 1975 ई. को पास किए गए कानून के अनुसार युद्धरत राष्ट्र को युद्ध सामग्री के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

(2) 1937 ई. के कानून के तहत **'नकद दाम दो और माल ले जाओ'**[1] का सिद्धान्त लागू किया गया, अब युद्धरत राष्ट्र भी निषिद्ध युद्ध सामग्री के अतिरिक्त अन्य सामग्री नकद दाम देकर ले सकते थे।

(3) नवम्बर, 1939 ई. को तीसरा तटस्थता कानून पास हुआ। अब युद्धरत राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र बेचने का प्रतिबन्ध हटा लिया गया, किन्तु वे नकद दाम देकर ही माल ले सकते थे।

पृथकता का परित्याग (Renunciation of Isolationism)

अमरीका की सीनेट द्वारा तटस्थता कानून की घोषणा का लाभ निःसन्देह हिटलर एवं मुसोलिनी ने तो उठाया ही साथ ही जापान की गतिविधियों एवं स्पेनिश गृह युद्ध ने रूजवेल्ट को यह विश्वास दिया दिया कि यदि अमरीका ने तटस्थता की नीति न त्यागी तो विश्व

1 Cash and Carry.

शान्ति को खतरा हो जाएगा। अतः 5 अक्टूबर, 1937 **को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने शिकागो में अपनी निरोधी वक्तृता** (Quarantive speech) **में आक्रान्ता राष्ट्रों को चेतावना दी।** किन्तु अमरीका के जनमत ने तटस्थता का ही पक्ष लिया। फलतः वक्तृता के दो माह बाद ही अमरीका की एक गनबोट को जापानी वमवर्षकों ने डुवो दिया। 29 सितम्बर, 1938 ई. को हुए म्यूनिख पैक्ट के अनुसार जर्मनी को स्यूडेटन प्रदेश में अधिकार करने की आज्ञा भी मिल गई, किन्तु अब भी अमरीका की सीनेट तटस्थता का दम भर रही थी। 18 जुलाई, 1939 को रूजवेल्ट ने सीनेट के समक्ष स्पष्ट कर दिया कि, **"वह देश की रक्षा के लिए बारम्बार तटस्थता की नीति को छोड़ने के लिए कह चुका है और इस ओर अपने सभी प्रयत्न कर चुका है। यदि समय पर आवश्यक कदम न उठाने से अमरीका की सुरक्षा को कोई खतरा हो जाता है तो इसके लिए अब पूर्ण उत्तरदायित्व सीनेट का होगा।"** जर्मनी, इटली एवं जापान की आक्रामक नीतियों एवं द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हो जाने पर तथा राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा सीनेट को स्पष्ट चेतावनी दिए जाने से अब सीनेट को रूजवेल्ट की बातों में सत्यता का भान हो गया। अतः सीनेट ने नवम्बर 1939 को तटस्थता कानून में संशोधन किए।

संशोधन पर्याप्त सिद्ध न हुए। इससे मित्र राष्ट्रों को विशेष लाभ न हुआ। उधर जर्मनी ने 1940 ई. तक डेनमार्क, नार्वे एवं बेल्जियम को जीत लिया था। 24 जून, 1940 ई. को फ्रांस की पराजय हो गई। इंगलैण्ड की पराजय निश्चित प्रतीत हो रही थी। अमरीका की जनता व सीनेट ने रूजवेल्ट के बारम्बार किए आह्वान के महत्व को समझा और शीघ्र आगामी 12 माह **में निम्नलिखित महत्वपूर्ण कदम उठाए :**

(1) ब्रिटेन व फ्रांस को युद्ध जहाज एवं युद्ध सामग्री बेचने की प्राथमिकता दी गई।

(2) 'न्यूफाउण्डलैण्ड से लेकर ब्रिटिश गायना' तक का क्षेत्र इंगलैण्ड से अमरीका ने ले लिया। इसके बदले अमरीका ने ब्रिटेन को 50 विध्वंसक पोत दिए।

(3) अप्रेल, 1940 ई. को ग्रीनलैण्ड पर तथा जुलाई 1940 ई. में आइसलैण्ड पर अमरीका ने अपना अधिकार कर लिया।

(4) 1940 ई. में यह घोषणा कर दी गई कि जर्मन युद्ध पोतों को देखते ही समाप्त कर दिया जाए। यह स्पष्ट किया गया कि अमरीका **प्रजातन्त्र राज्यों का शस्त्रागार**[1] है।

(5) मार्च, 1941 ई. में अमरीका ने **'उधार पट्टा अधिनियम'** पास किया।

(6) 1942 ई. तक ब्रिटेन व रूस को 8,25,30,00,000 डालर की युद्ध सामग्री अमरीका द्वारा भेजी गई।

उक्त कदमों ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब अमरीका व जर्मनी में **अघोषित युद्ध** (undeclared war) छिड़ चुका है। इधर जापान ने तो अमरीका को प्रत्यक्ष रूप से युद्ध के लिए विवश कर ही दिया। 7 **दिसम्बर 1941 ई. को प्रातः** 7 बजकर 45 मिनट पर हवाई द्वीप के पर्ल हार्बर के अमरीका के नौ सैनिक अड्डे पर जापान ने भयंकर आक्रमण कर दिया। जापान के इस भयंकर आक्रमण ने अब अमरीका के जनमत के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 11 **दिसम्बर को इटली व जर्मनी ने भी अमरीका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।** अतः अमरीका ने भी उनके विरुद्ध युद्ध का जयघोष बुलन्द कर दिया। अब युद्ध ने विश्व युद्ध का रूप धारण कर लिया।

1 **Arsenal of Democracy.**

प्रश्न

1. दो विश्व-युद्धों के बीच अमरीका की यूरोप के प्रति नीति पर प्रकाश डालिए।
2. 1919 ई. से 1945 ई. तक अमरीका की विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।
3. "1920 ई. के पश्चात् से 1945 ई. तक यूरोप के सन्दर्भ में अमरीका की विदेश नीति के लिए पृथकतावाद श्रम मूलक शब्द है"—इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् अमरीका में पृथकतावादी नीति के पुनरोदय के क्या कारण थे? क्या अमरीका अपनी पृथकतावादी नीति का पूर्णतः पालन कर सका?
5. विल्सन की अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के पराजय के क्या कारण थे? अमरीका की स्पर्शहीन सहयोग की नीति पर भी प्रकाश डालिए।
6. 1919 ई. से 1932 तक अमरीका की विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।
7. 1933 ई. से 1945 ई. तक यूरोप के सन्दर्भ में अमरीकी विदेश नीति पर टिप्पणी लिखिए।
8. तटस्थता कानून से क्या अभिप्राय है? क्या अमरीका की सीनेट समयानुसार इन कानूनों पर अड़ी रह सकी? अपने उत्तर को सप्रमाण पुष्ट कीजिए।
9. रूजवेल्ट की विदेश नीति पर प्रकाश डालिए।

16

यूरोप एवं पश्चिमी एशिया

[EUROPE AND WEST ASIA]

भूमिका
(INTRODUCTION)

पाश्चात्य विद्वानों ने पश्चिमी एशिया को **मध्यपूर्व** (Middle East) के नाम से सम्बोधित किया है। 1921 ई. के अपने काहिरा सम्मेलन के भाषण में चर्चिल ने मध्यपूर्व की व्याख्या में मिस्र, सीरिया, फिलिस्तीन, अरब, जोर्डन एवं इराक का उल्लेख किया था। भौगोलिक दृष्टि से तुर्की एवं मिस्र को पश्चिमी एशिया में सम्मिलित करना उचित नहीं है, किन्तु पश्चिमी एशिया के देशों का अध्ययन करते समय हम इन दोनों के ऐतिहासिक एवं राजनीतिक महत्व को नकार नहीं सकते। यही कारण है कि इन दोनों देशों का राजनीतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेख पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत किया जाता है। मध्यपूर्व में आने वाले इन देशों **को सर्वप्रथम जवाहरलाल नेहरू ने पश्चिमी एशिया के नाम से सम्बोधित किया।**[1]

पश्चिमी एशिया का विश्व की राजनीति में महत्व
(IMPORTANCE OF WEST ASIA IN THE WORLD POLITICS)

विश्व की राजनीति में पश्चिमी एशिया का राजनीतिक एवं सामरिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। **इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यह एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका इन तीनों महाद्वीपों का केन्द्र-बिन्दु है।** स्वेज नहर, सीरिया एवं इराक के हवाई अड्डे विश्व के महत्वपूर्ण मार्ग हैं। यही कारण है कि यूरोप की महाशक्तियों ने अपनी साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों के कारण पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव स्थापित करने के महत्वपूर्ण प्रयत्न किए। 1919 ई. से 1945 ई. तक का पश्चिमी एशिया का इतिहास भी साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादियों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। वहां की लगभग सभी समस्याएं यूरोपीय राजनीति से जुड़ गईं। संक्षेप में, 1919 ई. से 1945 ई. तक का पश्चिमी एशिया का उल्लेख यूरोपीय राजनीति के सन्दर्भ में प्रमुख बिन्दुओं के अन्तर्गत अग्रवत् है :

---

1 "Who first used the term (Middle East) is not certain.....and today Mr. Nehru is setting the fashion of calling it West Asia." —Guy wint & Peter, *Middle East Crisis : A Penguien Special*, 1957 Edition, p. 16.

पश्चिमी एशिया में मैण्डेट व्यवस्था एवं राष्ट्रीय संघर्ष
(MANDATE SYSTEM IN WEST ASIA AND NATIONAL STRUGGLE)

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तक लगभग सम्पूर्ण अरब-जगत ओटोमन साम्राज्य का अंग था, परन्तु अरब जगत के निवासियों में न तो तुर्की के ओटोमन साम्राज्य के प्रति निष्ठा ही थी और न ही भक्ति। प्रथम विश्व-युद्ध के समय जब तुर्की ने मित्र राष्ट्रों के विरोध में जर्मनी का साथ दिया तो इसका लाभ उठाने के लिए अंग्रेजों ने अरबों को तुर्की के सुल्तान के विरोध में भड़काया। राष्ट्रीय भावनाओं से अरब जनमत अब तक हल्के-हल्के आन्दोलित हो ही चुका था। **अतः अरबों ने तुर्की के विरुद्ध मक्का में शरीफ हुसैन अली के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया।** विद्रोह का पूर्ण लाभ मित्र राष्ट्रों ने उठाया, परन्तु अरबों की भावनाओं का जरा भी ख्याल न करते हुए उन्होंने युद्ध के दौरान साइक्स पिकौट समझौता किया। इस समझौते के अनुसार इराक को मोसुल जिला एवं सीरिया पर फ्रांस का अधिकार मान लिया गया। ब्रिटेन का दावा इराक के क्षेत्र, फारस की खाड़ी से लेकर फ्रांसीसी क्षेत्र तक के इलाके एवं फिलिस्तीन में मान लिया गया। रूस का दावा कान्सटेन्टीनोपुल तथा अनातोलिया में मान लिया गया। यही नहीं, इंगलैण्ड ने 2 नवम्बर, 1917 ई. को बाल्फोर घोषणा कर अरबों के विरोध में यहूदियों का पक्ष लिया। शरीफ हुसैन ने इस घोषणा का जबरदस्त विरोध किया, परन्तु ब्रिटिश राजदूत जार्ज होगार्ल ने जनवरी, 1918 ई. में उससे मुलाकात पर यह विश्वास दिलाया कि इस घोषणा से फिलिस्तीन निवासियों को राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अतः अरब लोग ओटोमन साम्राज्य का निरन्तर विरोध करते रहे। राष्ट्रवादियों ने हेजाज में सफलता प्राप्त कर ली। शरीफ हुसैन हेजाज का राजा बन गया। लाल सागर के बन्दरगाह अकाबा एवं सीरिया पर जुलाई, 1917 तक राष्ट्रवादियों का अधिकार हो गया।

युद्ध के पश्चात् होने वाले शान्ति सम्मेलन में शरीफ हुसैन के पुत्र फैजल ने हेजाज के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया और राष्ट्रपति विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर अरब राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की मांग की। **मित्र राष्ट्र एक ओर तो अरबों से युद्ध के पश्चात् उनकी स्वतन्त्रता का दावा स्वीकार कर चुके थे, परन्तु दूसरी ओर साइक्स-पिकौट समझौता भी कर चुके थे।** दोनों कार्य एक साथ हो सकना बड़ा दुष्कर लगता था, परन्तु अफ्रीका के राजनेता जनरल स्टमस ने **संरक्षण प्रणाली** (Mandate System) का मार्ग बतलाकर मित्र राष्ट्रों की उलझन को आसान कर दिया। **अतः अप्रैल, 1920 ई. की सन्धि के द्वारा इंगलैण्ड एवं फ्रांस ने पश्चिमी एशिया का संरक्षण प्राप्त किया।** सेव्रे की सन्धि के अनुसार तुर्की के सुल्तान ने मैण्डेट व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सीरिया एवं लेबनान का संरक्षण फ्रांस को मिला। ट्रांसजार्डन, फिलीस्तीन एवं इराक का संरक्षण ब्रिटेन को मिला। हेजाज को स्वतन्त्र माना गया। लॉर्ड कर्जन ने 1920 ई. में लार्ड सभा में इस विषय में ठीक ही कहा था, कि **"संरक्षण पद्धति के नाम पर मित्र राष्ट्रों ने ओटोमन साम्राज्य का बंटवारा कर लिया है।"**[1] इस

---

1 **"It is quite a mistake to suppose that under the Covenant of the League or any other instrument, the gift of a mandate rests with the league of nations. It rests with the powers who have conquered the territories, which it then falls to them distribute."**

—Lord Curzon George E. Kirk, *A Short History of Middle-East*, p. 131.

प्रकार युद्ध के पश्चात् अरब जगत पर पश्चिमी देशों का शिकंजा स्थापित हो गया। अतः अब राष्ट्रवादी नेताओं को ओटोमन साम्राज्य के स्थान पर पश्चिमी शक्तियों का सामना करना था।

सीरिया तथा लेबनान में फ्रांसीसी शासन का विरोध

सीरिया तथा लेबनान में फ्रांस ने अपना सैनिक शासन स्थापित कर लिया था। फ्रांस ने आततायी शासन के विरोध में सीरिया, लेबनान एवं जेवलड्रूज में शीघ्र ही राष्ट्रवादियों ने देश की स्वतन्त्रता एवं एकता की स्थापना हेतु विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। 1936 ई. तक राष्ट्रवादियों ने फ्रांसीसियों को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। किर्क ने ठीक ही लिखा है, **''विद्रोह ने आखिरकार फ्रांस को सिखा ही दिया कि सीरिया में मातृ-कानून से शासन करना असम्भव है।''**[1]

स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए फ्रांस ने 1926 ई. में एम. पोंसो (M. Ponsot) को सीरिया एवं लेबनान का उच्च आयुक्त बनाकर भेजा। उसने सीरिया में निर्वाचन कराकर (अप्रेल, 1928 ई.) संसद का निर्माण कराया। **संसद ने 7 अगस्त, 1928 ई. को एक संविधान की रूपरेखा तैयार की जिसमें फिलस्तीन, ट्रांसजार्डन एवं लेबनान को सीरिया में मिलाकर संयुक्त सीरिया के निर्माण की बात कही गई।** विदेश नीति एवं सुरक्षा व्यवस्था के क्षेत्र में फ्रांस के प्रभाव को समाप्त कर देने की भी बात इस संविधान की रूपरेखा में थी। संसद के पहले ही अधिवेशन में जिस प्रकार फ्रांसीसी मैण्डेट का विरोध किया गया एवं संविधान की रूपरेखा में फ्रांस को अनुचित आदर नहीं दिया गया था, उससे प्रभावित होकर पोंसो ने संसद को भंग कर स्वयं ही एक संविधान बनाया और 1932 ई. में चुनाव कराकर सीरियाई राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर एक मन्त्रिमण्डल बनाया। 1936 ई. एक सीरियाई शिष्टमण्डल **'हशीम-बे-इल-अत्तासी'** के नेतृत्व में फ्रांस गया। इसके प्रयत्नों से 9 सितम्बर, 1936 ई. को फ्रांसीसी सरकार एवं सीरियनों के मध्य एक सन्धि हुई। सन्धि का सीरिया में तो स्वागत किया गया, परन्तु लेबनान, लताकिया, बेरुत, आदि ने विरोध किया। अतः 1937 में सीरिया में ध्याती गणराज्य की स्थापना की गई, परन्तु 21 जून, 1939 को इस गणराज्य को तुर्की में मिला दिया गया। सीरिया के विखण्डन की नीति सीरियावासियों के लिए घातक घटना थी। **अतः राष्ट्रवादी विद्रोह पुनः प्रारम्भ हो गए।** स्थिति को देखते हुए फ्रांस ने 10 जुलाई, 1939 ई. को संसद भंग कर सीरिया के प्रशासन संचालन हेतु एक गैर-राजनीतिक निर्देशक परिषद का गठन किया और जेवलड्रूज, लताकिया एवं उत्तरी-पूर्वी प्रान्त जेजीरा के शासन संचालन की नई व्यवस्था की। लेबनान की संसद को द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही भंग कर दिया गया और साथ ही सीरिया पर फ्रांस ने अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित कर लिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध में जून, 1940 ई. में जर्मनी ने फ्रांस को परास्त कर सीरिया में मार्शल नेता के नेतृत्व में एक नई सरकार का गठन कर दिया। इससे ब्रिटेन अत्यधिक चिन्तित हो उठा। उसने जुलाई, 1941 ई. तक सीरिया में अधिकार कर लिया। सीरिया का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से फ्रांस ने 28 सितम्बर, 1941 ई. में घोषित किया, **''सीरिया अब स्वतन्त्र है तथा वह अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।''** लेबनान के विषय में भी

1 **"The revolt had, however, tought the French that it was impossible to hold down Syria indefinitely by Martial Law."**
—Kirk, *A Short History of Middle-East*, p. 166.

26 नवम्बर, 1941 ई. में इसी घोषणा के अनुरूप सन्धि कर ली गई। ब्रिटेन व अमरीका ने सीरिया एवं लेबनान की स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणा को मान्यता दे दी, किन्तु **"गणतन्त्र की स्थापना कर देने के बाद भी फ्रांस ने सीरिया व लेबनान को किसी प्रकार के अधिकार प्रदान करने में शीघ्रता नहीं दिखाई अपितु निरन्तर बहाने बनाता रहा।"**[1] अतः राष्ट्रवादी संघर्ष जारी रहा। 1945 ई. में फ्रांस ने सीरिया एवं लेबनान की स्वतन्त्रता की बात को मानते हुए घोषणा की कि युद्ध-समाप्ति के पश्चात् दोनों राष्ट्रों के विषय में सर्वमान्य हल खोजा जाएगा, परन्तु दूसरी ओर फ्रांस ने अपने सैनिक बेरुत में उतारना प्रारम्भ कर दिया। अतः राष्ट्रवादियों में सनसनी फैल गई। राष्ट्रीय संघर्ष पुनः तीव्र हो गया। इंगलैण्ड ने इस पर चिन्तित होते हुए हस्तक्षेप किया और सीरिया तथा लेबनान में नए गणराज्यों का उदय हुआ और 31 जून, 1945 ई. को एक घोषणा के द्वारा सभी फ्रांसीसी नागरिकों की सीरिया एवं लेबनान में सेवाएं समाप्त कर दी गईं। अब मार्च, 1945 ई. में सीरिया व लेबनान ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1946 ई. के अन्त तक सीरिया एवं लेबनान से संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास से विदेशी सेनाएं भी हटा ली गईं।

इराक में ब्रिटिश शासन का विरोध—इराक में ब्रिटिश मेण्डेट शासन स्थापित होते ही यूफ्रेटस से लेकर बक्ब एवं दियाला से लेकर किफ्री तक भयंकर विद्रोह प्रारम्भ हो गए। **अंग्रेज इस बात को समझ गए कि यदि इराक का शासन किसी ऐसे राजा के हाथ में नहीं दिया गया जिसे वहां की जनता का सम्मान प्राप्त हो, तो क्रान्ति हो सकती है।** अतः 23 अगस्त, 1921 ई. में फैजल को इराक का राजा वनाया गया और अब्दुर्रहमान अल गैलानी इराक के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। इराक में फैजल के राज्याभिषेक का तात्पर्य यह लगाया जाने लगा कि इराक से ब्रिटिश मैण्डेट शासन समाप्त हो गया है, परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं थी। इराक के शासन का अधिपति यद्यपि फैजल को मान लिया गया था, परन्तु राजा को प्रत्येक कार्य करने से पूर्व इराक में स्थिति ब्रिटिश हाई कमिश्नर से राय लेनी होती थी। इराक के विदेश एवं अर्थ विभाग पर इंगलैण्ड का प्रभुत्व स्थापित किया गया। इराक के प्रशासन संचालन हेतु उच्च पदों पर अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति की गई। अतः इराक के राष्ट्रवादियों में इस व्यवस्था के प्रति घोर असन्तोष छा गया। अतः ब्रिटिश सरकार ने इस असन्तोष से मुक्ति पाने के लिए कतिपय सन्धियां कीं। 1922 ई. में एक सन्धि इराक से की गई। इसके अनुसार इराक अपने प्रशासनिक मामलों में परामर्श हेतु अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति करेगा तथा विदेशियों की सुरक्षा करेगा। Lenczowski के अनुसार, **"यह 1922 ई. की सन्धि ब्रिटेन के लिए इराक में दूसरे तरीके से प्रभावकारी रही, किन्तु इराक के लिए कड़वी सिद्ध हुई।"**[2] इराक के राष्ट्रवादी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। अतः संघर्ष की तीव्रता को देख ब्रिटेन ने इराक के साथ 1926 ई. में एक सन्धि की। 14 दिसम्बर, 1927 में ब्रिटेन ने इराक से तृतीय सन्धि की जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि 1932 ई. में इराक को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाये

1 **"Despite this formal emancipation France was neither willing nor ready to transfer major functions of government to the new republics. In consequence, the mood of expectation gradually gave away to one of hostility."**
—Lenczowski, *The Midle-East in World Affair*, p. 322.

2 **"To the Britain, the treaty of 1992 was just another form of control, but properly sugar-coated for the Iraqui taste."** **—Lenczowski, *Ibid*., p. 270.**

जाने में इंगलैण्ड महत्वपूर्ण कदम उठाएगा। 1930 की सन्धि में इसी बात को दोहराते हुए यह कहा गया कि 1932 में इराक में ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाएगा। **इस सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि विदेश नीति के सन्दर्भ में दोनों राष्ट्र एक-दूसरे से परामर्श लेंगे।** युद्ध की स्थिति में ब्रिटेन ने इराक की सहयता का वचन दिया तथा इराक में ब्रिटिश उच्च आयुक्त के स्थान पर अब ब्रिटिश राजदूत रहेगा जो कि इराक के लिए अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों से अधिक विशिष्ट होगा। 1930 ई. की यह सन्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। Lenczowski के शब्दों में, **"यह सन्धि इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि इसने अरब राज्यों के लिए सन्धि पद्धति प्रदान की। 1936 ई. में मिस्र के साथ तथा उसी वर्ष सीरिया एवं लेबनान से क्रमशः ब्रिटिश एवं फ्रांस ने सन्धि की, वे उसी सन्धि पर आधारित थीं।"**[1]

3 अक्टूबर, 1932 को स्थायी संरक्षण आयोग की रिपोर्ट के इराक के पक्ष में न होते हुए भी इराक को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान कर दी गई और इसी समय से इराक में ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया।

मिस्र में ब्रिटिश शासन का विरोध—19वीं सदी के आरम्भ में यद्यपि मिस्र ने तुर्की के ओटोमन साम्राज्य से मुक्ति पाने में सफलता प्राप्त कर ली थी, परन्तु ब्रिटेन ने प्रथम विश्व-युद्ध में मिस्र के शासक के तुर्की का साथ देने के कारण मिस्र की राजनीति में हस्तक्षेप कर 18 दिसम्बर, 1914 से प्रिंस हुसैन कामिल को मिस्र का सुल्तान बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। 1917 ई. में हुसैन कामिल की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई गद्दी पर बैठा, परन्तु अब तक ब्रिटेन का प्रभाव मिस्र में इतना बढ़ गया था कि इस प्रभाव के विरोध में राष्ट्रीय भावनाएं जोर मारने लगी थीं। अतः प्रधानमन्त्री जगलुल के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल पेरिस सम्मेलन में मिस्र की स्वतन्त्र के सन्दर्भ में भाग लेना चाहता था, परन्तु लार्ड कर्जन इस बात के लिए तैयार न था कि प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व जगलुल करे। **जगलुल एवं उसके साथियों को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस पर इराक में विद्रोह की अग्नि जल उठी।** स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए जगलुल व उसके साथियों को अंग्रेजों को छोड़ना ही नहीं पड़ा, अपितु जगलुल को पेरिस शान्ति सम्मेलन में भाग लेने की अनुमति भी देनी पड़ी। इधर अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने मिस्र में ब्रिटेन का संरक्षण शासन स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन इस तथ्य को समझ चुका था कि मिस्र का जनमत उसका विरोधी है। **अतः उसने लार्ड मिल्लर के नेतृत्व में एक आयोग गठित कर उसे मिस्र का संविधान बनाने का कार्य सौंपा।**

आयोग द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था को मिस्र के वापिस्ट दल ने स्वीकार नहीं किया। मिस्र में भयंकर विद्रोह हो गए। ब्रिटिश सरकार ने दंगों को कुचलने का प्रयत्न किया। 1936 ई. तक मिस्र में विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने-अपने स्तर से मिस्र की स्वतन्त्रता के प्रयत्न किए, परन्तु सब असफल हो गए। अतः 1936 ई. में मिस्र के सभी राजनीतिक दलों ने एक-साथ मिलकर मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का गठन किया। इस मन्त्रिमण्डल के प्रयत्नों से 26 अगस्त, 1936 ई. को मिस्र एवं इंगलैण्ड के मध्य एक सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार स्वेज नहर क्षेत्र को छोड़कर मिस्र के शेष स्थानों पर ब्रिटेन के अधिकार का अन्त हो गया,

---

1 "This treaty was of great importance because it set the pattern for other treaties with Arab Countries. Britain's treaty with Egypt in 1936 and France's treaties with Syria and Lebanan in the same year followed the Iraqui treaty in their major provisions." —*Ibid.*, p. 272.

परन्तु 20 वर्ष की अवधि के लिए मिस्र में ब्रिटेन के 10 हजार सैनिक रहने की व्यवस्था की गई। दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की सहायता करेंगे।

1939 ई. में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते ही मिस्र ने सन्धि का अनुपालन करते हुए जर्मनी से राजनयिक सम्बन्ध तोड़ते ही ब्रिटेन की सहायता से मिस्र की किलेबन्दी आरम्भ कर दी, परन्तु 1942 ई. के अल-अलामी के युद्ध में इंगलैण्ड की विजय ने इस खतरे का अन्त कर दिया, परन्तु अब मिस्र की सत्ता जर्मनी के हाथ में थी। उसने युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटिश सेना को मिस्र से हटाने के लिए राष्ट्रवादियों का साथ देना आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही मिस्र से ब्रिटिश फौजों को हटाने में सफलता प्राप्त की और मिस्र के आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा में कदम उठाए।

फिलिस्तीन में ब्रिटिश संरक्षण एवं फिलिस्तीन की समस्या
(BRITISH MANDATE IN PALESTINE AND PROBLEM OF PALESTINE)

मध्य-पूर्व की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका रखने वाला फिलिस्तीन **'सभ्यताओं का पालना'** (Cradle of Civilization) कहलाता है, इसका मुख्य कारण यह है कि यह स्थल विश्व के तीन प्रमुख धर्मों—ईसाई, यहूदी व इस्लाम की पवित्र भूमि रहा है, परन्तु स्वेज नहर पर स्थित यह स्थल आज भी विश्व राजनीति में अरबों एवं यहूदियों के जीवन-मरण का प्रश्न बना हुआ है। **अरबों एवं यहूदियों दोनों के इस स्थल पर अपने-अपने आधिपत्य के दावे एवं पश्चिमी देशों के मध्य-पूर्व में निहित स्वार्थों के कारण अरबों एवं यहूदियों में जो संघर्ष अव भी जारी है, उसे 'फिलिस्तीन की समस्या' के नाम से जाना जाता है।**

राष्ट्र संघ द्वारा प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् फिलिस्तीन का संरक्षण ब्रिटेन को सौंप दिया, साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि वहां पर यहूदियों के लिए एक नेशनल होम की स्थापना की जाएगी। राष्ट्र संघ की इस व्यवस्था के अनुपालन में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन में यहूदियों को बसने में सहायता की, किन्तु ब्रिटेन ने वहां पर एक ऐसी कौंसिल का निर्माण भी किया जिसमें फिलिस्तीन में निवास करने वाले सभी वर्गों के लागों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इनके लिए 22 प्रतिनिधियों वाली एक विधानसभा का गठन होना था जिसमें 12 सदस्यों का चुनाव होना था। इन 12 सदस्यों में 8 मुसलमान, 2 ईसाई एवं 2 यहूदियों की व्यवस्था की गई थी। 10 सदस्य मनोनीत होने थे। अरब लोग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। वे फिलिस्तीन को अरब देश के रूप में स्वीकार करते थे। अतः उन्होंने इस व्यवस्था का विरोध किया। शीघ्र ही विरोध एक विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के रूप में सामने आया।

फिलिस्तीन की समस्या के कारण
(CAUSES OF THE PROBLEM OF PALESTINE)

(1) यहूदियों का पुनरुत्थान एवं उनके दावे—प्राचीन काल में फिलिस्तीन यहूंदियों का घर था। यहूदी यहां के मूल निवासी थे, परन्तु कालान्तर में अरबों के द्वारा फिलिस्तीन पर आधिपत्य स्थापित कर लिया गया। अरव शासकों के शोषण के कारण उन्हें फिलिस्तीन को छोड़कर विश्व के विभिन्न देशों में पलायन के लिए विवश होना पड़ा था, किन्तु विश्व के विभिन्न देशों में भी उन्हें अत्यन्त शोषण एवं अपमान का सामना करना पड़ा। **यहूदियों में इससे राष्ट्र भावना का विकास हुआ।** वे अपने प्राचीन मूल निवास स्थल फिलिस्तीन लौटने लगे। 19वीं शताब्दी में हजारों की संख्या में यहूदी फिलिस्तीन आकर बस गए। इस समय फिलिस्तीन

पर तुर्की के सुल्तान का शासन था। 1914 ई. तक फिलिस्तीन में लगभग 80,000 यहूदी बस गए थे। यहूदी फिलिस्तीन को यहूदी राष्ट्र के रूप में स्थापित करने के इच्छुक थे। उनका विचार था कि फिलिस्तीन ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसे यहूदी राष्ट्र बनाया जा सकता है। वे फिलीस्तीन को अपना मूल निवास स्थान मानने के कारण स्वतः को वहां लौटने का अधिकारी मानते थे। यह ठीक है कि यहूदी संस्था के संस्थापक थियोडोर हर्जल (Theodor Herzel) की मूल इच्छा फिलिस्तीन को यहूदी राष्ट्र बनाने की नहीं थी, परन्तु अधिकांश यहूदी फिलिस्तीन को ही अपना राष्ट्र बनाना चाहते थे। बाल्फोर घोषणा (1917) ने उनकी इस आशा को और अधिक वजन प्रदान कर दिया। ब्रिटेन एवं अन्य पश्चिमी शक्तियों ने मध्य-पूर्व में रूसी प्रभाव को रोकने के लिए घोशित किया, "**हिज मैजेस्टी की सरकार फिलिस्तीन में यहूदियों के राष्ट्रीय गृह की स्थापना को उचित मानती है और इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने सर्वश्रेष्ठ प्रयत्न करेगी। यहां यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि कोई ऐसा काम नहीं किया जाएगा जिससे फिलिस्तीन में गैर यहूदियों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों पर कोई आंच आए अथवा जिसमें अन्य देशों में यहूदियों के अधिकारों एवं राजनीतिक स्थिति पर कोई प्रभाव पड़े।**"[1] अमरीका ने इस घोषणा-पत्र को प्रकाशित होने से पूर्व ही मान्यता प्रदान कर दी थी। इस प्रकार यहूदियों के दावों को एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त हो गया।

(2) **अरबों की प्रतिक्रिया एवं उनके दावे**—अरबों ने सातवीं शताब्दी में फिलिस्तीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और यहां पर अपनी सभ्वता एवं संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी थी। अतः यह तो स्वाभाविक ही था कि जिस क्षेत्र को अरबों ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से सींचकर पुष्पित एवं पल्लवित किया था, उस क्षेत्र से उन्हें हटाने के प्रयत्नों का वे विरोध करते। अरबों के साथ इस क्षेत्र के प्राचीन निवासी भी घुल-मिल गए थे। अरबों की अपेक्षा यहूदी अधिक निर्धन थे। यहूदियों ने फिलिस्तीन में जमीनें खरीद ली थीं और धीरे-धीरे वहां के व्यापार पर भी अपना प्रभुत्व कायम करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे अरवों में गरीबी एवं बेरोजगारी उत्पन्न हो गई। **इसके लिए उन्होंने यहूदियों का उत्तरदायित्व माना।** इधर दूसरी ओर प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की के सुल्तान द्वारा जर्मनी के पक्ष में मित्र राष्ट्रों का जो साथ दिया था, उसके विरोध में अरबों ने इस शर्त पर तुर्की के सुल्तान का विरोध किया था कि विश्व-युद्ध के पश्चात् मित्र राष्ट्र अरवों को स्वतन्त्रता प्रदान करेंगे। **इस प्रश्न में फिलिस्तीन में बसे अरबों की स्वतन्त्रता भी शामिल थी।** अव जब कि यहूदी फिलिस्तीन में अपने दावे पेश कर रहे थे और मध्य-पूर्व की राजनीति में पश्चिमी देशों में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए यहूदी राष्ट्र की बात बाल्फोर घोषणा की तो अरबों का विरोध करना निःसन्देह स्वाभाविक ही था।

(3) **ब्रिटेन के स्वार्थ**—फिलिस्तीन का ब्रिटेन के लिए अत्यन्त महत्व था। इराक एवं अरब का तेल फिलिस्तीन के मार्ग से पाइप द्वारा ही वाहर लाया जा सकता था। **फिलिस्तीन की भौगोलिक स्थिति भी अत्यन्त महत्व रखती थी।** रूस की वोल्शेविक क्रान्ति ने इस महत्व को

1 "His majesty's government view with favour the establishment in Palestine of a national home for the Jewish people, and will use their best endeavours to facilitate the achievement of their object, it being clearly understood that nothing shall be done which may prejudice the civil and religious rights of existing non-Jewish communities in Palestine of the rights and political status enjoyed by the Jews in any other country." —*Balfour Declaration*

और अधिक बढ़ा दिया। ब्रिटेन जैसे पश्चिमी देश मध्य-पूर्व में साम्यवादी प्रसार की भावी सम्भावना से भयभीत हो गए थे। प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की की सेना के स्वेज नहर तक पहुंच जाने के कारण स्वेज नहर का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था। तुर्की को फिलिस्तीन का स्वामी बनाकर भी ब्रिटेन के लिए खतरा तो था ही, दूसरी ओर अब फ्रांस भी सीरिया में अपने विशेषाधिकारों का दावा पेश करने लगा था। अतः इंगलैण्ड के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह स्वेज नहर पर अपनी स्थिति को मजबूत करते हुए सीरिया में फ्रांसीसी उपनिवेश तथा अपने बीच एक बफर राज्य (Buffer state) को स्थापित करे। **यह कार्य वह आसानी से यहूदियों के दावे को समर्थन देकर फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्र स्थापित करके कर सकता था।**

इस प्रकार अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं 20वीं शताब्दी में सऊदी अरब में तेल के क्षेत्रों की खोज ने इस समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप प्रदान कर दिया। इसी कारण हाल एवं डेविज ने ठीक ही लिखा है, "**20 वर्ष के युद्ध विराम में फिलिस्तीन की समस्या अत्यधिक भ्रमपूर्ण, तीव्र तथा परस्पर विरोधात्मक थी।**"[1]

फिलिस्तीन की समस्या को सुलझाने के प्रयास
(EFFORTS TO SOLVE THE PLAESTINE PROBLEM)

फिलिस्तीन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्व स्थापित होते ही पश्चिमी शक्तियों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बना लिया। दूसरी ओर यहूदी नेता थियोडोर हर्जल भी इस समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाकर ही हल सम्भव मानता था। उसने 1896 में लिखी अपनी पुस्तक **'यहूदी राज्य'** में स्पष्ट कहा था कि, "**यहूदी प्रश्न एक राष्ट्र का प्रश्न है और विश्व राजनीति की समस्या बनाकर ही इसका समाधान किया जा सकता है।**"[2] यहूदी नेताओं को बाल्फोर घोषणा से जो बल प्राप्त हुआ था, स्वाभाविक रूप से वह अब अपनी समस्या के समाधान हेतु अमरीका एवं इंगलैण्ड के प्रति आकर्षित हुए। इंगलैण्ड एवं अमरीका के लिए इसमें उत्तम बात अब क्या हो सकती थी। अतः अब फिलिस्तीन की समस्या के समाधान का पूर्ण दायित्व इंगलैण्ड व अमरीका ने अपने ऊपर ले लिया और 1919 ई. के पेरिस सम्मेलन में फिलिस्तीन पर **ब्रिटिश संरक्षण** (British Mandate) कायम करने का निश्चय किया गया। जुलाई 1922 ई. में राष्ट्र संघ ने प्रस्ताव को स्वीकार कर फिलिस्तीन को ए वर्ग का ब्रिटिश संरक्षण शासन प्रदान किया। **ब्रिटेन का संरक्षण फिलिस्तीन में कायम होना था कि यहूदियों का तांता फिलिस्तीन में लगने लगा।** इससे अरबों ने रुष्ट होकर व्यापक स्तर पर दंगे प्रारम्भ कर दिए। अनेक यहूदी कत्ल कर दिए गए। फिलिस्तीन में अव्यवस्था फैल गई। अब यहूदी-अरब संघर्ष की गम्भीरता को देख **ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या के समाधान हेतु निम्नलिखित कार्य किए :**

(1) चर्चिल श्वेत पत्र की घोषणा (1922 ई.)—1922 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र (white paper) जारी किया। चर्चिल श्वेत पत्र के नाम से प्रसिद्ध इस पत्र में कहा गया कि, "**जिस प्रकार इंगलैण्ड अंग्रेजों का है, वैसे ही फिलिस्तीन यहूदियों का है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यहां अरब संस्कृति को समाप्त कर दिया जाए। यह ठीक है कि**

1 "The history of Palestine during the twenty-year's armistice between the two European was confused, hetic and contradictory." —*Hall and Davies*

2 "The Jewish question is a national question which can be solved only by making it a political question to be discussed and settled by the world council." —Herzel, *The Jewish State*, p. 38.

यहां पर यहूदियों को बसाया जाना चाहिए, परन्तु उनकी संख्या का प्रभाव यहां की अर्थव्यवस्था पर न पड़े, यह ध्यान रखना होगा।" श्वेत पत्र प्रकाशित होने से अगले 6 वर्षों तक कुछ शान्ति बनी रही, परन्तु यह शान्ति स्थायी न रह सकी।

(2) शॉ कमीशन और 1930 ई. का श्वेत पत्र—1929-30 ई. के आर्थिक संकट एवं जर्मनी में हिटलर की यहूदी विरोधी नीति ने यहूदियों को फिलिस्तीन की ओर जाने के लिए प्रेरित किया। फिलिस्तीन में पहले से ही यहूदी आकर लगातार बस रहे थे। अब तो उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ने लगी। अतः अरबों ने इसे अपने ऊपर संकट समझकर पुनः जेहाद छेड़ दिया। ब्रिटिश सरकार ने दंगों की जांच के लिए एक शॉ कमीशन नियुक्त किया। इस आयोग ने फिलिस्तीन में यहूदियों की बढ़ती संख्या की आलोचना की। अतः ब्रिटिश सरकार ने 1930 ई. में एक श्वेत पत्र जारी किया जिसमें ब्रिटिश सरकार ने गैर-यहूदियों के प्रति अपने कुछ उत्तरदायित्वों की घोषणा की और फिलिस्तीन में भूमि में क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण की बात कही गई, परन्तु यह व्यवस्था कभी भी लागू न की जा सकी। अतः संघर्ष जारी रहा।

(3) पील आयोग का गठन—यहूदी संगठन एवं यहूदी एजेन्सी की ओर से डॉ. वाइजमान ने ब्रिटिश सरकार से 1929 में यह मांग की कि फिलिस्तीन में यहूदियों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा होनी चाहिए और फिलिस्तीन की सुरक्षा सेना में यहूदी पर्याप्त संख्या में भर्ती किए जाएं। इस पर अरब प्रतिनिधि मण्डल ने अपना दावा पेश करते हुए ब्रिटिश सरकार से मांग की कि सरकार को फिलिस्तीन में यहूदियों के आगमन पर रोक लगाते हुए अरब भूमि की अखण्डता की घोषणा करनी चाहिए और जनसंख्या के आधार पर एक प्रतिनिधि लोकतन्त्रात्मक सरकार की स्थापना हो। ब्रिटिश सरकार द्वारा इन मांगों पर विशेष ध्यान न दिये जाने से 1936 ई. तक फिलिस्तीन में दंगों का हिंसात्मक दौर अत्यन्त गम्भीर स्थिति में पहुंच गया। अतः ब्रिटिश सरकार को एक आयोग गठित करना पड़ा जिसे पील आयोग कहा जाता है। फिलिस्तीन का व्यापक भ्रमण करने के पश्चात् पील आयोग ने रिपोर्ट दी कि, **"कोई भी जाति सम्पूर्ण फिलिस्तीन में शासन नहीं कर सकती, केवल उसके एक भाग पर ही शासन कर सकती है। वहां पर शान्ति स्थापित करने के लिए बंटवारे के अतिरिक्त और कोई योजना सफल नहीं हो सकती।"**[1] रिपोर्ट में फिलिस्तीन को यहूदी राज्य, अरब राज्य एवं मध्यवर्ती राज्य के रूप में तीन भागों में विभक्त करने का प्रस्ताव दिया गया। इस प्रस्ताव को ब्रिटिश सरकार ने तो स्वीकार कर लिया, परन्तु यहूदियों एवं अरबों ने घोर विरोध किया। आयोग के प्रस्ताव के विरोध में अरब आतंकवाद का नग्न दृश्य फिलिस्तीन में छा गया। ब्रिटिश सरकार ने दमन चक्र के असफल हो जाने पर मामला राष्ट्र संघ के सम्मुख रखा। राष्ट्र संघ ने सर जॉन वुडहेड की अध्यक्षता में मामले पर विचार हेतु एक कमीशन नियुक्त किया जिसने इस समस्या पर विचार हेतु लन्दन में गोलमेज सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया।

(4) लन्दन में गोलमेज सम्मेलन—फरवरी 1939 ई. में लन्दन में गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें अरबों एवं यहूदियों ने अपने-अपने दावे पेश किए तथा प्रस्ताव रखे। दोनों ने एक-दूसरे के प्रस्ताव का विरोध किया। अतः मई 1939 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र जारी किया जिसमें यह घोषणा की गई कि 1949 ई. में फिलिस्तीन को

1 **"Neither race can fairly rule all Palestine each race might justly rule part of it. Partition offers a change of ultimate peace. We can see none in any other plan."**
—Report of Peel Commission

पूर्ण स्वतन्त्र राज्य बना दिया जाए और 1954 तक वहां 75,000 से अधिक यहूदी न बसें। जहां तक यहूदियों के जमीन क्रय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में ब्रिटिश उच्च आयुक्त को कानून निर्माण का अधिकार दिया जाए। **इस प्रस्ताव का यहूदी एवं अरबों दोनों ने विरोध किया।** इसी बीच द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने से फिलिस्तीन की समस्या शान्त रही।

(5) **आंग्ल-अमरीकी संयुक्त समिति**—द्वितीय विश्व-युद्ध में अरबों का सहयोग पाने के लिए इंगलैण्ड ने अपनी नीति में परिवर्तन कर अरबों का पक्ष लिया और फिलिस्तीन में यहूदियों के आगमन पर रोक लगा दी, परन्तु इंगलैण्ड को अमरीका के इस अनुरोध पर कि यूरोप में विस्थापित यहूदियों को आने दिया जाए, झुकना पड़ा। अतः समस्या पर विचार हेतु आंग्ल-अमरीका संयुक्त समिति का गठन हुआ। समिति ने 1 मई, 1946 में रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें कहा गया कि **"राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित मेण्डेट व्यवस्था अरब-यहूदी संघर्ष समाप्त होने तक समाप्त नहीं की जानी चाहिए। फिलिस्तीन में नाजी अत्याचारों से विस्थापित यहूदियों को बसाया जाए तथा यहूदियों के भूमि क्रय पर लगे प्रतिबन्ध शिथिल कर कानून व्यवस्था की स्थापना हेतु प्रत्येक हर साधन का प्रयोग किया जाए।"** इस प्रस्ताव को ब्रिटेन के लिए मानना कठिन हो गया, अतः उसने 14 फरवरी, 1947 को मामला संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिया।

(6) **संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास एवं इजरायल का जन्म**—संयुक्त राष्ट्र संघ में अप्रेल 1947 ई. में समस्या पर विचार किया गया। विचार-विमर्श के पश्चात् यह घोषणा की गई कि फिलिस्तीन से ब्रिटिश संरक्षण समाप्त कर वहां अरब एवं यहूदी अलग-अलग राष्ट्र बनाए जाएं। इंगलैण्ड ने मई 1948 ई. में फिलिस्तीन छोड़ दिया। **इधर रूस व अमरीका ने फिलिस्तीन विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया, परन्तु अरबों ने यहूदी राज्य की स्थापना का विरोध किया।** विरोध की परवाह न कर 14 मई, 1948 ई. को **यहूदी राज्य इजरायल** की घोषणा कर दी। अमरीका, पश्चिमी देशों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसे मान्यता दे दी। इस प्रकार यहूदियों की राष्ट्रीय आवास की मांग पूर्ण हुई।

इजरायल के जन्म के पश्चात् फिलिस्तीन समस्या
(PROBLEMS OF PALESTINE AFTER BIRTH OF ISRAEL)

14 मई, 1948 ई. में इजरायल की घोषणा तो हो गई, परन्तु इसे अरबों ने स्वीकार नहीं किया। सीरिया, लेबनान, ट्रांस जार्डन तथा मिस्र ने संयुक्त रूप से इजरायल पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में अरब पराजित हुए। यहूदियों ने इजरायल की सीमाओं का विस्तार कर लाखों अरबों को अपनी सीमा में बाहर खदेड़ दिया। अरबों ने अल फतह, फेदायीन, ब्लेक सेप्टेम्बर, आदि संगठनों का गठन कर **'फिलिस्तीन अरबों का है'** यह नारा दिया और इजरायल के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। इधर मिस्र में कर्नल गमाल अब्दुल नासिर ने सत्ता अपने हाथ में लेकर सैन्यवादी शासन स्थापित कर लिया। **अब्दुल नासिर ने 1956 में स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया।** इससे इंग्लैण्ड एवं फ्रांस गम्भीर रूप से प्रभावित हुए, क्योंकि स्वेज नहर में उनके अंशधारी (Shareholders) थे। अतः इंगलैण्ड व फ्रांस ने संयुक्त रूप से मिस्र पर आक्रमण कर दिया। युद्ध सोवियत संघ के हस्तक्षेप के पश्चात् बन्द हुआ, परन्तु अब मिस्र ने इजरायल के विरुद्ध सैन्य शस्त्रों का संग्रह प्रारम्भ कर दिया। जून, 1967 ई. में इजरायल ने मिस्र, सीरिया एवं जार्डन पर आक्रमण कर जेरुसलम तक अपनी सीमाएं बढ़ा लीं और सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप, गाजापट्टी तथा जार्डन नदी के पश्चिमी भाग पर अधिकार

कर लिया। इस प्रकार अरबों के तीनों प्रयत्न असफल रहे। अतः 1964 ई. से सम्बन्धित अरब राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्षों और अरब लीग ने फिलिस्तीनियों को एक केन्द्र में बांधने के लिए **'फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन'** (P. L. O.) का गठन किया, जिसका नेतृत्व **यासर अराफात** पर सौंपा गया। कर्नर नासिर के पश्चात् मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात थे अरब देशों को एक सूत्र में बांधकर 6 अक्टूबर, 1971 ई. में इजरायल पर आक्रमण कर दिया। अन्ततः मिस्र व इजरायल के बीच **कैम्प डेविड नामक** समझौता (18-19 जुलाई, 1978) हुआ। इस समझौते में सिनाई प्रायद्वीप मिस्र को लौटाने, जार्डन नदी के पश्चिमी तट और गाजापट्टी पर निवास करने वाले लोगों को स्वायत्तता प्रदान करने और मिस्र तथा इजरायल के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने सम्बन्धी प्रावधान थे। **अरब देशों ने इस समझौते को अपना अपमान समझकर मिस्र का विरोध किया।** अनवर सादात की हत्या कर दी गई। इस प्रकार कैम्प डेविड समझौते को नकारने का तात्पर्य यह था कि मिस्र व इजराइल के बीच अन्तिम शान्ति सन्धि न हो सकी।

अब फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (P. L. O.) पर जिसका नेतृत्व यासर अराफात कर रहे हैं, अरब संघर्ष का बोझ डाल दिया गया। यासर अराफात के आतंकवादी कृत्यों ने विश्व को झकझोर कर तो रख ही दिया, साथ ही मध्यममार्गी फिलिस्तीनी उनसे अलग हो गए। **अराफात ने इसकी परवाह न कर 15 नवम्बर, 1988 ई. में अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में इजरायल अधिकृत क्षेत्रों, गाजापट्टी, पश्चिम तट और जेरुसलम को लेकर नए फिलिस्तीन राष्ट्र की घोषणा कर दी जिसकी सरकार गणतन्त्रात्मक संसदीय प्रणाली वाली होगी।** भारत ने इस नए राष्ट्र को मान्यता दे दी है। अराफात ने भी अपना अड़ियल रवैया छोड़कर इजरायल के अस्तित्व को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पारित प्रस्ताव संख्या 242 के अनुसार स्वीकार कर लिया है, परन्तु इजरायल ने यासर अराफात द्वारा घोषित इस नए राष्ट्र को इस भय से अभी तक मान्यता नहीं दी है कि नव गठित फिलिस्तीन राष्ट्र इजरायल की स्वतन्त्रता के लिए संकट बन सकता है। अतः संघर्ष अभी जारी है।

अरब राष्ट्रवाद
(ARAB NATIONALISM)

अरब जगत से तात्पर्य उस विशाल भू-भाग से है जो कि पूरब में फारस की खाड़ी, पश्चिम में लाल सागर, उत्तर में भूमध्यसागर एवं दक्षिण में हिन्दसागर से घिरा है। जहां एक ओर इस विस्तृत भूभाग में इराक, जार्डन, फिलिस्तीन, सीरिया, लेबनान, आदि एशियाई राष्ट्र आते हैं, वहीं दूसरी ओर मिस्र, लीबिया, ट्यूनिशिया एवं मोरक्को जैसे अफ्रीकी राष्ट्र भी सम्मिलित हैं। **प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तक लगभग सम्पूर्ण अरब जगत ओटोमन साम्राज्य का अंग था।** यह ठीक है कि अरबों ने कभी भी तुर्की की अधीनता दिल से स्वीकार नहीं की, परन्तु वे इस अधीनता के विरोध में 18वीं शताब्दी के अन्त तक कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा सके। स्पष्ट है कि इस समय तक अरब राष्ट्रवाद की भावना सुषुप्त रही, परन्तु 19वीं एवं 20वीं शताब्दियों में अरब राष्ट्रवाद हिलोरें मारने लगा। अरबों ने ओटोमन साम्राज्य का विरोध खुलकर करना ही प्रारम्भ नहीं किया, अपितु प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का भी जमकर विरोध किया।

अरब राष्ट्रवाद के उदय के कारण
(CAUSES OF THE RISE OF THE ARAB NATIONALISM)

अरब राष्ट्रवाद के उदय के कारणों को निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :

(1) **पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव**—अरब राष्ट्रवाद के उदय के मूल में पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं सदी में अरब में अनेक ईसाई पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार हेतु सामाजिक सुधार एवं शिक्षा पर जोर दिया। इराक, ईरान एवं मिस्र में विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। 1966 ई. में सीरियन प्रोटेस्टेण्ट कालेज, 1875 ई. में बेरुत में **'यूनिवर्सिते द सां जोसेफ'** की स्थापना हुई। अंग्रेजी, फ्रेंच एवं लैटिन, आदि भाषाओं में शिक्षा दिए जाने से पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन किया। मिस्र, सीरिया, इराक, ईरान एवं लेबनान, आदि से जो विद्यार्थी अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड, आदि देशों में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे, वे वहां की संस्कृति एवं सभ्यता से प्रभावित होकर लौटे तो उन्होंने अपने देश की शिक्षा व्यवस्था में रचनात्मक सुधारों पर जोर दिया। यूरोपियन रहन-सहन, ज्ञान-विज्ञान से अरबवासी प्रभावित हुए। उन्हें एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ।

यही नहीं, पाश्चात्य मिशनरियों ने अनेक प्रेसों की स्थापना मध्य-पूर्व में की। सीरिया, लेबनान, तेहरान में फ्रांसीसी मिशनरियों ने छापेखाने खोले। इससे प्रशासन का कार्य सुगम हो गया। मिस्र से **'अल वाकयाए अल मिस्रिया'** नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। अलबुस्तानी ने अरब भाषा में शब्दकोश लिखा। इस प्रकार शिक्षा के प्रसार नें अरबवासियों में राष्ट्रीयता की भावना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

(2) **बहावी आन्दोलन का प्रभाव**—इस्लाम में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए 'मुहम्मद इल अब्दुल बहाव' के नेतृत्व में एक आन्दोलन चलाया गया जिसे बहावी आन्दोलन कहा जाता है। इस आन्दोलन ने अरबों में राष्ट्रीयता की भावना भरकर नई जागृति उत्पन्न कर दी।

(3) **यहूदियों के प्रति घृणा**—19वीं शताब्दी में विश्व के विभिन्न भू-भागों से भागकर यहूदी इस भावना से प्रेरित होकर कि वे फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्र का निर्माण करेंगे, आए। यहूदियों के फिलिस्तीन आगमन से फिलिस्तीन की अर्थव्यस्था पर तो प्रभाव पड़ा ही, अब अरबों ने अपने अस्तित्व के लिए इसे खतरा महसूस किया। अतः सम्पूर्ण अरब जगत में यहूदियों के प्रति रोष उत्पन्न हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण अरब यहूदियों के फिलीपीन्स से निष्कासन के विषय में एकमत हो गया।

(4) **तुर्की की शोषण की प्रवृत्ति**—प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व सम्पूर्ण अरब जगत पर तुर्की का आधिपत्य था। तुर्की ने अरब राष्ट्रों का पर्याप्त शोषण किया था। द्वितीय विश्व-युद्ध में पश्चिमी देशों ने तुर्की की जिस प्रकार सहायता की थी, उससे अरब राष्ट्रों ने इसे अपने हित में खतरा समझा। अतः सभी अरब राष्ट्र तुर्की के विरोध में एकजुट हो गए।

(5) **सांस्कृतिक समानता**—सम्पूर्ण अरब राष्ट्रों की भाषा एक थी। वे अरबी का प्रयोग करते थे। भाषा की समानता ने उन्हें एक-दूसरे के नजदीक लाने में पर्याप्त सहायता की। धर्म की दृष्टि से भी वे समान थे। उनकी अर्थव्यवस्था एक-दूसरे पर निर्भर थी। यदि एक राष्ट्र में तेल के कुएं थे तो वहां का तेल दूसरे राष्ट्रों से गुजरने वाली पाइप लाइन के सहारे समुद्र तट तक पहुंचता था। इससे अरबों में एकता की भावना को जन्म मिला।

(6) गुप्त समितियों का सहयोग—अरब राष्ट्रवाद के विकास में गुप्त समितियों का योगदान महत्वपूर्ण है। 1875 ई. में पांच अरब युवकों ने मिलकर एक गुप्त संगठन बनाया था और वे गुप्त रूप से अरब में राष्ट्रीयता का प्रसार करने लगे थे। सीरिया तथा लेबनान में **'अलईखा'** एवं **'अलअरबी अलउथमानी'** नामक समितियों का गठन हुआ। इराक में 'अहद' नामक गुप्त समिति ने तो जनता ही नहीं, सैनिकों को भी प्रभावित किया था।

(7) कर्नर नासिर का योगदान—ओटोमन साम्राज्यवाद के चंगुल से छूटने के पश्चात् जिस प्रकार विभिन्न अरब राष्ट्र पाश्चात्य देशों के चंगुल में फंस गए थे उसके विरोध में कर्नल नासिर ने मिस्र में जबरदस्त आवाज उठाई और मिस्र से ब्रिटिश सेना को बाहर निकाला। उससे अनेक अरब राष्ट्रों में स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

अरबों का राष्ट्रीय संघर्ष
(NATIONAL STRUGGLE OF THE ARABS)

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तक लगभग सम्पूर्ण अरब जगत ओटोमन साम्राज्य का अंग था, परन्तु अरब जगत के निवासियों में न तो तुर्की के ओटोमन साम्राज्य के प्रति निष्ठा ही थी और न ही भक्ति। प्रथम विश्व-युद्ध के समय जब तुर्की ने मित्र राष्ट्रों के विरोध में जर्मनी का साथ दिया तो इसका लाभ उठाने के लिए अंग्रेजों ने अरबों को तुर्की के सुल्तान के विरोध में भड़काया। राष्ट्रीय भावनाओं से अरब जगत अब तक हल्के-हल्के आन्दोलित हो चुका था। **अतः अरबों ने तुर्की के विरुद्ध मक्का में शरीफ हुसैन इब्न अली के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया।** विद्रोह का पूर्ण लाभ मित्र राष्ट्रों ने उठाया, परन्तु अरबों की भावनाओं का जरा भी ख्याल न करते हुए उन्होंने युद्ध के दौरान **साइक्स-पिकौट समझौता** किया। इस समझौते के अनुसार इराक का मोसुल जिला एवं सीरिया पर फ्रांस का अधिकार मान लिया गया। ब्रिटेन का दावा इराक के क्षेत्र, फारस की खाड़ी से लेकर फ्रांसीसी क्षेत्र तक के इलाके को फिलिस्तीन में मान लिया गया। रूस का दावा कान्स्टेन्टीनोपुल तथा अनातोलिया में मान लिया गया। यही नहीं, इंग्लैण्ड ने 2 नवम्बर, 1917 ई. को बाल्फोर घोषणा कर अरबों के विरोध में यहूदियों का पक्ष लिया। शरीफ हुसैन ने इस घोषणा का जबरदस्त विरोध किया, परन्तु ब्रिटिश राजदूत जार्ज होगार्ल ने जनवरी 1918 ई. में उससे मुलाकात पर यह विश्वास दिलाया कि इस घोषणा से फिलिस्तीन निवासियों के राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अतः अरब लोग ओटोमन साम्राज्य का निरन्तर विरोध करते रहे। राष्ट्रवादियों ने हेजाज में सफलता प्राप्त कर ली। शरीफ हुसैन हेजाज का राजा बन गया। लाल सागर के बन्दरगाह अकाबा एवं सीरिया पर जुलाई 1917 तक राष्ट्रवादियों का अधिकार हो गया।

युद्ध के पश्चात् होने वाले शान्ति सम्मेलन में शरीफ हुसैन के पुत्र फैजर ने हेजाज के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया और राष्ट्रपति विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर अरब राष्ट्रों की स्वतन्त्रता की मांग की। मित्र राष्ट्र एक ओर तो अरबों से युद्ध के पश्चात् उनकी स्वतन्त्रता का दावा स्वीकार कर चुके थे, परन्तु दूसरी ओर साइक्स-पिकौट समझौता भी कर चुके थे। दोनों कार्य एक साथ हो सकना बड़ा दुष्कर लगता था, परन्तु अफ्रीका के राजनेता जनरल स्टमस ने संरक्षण प्रणाली (Mandate System) का मार्ग बतलाकर मित्र राष्ट्रों की उलझन को आसान कर दिया। अतः अप्रेल 1920 ई. की सैनरेमो की सन्धि के

द्वारा इंग्लैण्ड एवं फ्रांस ने पश्चिमी एशिया का संरक्षण प्राप्त किया। सेव्रे की सन्धि के अनुसार तुर्की के सुल्तान ने मैण्डेट व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सीरिया का संरक्षण ब्रिटेन को मिला। हेजाज को स्वतन्त्र माना गया। लार्ड कर्जन ने 1920 ई. में लार्ड सभा में इस विषय में ठीक ही कहा था कि, **"संरक्षण पद्धति के नाम पर मित्र राष्ट्रों ने ओटोमन साम्राज्य का बंटवारा कर लिया है।"**[1] इस प्रकार युद्ध के पश्चात् अरब जगत पर पश्चिमी देशों का शिकंजा स्थापित हो गया। अतः अब राष्ट्रवादी नेताओं को ओटोमन साम्राज्य के स्थान पर पश्चिमी शक्तियों का सामना करना था।

अरब-इजरायल संघर्ष
(ARAB-ISRAEL CONFLICT)

14 मई, 1948 ई. को यहूदी राज्य इजरायल की घोषणा हुई जो अरब-राष्ट्रों के लिए एक तीव्र आघात था। अतः अरब राष्ट्रों ने तुरन्त इजरायल पर आक्रमण कर दिया।

प्रथम अरब-इजरायल युद्ध (First Arab-Israel War)—इजरायल की स्थापना किए जाने को अरब राष्ट्र स्वीकार न कर सके और अनेक अरब देशों ने तत्काल इजरायल पर आक्रमण कर दिया। इजरायल पर आक्रमण करने वाले राष्ट्रों ने मिस्र, इराक, जोर्डन व सीरिया प्रमुख थे। इस युद्ध में इजरायल के सैनिकों ने असाधारण वीरता का परिचय दिया व प्रत्येक स्थान पर अरब सैनिकों का अत्यन्त साहस से सामना किया। परिणामस्वरूप, इस युद्ध में इजरायल की विजय हुई व उसने अरबों के विशाल क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया। इस युद्ध का अन्त, अन्ततः, संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) के हस्तक्षेप से हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1949 ई. में दोनों पक्षों के मध्य समझौता कराया, जिसके परिणामस्वरूप—

(i) जेरूसलम को दो भागों में बांट दिया गया। बड़ा भाग इजरायल को व छोटा भाग जोर्डन को दे दिया गया।

(ii) गाजा पट्टी पर मिस्र का अधिकार बना रहा।

इस प्रकार अरब राष्ट्रों का इजरायल को समाप्त करने का सैनिक प्रयास असफल हो गया।

इजरायल पर आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic Restrictions upon Israel)—प्रथम युद्ध में असफल हो जाने पर अरब राष्ट्रों ने इजरायल पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर उसे आत्मसमर्पण करने का प्रयास किया। इस दिशा में अरब राष्ट्रों ने निम्नलिखित कार्य किए—

(i) सभी अरब देशों ने इजरायल से व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त कर दिए।

(ii) इराक ने इजरायल को पेट्रोल देना बन्द कर दिया।

(iii) स्वेज नहर को इजरायल के लिए बन्द कर दिया गया।

अरब राष्ट्रों के इन प्रतिबन्धों से इजरायल अत्यन्त संकट में फंस गया, किन्तु इस स्थिति का भी धैर्य से सामना करते हुए इजरायल ने पाश्चात्य देशों की सहायता ली व उनसे व्यापारिक समझौते करके विभिन्न वस्तुओं की अपने यहां आपूर्ति की। इसी समय विदेशों

---

1 **"It is quite a mistake to suppose that under the Covenant of the League or any other instrument the gift of a mandate rests with the league of nations. It rests with the powers who have conquered the territories, which it then falls to them distribute."**

—Lord Curzon George E. Kirk, *A short History of Middle East*, p. 131.

में रह रहे यहूदियों ने भी इजरायल की आर्थिक सहायता की, जिससे अरब देशों का यह प्रयास असफल हो गया।

उल्लेखनीय है कि यहूदियों ने न केवल स्वयं को इस संकट से उबारा वरन् अत्यधिक मेहनत करके अपने देश को पहले से भी अच्छी स्थिति में ला खड़ा किया। अतः अरब राष्ट्र जो कि इजरायल का नामोनिशान भी मिटा देना चाहते थे, अत्यधिक चिन्तित हो उठे तथा वहां **अलफतह, फेदायीन, ब्लेक सेप्टेम्बर,** आदि अनेक संगठनों की स्थापना की तथा नारा दिया **'फिलिस्तीन अरबों का है।'** 1956 ई. तक दोनों के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे, किन्तु कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

द्वितीय अरब-इजरायल युद्ध (Second Arab-Israel War)—मिस्र में सत्ता में परिवर्तन हुआ व कर्नल अब्दुल नासिर ने सत्ता अपने हाथों में लेकर सैनिक शासन की स्थापना की। अब्दुल नासिर ने 1956 ई. में **'स्वेज नहर'** का राष्ट्रीयकरण कर दिया। अब्दुल नासिर के इस कार्य से सर्वाधिक हानि इंग्लैण्ड व फ्रांस को हुई, किन्तु उनके लिए सीधे मिस्र पर आक्रमण करना सम्भव न था, अतः उन्होंने इजरायल को अरब मिस्र पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। इंग्लैण्ड व फ्रांस की शह पाते ही इजरायल ने अरब राष्ट्रों पर आरोप लगाया कि उन्होंने **सिनाई क्षेत्र** को सैनिक अड्डा बना रखा था जहां से वे इजरायल पर आक्रमण करते थे। अतः अक्टूबर, 1956 ई. में इजरायल ने सिनाई क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके तुरन्त बाद इंग्लैण्ड व फ्रांस की सेनाएं भी इजरायल की सहायतार्थ युद्ध क्षेत्र में पहुंच गयीं। इजरायल ने शीघ्र ही सम्पूर्ण सिनाई क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इस मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाया गया जहां रूस के प्रयत्नों से दिसम्बर, 1956 में मिस्र से अपनी सेनाओं को बुला लिया। अन्ततः 9 मार्च में इजरायल ने भी अपनी सेनाएं हटा लीं।

तृतीय अरब-इजरायल युद्ध (Third Arab-Israel War)—अरब-इजरायल के मध्य तीसरे युद्ध का प्रमुख कारण **'अकाबा की खाड़ी'** थी। यह खाड़ी इजरायल के लिए विशेष महत्व की थी क्योंकि इसके द्वारा इजरायल के जहाज लाल सागर तक पहुंचते थे। अरब राष्ट्रों द्वारा इजरायल के लिए 'स्वेज नहर' बन्द कर दिए जाने के पश्चात 'अकाबा की खाड़ी' का महत्व, इजरायल के लिए और अधिक बढ़ गया था। 1967 ई. में मिस्र के कर्नल नासिर ने घोषणा की कि अकाबा की खाड़ी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है, वरन् उस पर अरबों का अधिकार है। इस प्रकार मिस्र ने 'अकाबा की खाड़ी' में इजरायली जहाजों के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मिस्र के इस कार्य का इंग्लैण्ड, अमरीका व अन्य पश्चिमी देशों द्वारा घोर विरोध किया गया तथा इसे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विरुद्ध बताया गया।

उपरोक्त परिस्थितियों में इजरायल ने मिस्र व अन्य अरब राष्ट्रों को चेतावनी दी कि अकाबा की खाड़ी को अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग के लिए खोला जाए, किन्तु अरब राष्ट्रों द्वारा ऐसा न करने पर इजरायल ने जून, 1967 ई. में अरब राष्ट्रों पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में इजरायल की वायुसेना ने काहिरा तथा अन्य क्षेत्रों पर भीषण बम वर्षा की तथा इजरायल की विजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इजरायल ने सिनाई द्वीप, गाजापट्टी व जोर्डन के हिस्से वाले जेरूसलम पर अधिकार कर लिया। इससे पहले कि इजरायल अरब देशों पर और विजय प्राप्त करता संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से दोनों पक्षों को युद्ध विराम करना पड़ा। युद्ध की समाप्ति के समय इजरायल की स्थिति बहुत अच्छी थी क्योंकि वह अरब के अनेक

क्षेत्रों पर अधिकार कर चुका था, अतः दोनों पक्षों में जब समझौता कराने का प्रयास किया गया तो स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण हो गई क्योंकि इजरायल जीते हुए क्षेत्रों को लौटाने के लिए तैयार न था। **इसके साथ ही वह चाहता था कि अरब देश इजरायल को मान्यता प्रदान करें।** दूसरी ओर, अरब देश न तो अपनी एक इंच भूमि छोड़ने को तैयार थे और न ही वे इजरायल को मान्यता देने के लिए राजी थे।

दोनों पक्षों में समझौता कराने के उद्देश्य से 1968 ई. में रूस ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार—

(i) अरब क्षेत्र पर कब्जा किए गए स्थानों को इजरायल खाली कर देगा।
(ii) अरब देश इजरायल के साथ युद्ध न करें।
(iii) अरब-इजरायल सीमा पर शान्ति की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र संघ करे।
(iv) अमरीका, रूस, इंग्लैण्ड व फ्रांस दोनों पक्षों में पुनः किसी युद्ध की आशंका को समाप्त करने हेतु समुचित व्यवस्था करें।

रूस के इस प्रस्ताव को इजरायल द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।

चतुर्थ अरब-इजरायल युद्ध—संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशानुसार यद्यपि अरब देशों व इजरायल के मध्य युद्ध रोक दिया गया था, किन्तु दोनों पक्षों में भीषण तनाव व्याप्त था। तनाव के होते हुए भी किसी तरह 1973 ई. तक युद्ध न हुआ यद्यपि इस मध्य में अनेक ऐसी घटनाएं हुईं जिन्होंने दोनों पक्षों के सम्बन्धों में निरन्तर और तनाव उत्पन्न किया। उदाहरण के तौर पर, 1969 ई. में इजरायल द्वारा जेरूसलम राज्य को इजरायल में मिलाने की घोषणा, 1972 ई. में अरबों द्वारा कुछ यहूदी खिलाड़ियों की घटना का उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार की घटनाओं से इजरायल व अरब निरन्तर युद्ध की ओर अग्रसर हो रहे थे। अन्ततः 6 अक्टूबर, 1973 ई. को मिस्र व सीरिया ने अचानक इजरायल पर आक्रमण किया व प्रारम्भ में निरन्तर सफलता प्राप्त की, किन्तु शीघ्र ही इजरायल ने अपनी स्थिति में सुधार किए व अनेक स्थानों पर इजरायल ने अरबों को परास्त किया। अन्त में संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनः हस्तक्षेप करने पर 22 अक्टूबर, 1973 ई. को युद्ध विराम हो गया। युद्ध विराम के समय इजरायल ने अनेक नए प्रदेशों पर अधिकार कर रखा था तथा मिस्र ने भी कुछ क्षेत्रों को अपने अधिकार में लेने में सफलता प्राप्त की थी।

युद्ध विराम हो जाने पर दोनों पक्षों में समझौते के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास हुए तथा अमरीका के प्रसिद्ध विदेशमन्त्री हेनरी कीसिंजर के प्रयत्नों से मिस्र व इजरायल में समझौता हो गया। 1975 ई. में स्वेज नहर को मिस्र द्वारा पुनः अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग के लिए खोलने से स्थिति में सुधार हुआ, परन्तु इससे भी कोई स्थायी शान्ति नहीं हुई।

ईरान
(IRAN)

ईरान ने प्रथम विश्व-युद्ध में ब्रिटेन के विरोध में भाग लिया था। अतः उसे पेरिस के शान्ति सम्मेलन में नहीं बुलाया गया। यही नहीं उसे अगस्त 1919 ई. में इंगलैण्ड के साथ अपमानजनक सन्धि भी करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि ईरान की सरकार के महत्वपूर्ण विभागों में अंग्रेज परामर्शदाता नियुक्त किए जाएंगे, ईरानी सेना का पुनर्गठन अंग्रेजी अधिकारी के प्रशिक्षण में होगा। यातायात का विकास ब्रिटेन की सहायता

से ईरान में किया जाएगा। निःसन्देह यह सन्धि ईरान की राजनीति में पूर्ण ब्रिटिश हस्तक्षेप था। अतः शीघ्र ही ईरान में राष्ट्रीयता प्रबल हो उठी। 1921 ई. में ईरान में रक्तहीन क्रान्ति हो गई। इस क्रान्ति का नारा था—**ईरान ईरानवासियों के लिए है।**[1] प्रधानमन्त्री हुसैन खां को सत्ता से हटाकर राष्ट्रवादियों ने जियाउद्दीन एवं रजा खां को शासन की बागडोर सौंप दी। जियाउद्दीन प्रधानमन्त्री बना और हुसैन खां प्रधान सेनापति, अब ईरान के सम्राट 'अहमदशाह ईरान' के हाथों से वास्तविक शक्ति प्रधानमन्त्री व प्रधान सेनापति के हाथों में आ गई।

रूस-ईरान सन्धि

नई सरकार ने सर्वप्रथम 26 फरवरी 1921 ई. में रूस के साथ एक सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार, 'रूस ने जार शासन काल में रूस को ईरान में प्राप्त अधिकारों को समाप्त मान लिया। ईरान में स्थित रूसी बैंकों की सम्पत्ति ईरान को मिल गई। जार की पूंजी से निर्मित सभी यातायात मार्गों, तार लाइनों, आदि को ईरान को सौंप दिया गया। **कैस्पियन सागर में स्थित ईरानी द्वीप जिन पर कि रूसी अधिकार था ईरान को मिल गए।** विदेशी आक्रमण के समय रूस ने ईरान को सहायता का वचन दिया। इस प्रकार रूस से सन्धि कर नई सरकार ने 1919 ई. की ब्रिटिश सन्धि को रद्द कर दिया।

रजाखां का उत्कर्ष

रजाखां एक कुशल एवं योग्य सेनापति था। उसने शीघ्र ही शासन की सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करने के प्रयास आरम्भ कर दिए। उसकी नीतियों से आतंकित होकर जियाउद्दीन ईरान से भाग गया। अब रजाखां ने ईरान की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने की ओर ध्यान दिया। उसने शीघ्र ही जनसमुदाय एवं ईरानी मजलिस का मन मोह लिया। उसने 1925 ई. में मजलिस से यह प्रस्ताव पास करा लिया कि ईरान के शासक अहमद शाह के स्थान पर रजा खां ईरान का शासक स्वीकार किया जाता है। अक्टूबर 1925 ई. में रजाखां **रजा शाह पहलवी** के नाम से ईरान का शासक बन गया।

रजा शाह पहलवी ने ईरान की प्रतिष्ठा में वृद्धि के लिए रूस एवं ब्रिटेन के प्रभुत्व को ईरान से कम करने के लिए प्रयास किए। यह ठीक है कि 1922 ई. में ही इंलैण्ड ईरान से हट गया था, किन्तु अभी भी ब्रिटेन का प्रभुत्व बहराइन द्वीप-समूह पर था, ईरान इस द्वीपसमूह को वापस पाना चाहता था। इस संघर्ष में रजा शाह को विशेष सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार ईरान ने दक्षिणी ईरान पर ब्रिटेन के तेल निकालने के एकाधिकार का विरोध कर स्पष्ट कर दिया कि ईरान में पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करने की पर्याप्त क्षमता है। रजाशाह ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी की सहायता-प्राप्ति के लिए जर्मनी से सम्बन्ध कायम किए।

रजा शाह पहलवी का पतन

जर्मनी से अच्छे सम्बन्ध होने पर भी ईरान ने द्वितीय विश्व-युद्ध में तटस्थता की नीति का पालन किया। इधर मित्र राष्ट्रों ने ईरान पर दबाव डाला कि वह उनकी सेनाओं को अपने क्षेत्रों से निकलने दे, किन्तु रजा शाह तटस्थ बना रहा। इस पर ब्रिटेन व रूस ने दक्षिण की ओर से ईरान पर आक्रमण कर दिया। रजा शाह ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। 16 सितम्बर, 1941 ई. को उसने अपने पद का त्याग कर दिया।

---
1 **"Iran for Iranians."**

मुहम्मद रजा शाह पहलवी

16 सितम्बर 1941 ई. को रजा शाह का पुत्र अहमद रजा शाह पहलवी ईरान का शासक बना, किन्तु अब ईरान पुनः तीन प्रभाव क्षेत्रों में बंट गया। प्रथम—दक्षिणी व मध्य ईरान पर इंगलैण्ड का प्रभाव था; द्वितीय—उत्तरी प्रान्तों पर रूस का प्रभाव एवं तृतीय तेहरान व उसके आस-पास के क्षेत्रों पर ईरान की तटस्थ सरकार का प्रभाव था। नए शाह ने 29 जनवरी, 1942 को मित्र राष्ट्रों से एक त्रिपक्षीय सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार, "**ब्रिटेन व रूस को यह अधिकार मिला कि वह युद्ध की आवश्यकता को देखते हुए अपनी सेनाएं ईरान में ला सकेंगे, परन्तु विश्व-युद्ध समाप्त होने के 5 माह के भीतर सेनाएं हटाएंगे। ईरान मित्र राष्ट्रों को सहयोग देगा तथा यदि ईरान पर बाह्य आक्रमण होता है तो मित्र राष्ट्र ईरान की सहायता करेंगे।**" इधर अमरीका के भी युद्ध में शामिल होने के कारण अमरीका की सेनाएं भी ईरान में प्रवेश कर गईं। ईरान को मित्र राष्ट्रों के दबाव में आकर अब सितम्बर 1943 में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी करनी पड़ी। इस प्रकार ईरान विश्व-युद्ध में फंस गया। महायुद्ध समाप्त हो जाने पर रूस के अतिरिक्त सभी देशों ने अपनी सेनाएं वहां से तुरन्त हटा लीं। रूस ने स्पष्ट किया कि वह अपनी सेनाएं त्रिपक्षीय सन्धि के अनुसार मार्च, 1946 तक ईरान से हटाएगा। रूस ने इस प्रकार का रवैया मात्र इसलिए अपनाया क्योंकि वह तेल के प्रश्न पर कन्शेसन प्राप्त करना चाहता था। विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात अब ईरान की राजनीति में तेल का प्रश्न छा गया, किन्तु 1947 ई. तक सभी देशों की सेनाएं ईरान से हट गईं।

सीरिया तथा लेबनान में फ्रांसीसी शासन का विरोध

सीरिया तथा लेबनान में फ्रांस ने अपना सैनिक शासन स्थापित कर लिया था। फ्रांस के आततायी शासन के विरोध में सीरिया, लेबनान एवं जेवलड्रूज में शीघ्र ही राष्ट्रवादियों ने देश की स्वतन्त्रता एवं एकता की स्थापना हेतु विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। 1926 ई. तक राष्ट्रवादियों ने फ्रांसीसियों को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। विर्क ने ठीक ही लिखा, "**विद्रोह ने आखिरकार फ्रांस को सिखा ही दिया कि सीरिया में मात्र कानून से शासन करना असम्भव है।**"[1]

स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए फ्रांस ने 1926 ई. में एम. पोंसो (M. Ponsot) को सीरिया एवं लेबनान का उच्च आयुक्त बनाकर भेजा। उसने सीरिया में निर्वाचन कराकर (अप्रेल 1928 ई.) संसद का निर्माण कराया। संसद ने 7 अगस्त, 1928 ई. को एक संविधान की रूपरेखा तैयार की जिसमें फिलिस्तीन, ट्रांसजार्डन एवं लेबनान को सीरिया में मिलाकर संयुक्त सीरिया के निर्माण की बात कही गई। **विदेश नीति एवं सुरक्षा व्यवस्था के क्षेत्र में फ्रांस के प्रभाव को समाप्त कर देने की भी बात इस संविधान की रूपरेखा में थी।** संसद के पहले ही अधिवेशन में जिस प्रकार फ्रांसीसी मैण्डेट का विरोध किया गया एवं संविधान की रूपरेखा में फ्रांस को समुचित आदर नहीं दिया गया था, उससे प्रभावित होकर पोंसो ने संसद को भंग कर स्वयं ही एक संविधान बनाया और 1932 ई. में चुनाव कराकर सीरियाई राष्ट्रवादियों के साथ मिलकर एक मन्त्रिमण्डल बनाया। 1936 ई. में एक सीरियाई शिष्टमण्डल **'हशीम-बे-इल-अत्तासी'** के नेतृत्व में फ्रांस गया। इसके प्रयत्नों से 9 सितम्बर, 1936 ई. को

1 **"The revolt had, however, tought the French that it was impossible to hold down Syria indefinitety by Martial Law."**

—**Kirk, *A Short History of Middle East*, p. 166.**

फ्रांसीसी सरकार एवं सीरियनों के मध्य एक सन्धि हुई। सन्धि का सीरिया में तो स्वागत किया गया, परन्तु लेबनान, लताकिया, बेरुत, आदि ने विरोध किया। अतः 1937 में सीरिया में ध्याती गणराज्य की स्थापना की गई, परन्तु 21 जून, 1939 को इस गणराज्य को तुर्की में मिला दिया गया। सीरिया के विखण्डन की नीति सीरियावादियों के लिए घातक घटना थी। अतः राष्ट्रवादी विद्रोह पुनः प्रारम्भ हो गए। स्थिति को देखते हुए फ्रांस ने 10 जुलाई, 1939 ई. को संसद भंग कर सीरिया के प्रशासन संचालन हेतु एक गैर-राजनीतिक निर्देशक परिषद् का गठन किया और जेवलड्रूज, लताकिया एवं उत्तरी-पूर्वी प्रान्त जेजीरा के शासन संचालन की नई व्यवस्था की। लेबनान की संसद को द्वितीय-युद्ध प्रारम्भ होते ही भंग कर दिया गया और साथ ही सीरिया पर फ्रांस ने अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित कर लिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध में जून, 1940 ई. में जर्मनी ने फ्रांस को परास्त कर सीरिया में मार्शल नेता के नेतृत्व में एक नई सरकार का गठन कर दिया। इससे ब्रिटेन अत्यधिक चिन्तित हो उठा। उसने जुलाई, 1941 ई. तक सीरिया में अपना अधिकार कर लिया। सीरिया का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से फ्रांस ने 28 सितम्बर, 1941 ई. में घोषित किया कि, **"सीरिया अब स्वतन्त्र है तथा वह अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग कर सकता है।"** लेबनान के विषय में भी 26 नवम्बर, 1941 ई. में इसी घोषणा के अनुरूप सन्धि कर ली गई। ब्रिटेन व अमरीका ने सीरिया एवं लेबनान की स्वतन्त्रता सम्बन्धी घोषणा को मान्यता दे दी, किन्तु फ्रांस ने इस घोषणा पर तुरन्त अमल नहीं किया। Lenczowski के शब्दों में, **"गणतन्त्र की स्थापना कर देने के बाद भी फ्रांस ने सीरिया व लेबनान को किसी प्रकार के अधिकार प्रदान करने में शीघ्रता नहीं दिखाई, अपितु निरन्तर बहाने बनाता रहा।"**[1] अतः राष्ट्रवादी संघर्ष जारी रहा। 1944 ई. में फ्रांस ने सीरिया एवं लेबनान की स्वतन्त्रता की बात को मानते हुए घोषणा की कि युद्ध-समाप्ति के पश्चात् दोनों राष्ट्रों के विषय में सर्वमान्य हल खोजा जाएगा, परन्तु दूसरी ओर फ्रांस ने अपने सैनिक बेरुत में उतारना प्रारम्भ कर दिया। **अतः राष्ट्रवादियों में सनसनी फैल गई व राष्ट्रीय संघर्ष पुनः तीव्र हो गया।** इंग्लैण्ड ने इस पर चिन्तित होते हुए हस्तक्षेप किया और सीरिया में नए गणराज्यों का उदय हुआ और 21 जून, 1945 ई. को एक घोषणा के द्वारा सभी फ्रांसीसी नागरिकों की सीरिया एवं लेबनान में सेवाएं समाप्त कर दी गईं। अब मार्च, 1945 ई. में सीरिया व लेवनान ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1946 ई. के अन्त तक सीरिया एवं लेबनान से संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयास से विदेशी सेनाएं भी हटा ली गईं।

इराक में ब्रिटिश शासन का विरोध—इराक में ब्रिटिश मैण्टेड शासन स्थापित होते ही यूफ्रेटस से लेकर बक्ब एवं दियाला से लेकर किफ्री तक भयंकर विद्रोह प्रारम्भ हो गए। अंग्रेज इस बात को समझ गए कि यदि इराक का शासन किसी ऐसे राजा के हाथ में नहीं दिया गया जिसे वहां की जनता का सम्मान प्राप्त हो, तो क्रान्ति हो सकती है। अतः 23 अगस्त, 1921 ई. फैजल को इराक का राजा बनाया गया और अब्दुर्रहमान अल गैलानी इराक के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। **इराक में फैजर के राज्याभिषेक का तात्पर्य यह लगाया जाने**

---

1 **"Dispite this formal emancipation France was neither willing nor ready to transfer major functions of government to the new republics. In consequence, the mood of expectation gradually gave away to one of hostility."** —**Lenczowski**, ***The Middle East in World Affair*, p. 322.**

लगा कि इराक से ब्रिटिश मैण्डेट शासन समाप्त हो गया है, परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं थी। इराक के शासन का अधिपति यद्यपि फैजल को मान लिया गया था, परन्तु राजा को प्रत्येक कार्य करने से पूर्व इराक में स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर से राय लेनी होती थी। इराक के विदेश एवं अर्थ विभाग पर इंगलैण्ड का प्रभुत्व स्थापित किया गया। इराक के प्रशासन संचालन हेतु उच्च पदों पर अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति की गई। अतः इराक के राष्ट्रवादियों में इस व्यवस्था के प्रति घोर असन्तोष छा गया। अतः ब्रिटिश सरकार ने इस असन्तोष से मुक्ति पाने के लिए कतिपय सन्धियां कीं। 1922 ई. में एक सन्धि इराक से की गई। इसके अनुसार इराक अपने प्रशासनिक मामलों में परामर्श हेतु अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति करेगा तथा विदेशियों की सुरक्षा करेगा। Lenczowski के अनुसार, **"यह 1922 ई. की सन्धि ब्रिटेन के लिए इराक में दूसरे तरीके से प्रभावकारी रही, किन्तु इराक के लिए कड़वी सिद्ध हुई।"**[1] इराक के राष्ट्रवादी इससे सन्तुष्ट नहीं थे। अतः संघर्ष की तीव्रता को देख ब्रिटेन ने इराक के साथ 1926 में एक सन्धि की। 14 दिसम्बर, 1927 में ब्रिटेन ने इराक से तृतीय सन्धि की जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि 1932 ई. में इराक को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाए जाने में इंग्लैण्ड महत्वपूर्ण कदम उठाएगा। 1930 की सन्धि में इसी बात को दोहराते हुए यह कहा गया कि 1932 में इराक में ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाएगा। इस सन्धि के अनुसार यह तय हुआ कि विदेश नीति के सन्दर्भ में दोनों राष्ट्र एक-दूसरे से परामर्श लेंगे। युद्ध की स्थिति में ब्रिटेन ने इराक की सहायता का वचन दिया तथा इराक ने ब्रिटेन को आवागमन सम्बन्धी सुविधाएं उपलब्ध कराने का वचन दिया। इराक में ब्रिटिश उच्च आयुक्त के स्थान पर अब ब्रिटिश राजदूत रहेगा जो कि इराक के लिए अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों से अधिक विशिष्ट होगा। 1930 ई. की यह सन्धि महत्वपूर्ण थी। Lenczowski के शब्दों में, **"यह सन्धि इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि, इसने अरब राज्यों के लिए सन्धि पद्धति प्रदान की। 1936 ई. में मिस्र के साथ तथा उसी वर्ष सीरिया एवं लेवनान से क्रमशः ब्रिटिश एवं फ्रांस ने की, वह उसी सन्धि पर आधारित थी।"**[2] 3 अक्टूबर, 1932 को स्थायी संरक्षण आयोग की रिपोर्ट के इराक के पक्ष में न होते हुए भी इराक को राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान कर दी गई और इसी समय से इराक में ब्रिटिश संरक्षण शासन समाप्त हो गया।

मिस्र में ब्रिटिश शासन का विरोध—19वीं सदी के आरम्भ में यद्यपि मिस्र ने तुर्की के ओटोमन साम्राज्य से मुक्ति पाने में सफलता प्राप्त कर ली थी, परन्तु ब्रिटेन ने प्रथम विश्व-युद्ध में मिस्र के शासक के तुर्की का साथ देने के कारण मिस्र की राजनीति में हस्तक्षेप कर 18 दिसम्बर, 1914 ई. में प्रिंस हुसैन कामिल को मिस्र का सुल्तान बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। 1917 ई. **में हुसैन कामिल की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई गद्दी पर बैठा, परन्तु अब तक ब्रिटेन का प्रभाव मिस्र में इतना बढ़ गया था कि इस प्रभाव के विरोध में राष्ट्रीय भावनाएं जोर मारने लगी थीं।** अतः प्रधानमन्त्री जगलुल के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल पेरिस सम्मेलन में मिस्र की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में भाग लेना चाहता था, परन्तु लार्ड कर्जन इस बात के लिए तैयार न था कि प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व जगलुल करे। जगलुल ने प्रधानमन्त्री के पद से

1 "To the Britain, the treaty of 1922 was just another form of control, but properly sugar-coated for the Iraqi taste." —Lenczowski, *Ibid.*, p. 270.

2 "This treaty was to great importance because it set the pattern for other treaties with Arab Countries." —*Ibid.*, p. 272.

त्यागपत्र दे दिया। जगलुल के त्यागपत्र देते ही इराक में भयंकर दंगे प्रारम्भ हो गए। जगलुल एवं उसके साथियों को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस पर इराक में विद्रोह की अग्नि जल उठी। स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए जगलुल व उसके साथियों को अंग्रेजों को छोड़ना ही नहीं पड़ा, अपितु जगलुल को पेरिस शान्ति सम्मेलन में भाग लेने की अनुमति भी देनी पड़ी। इधर अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने मिस्र में ब्रिटेन का संरक्षण शासन स्वीकार कर लिया था। ब्रिटेन इस तथ्य को समझ चुका था कि मिस्र का जनमत उसका विरोधी है। अतः उसने लार्ड मिन्नर के नेतृत्व में एक आयोग गठित कर उसे मिस्र का संविधान बनाने का कार्य सौंपा।

आयोग द्वारा प्रस्तावित व्यवस्था को मिस्र के वापिस्ट दल ने स्वीकार नहीं किया। मिस्र में भयंकर विद्रोह हो गए। ब्रिटिश सरकार ने दंगों को कुचलने का प्रयत्न किया। 1936 ई. तक मिस्र में विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपने-अपने स्तर से मिस्र की स्वतन्त्रता के प्रयत्न किए, परन्तु सब असफल हो गए। अतः **1936 ई. में मिस्र के सभी राजनीतिक दलों ने साथ-साथ मिलकर मिलेजुले मन्त्रिमण्डल का गठन किया।** इस मन्त्रिमण्डल के प्रयत्नों से 26 अगस्त, 1936 ई. को मिस्र एवं इंग्लैण्ड के मध्य एक सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार स्वेज नहर क्षेत्र को छोड़कर मिस्र के शेष सभी स्थानों पर ब्रिटेन के अधिकार का अन्त हो गया, परन्तु 20 वर्ष की अवधि के लिए मिस्र में ब्रिटेन के 10 हजार सैनिक रहने की व्यवस्था की गई। दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की सहायता करेंगे।

1939 ई. में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ होते ही मिस्र ने सन्धि का अनुपालन करते हुए जर्मनी से राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ते ही ब्रिटेन की सहायता से मिस्र की किलेबन्दी आरम्भ कर दी, परन्तु 1942 ई. के अल-अलामीन के युद्ध में इंग्लैण्ड की विजय ने इस खतरे का अन्त कर दिया, परन्तु अब मिस्र की सत्ता कर्नल नासिर के हाथ में थी। उसने युद्ध समाप्त होते ही ब्रिटिश सेना को मिस्र से हटाने के लिए राष्ट्रवादियों का साथ देना आरम्भ कर दिया और शीघ्र ही मिस्र से ब्रिटिश फौजों को हटाने में सफलता प्राप्त की और मिस्र के आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा में कदम उठाए।

स्वेज संकट
(SUEZ CRISIS)

स्वेज-नहर का निर्माण विश्व-इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है क्योंकि इसने विश्व के विभिन्न महाद्वीपों को एक साथ मिला दिया था। इसका निर्माण ईसा से कई शताब्दी पूर्व हुआ था। नहर को बलख मेजाला, ग्रेट-बिटर लिटिल तथा तिसमा, आदि झीलों को मिलाकर बनाया गया है। **इस नहर से भूमध्य सागर एवं लाल सागर को मिला दिया गया।** यूरोप के व्यापारिक जहाज जिन्हें एशिया एवं आस्ट्रेलिया जाने के लिए पूरे अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाना होता था, अब वे इस नहर के 1869 में खुल जाने से अत्यधिक कम समय में यात्रा कर सकते थे। **इसने यूरोप से पूर्व की ओर जाने वाले जलमार्ग को 4,000 मील छोटा कर दिया।** नहर को एक फ्रांसीसी कम्पनी द्वारा चलाया जाता था। 29 अक्टूबर, 1888 ई. को इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, हंगरी, हालैण्ड, स्पेन, इटली, रूस एवं तुर्की के मध्य हुए समझौते के अनुसार स्वेज नहर को तटस्थ बना दिया और व्यापारिक एवं युद्ध के जहाजों

के प्रयोग के लिए से प्रत्येक राष्ट्र के लिए खोलने की व्यवस्था की गई। यह निर्णय लिया गया कि नहर की सुरक्षा ब्रिटिश सेना का कार्य होगा। 1937 तक यही स्थिति बनी रही।

26 अगस्त, 1937 ई. को ब्रिटेन एवं मिस्र के मध्य हुए समझौते के अनुसार नहर को मिस्र का अंग मान लिया और यह तय हुआ कि जब तक मिस्र की सेना स्वेज नहर की रक्षा लायक नहीं हो जाती, तब तक ब्रिटिश सेना नहर की रक्षा का कार्य पूर्ववत् जारी रखेगी। यह स्थिति नवम्बर, 1950 तक यथावत् रही, किन्तु 16 नवम्बर, 1950 को मिस्र के राजा फारुख ने 26 अगस्त, 1937 की सन्धि को भंग कर ब्रिटिश सेना को स्वेज खाली करने की मांग की। ब्रिटेन के ध्यान न देने पर 16 अक्टूबर, 1951 में मिस्र की संसद ने स्वेज नहर में ब्रिटिश सुविधाओं की समाप्ति की घोषणा की। अब ब्रिटेन व मिस्र के मध्य हुए 27 जुलाई, 1954 के समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने 20 माह के भीतर सेना हटाने का वचन दिया और मिस्र ने 1888 ई. के समझौते के अनुरूप नहर की तटस्थता को यथावत् बने रहने का वचन दिया, किन्तु स्वेज नहर मिस्र का अभिन्न अंग मानी गई, परन्तु फिलिस्तीन के प्रश्न पर पश्चिमी देशों के रुख से क्रुद्ध होकर मिस्र के राष्ट्रपति **कर्नर नासिर ने जुलाई 1956 ई. में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी।** नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा से ब्रिटेन एवं फ्रांस के मध्य-पूर्व में निहित स्वार्थों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। अतः दोनों राष्ट्रों ने इस कदम के विरोध हेतु विरोध पत्र प्रेषित किए। कर्नल नासिर ने विरोध पत्रों की कोई परवाह नहीं की। अतः अगस्त, 1956 ई. में लन्दन में 24 राष्ट्रों का एक सम्मेलन इस प्रश्न पर विचार हेतु आयोजित किया गया। 22 राष्ट्रों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। अमरीका के मन्त्री डलैस ने स्वेज नहर विवाद के हल के लिए एक प्रस्ताव रखा जिसे **इतिहास में डलैस योजना कहा जाता है।** इस प्रस्ताव में कहा गया कि **"स्वेज नहर प्रत्येक स्थिति में समान रूप से सभी राष्ट्रों के लिए खुली रहनी चाहिए। नहर के मामले में मिस्र की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की जाती है, परन्तु नहर के संचालन हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड का गठन किया जाएगा जो कि अपने कार्यों की रिपोर्ट विधिवत् यू. एन. ओ. को देता रहेगा।"** भारत ने भी इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें स्वेज नहर को मिस्र के सम्प्रभु अधिकारों के अन्तर्गत बताते हुए 1888 के समझौते के अनुरूप नहर को सभी राष्ट्रों के लिए खोलने की बात कही गई।"

कर्नल नासिल के डलैस योजना को अस्वीकार कर देने पर मामला यू. एन. ओ. के पास चला गया। सुरक्षा परिषद् ने 13 अक्टूबर, 1957 ई. को इस सम्बन्ध में यह मत प्रतिपादित किया कि, **"नहर में सभी राष्ट्रों के जहाज बिना किसी भेदभाव के आ-जा सकेंगे। मिस्र की सर्वोच्च सत्ता का स्वागत करते हुए नहर को सभी राष्ट्रों की राजनीति से पृथक् रखा जाना चाहिए। नहर में जहाजों से जो शुल्क प्राप्त होगा, उसका उपयोग मिस्र तथा उपयोगकर्ताओं के मध्य होने वाले समझौते से तय होगा, परन्तु इस आमदनी का बहुत बड़ा भाग नहर के विकास में खर्च किया जाएगा। स्वेज नहर कम्पनी एवं मिस्र की सरकार के मध्य विवाद को सुलझाने के लिए किसी मध्यस्थ राष्ट्र का प्रयोग किया जा सकता है। नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की भी व्यवस्था की जा सकती है।"** अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण एवं मध्यस्थता वाले भाग को रूस ने वीटो कर फ्रांस व इंगलैण्ड की आशा पर पानी फेर दिया।

अतः परिस्थिति को अपने अनुकूल न देख इंग्लैण्ड एवं फ्रांस ने अरब-इजरायल संघर्ष का लाभ उठाते हुए इजरायल द्वारा 29 अक्टूबर, 1956 ई. को मिस्र पर आक्रमण करवा

दिया और दो-तीन दिन पश्चात् ही दोनों राष्ट्रों ने मिस्र के विरुद्ध स्वयं भी आक्रमण की घोषणा कर दी। इस पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने हस्तक्षेप करते हुए शान्ति स्थापना हेतु 10 देशों के 6,000 सैनिकों के साथ मेजर जनरल ई. इल. एम. बर्न्स को मिस्र भेज दिया। 5 नवम्बर, 1956 को रूस ने घोषित किया कि यदि युद्ध बन्द नहीं होता तो वह मिस्र पर किए गए आक्रमण को कुचलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता करेगा। रूस की इस घोषणा से 6-7 नवम्बर, 1956 की मध्य रात्रि तक ब्रिटेन एवं फ्रांस ने युद्ध बन्द कर दिया। 22 दिसम्बर, 1956 तक फ्रांस व ब्रिटेन ने अपनी सेनाएं मिस्र से हटा लीं, परन्तु इजरायल ने सेनाएं हटाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने इजरायल को मिलने वाली आर्थिक सहायता को बन्द करवा दिए जाने की धमकी दी। अतः इजरायल ने मार्च 1957 में अपनी सेना मिस्र से हटा ली।

इजरायल द्वारा सेना हटाते ही मिस्र ने स्वेज नहर को सामान्य यातायात के लिए खोल दिया और नहर के संचालन हेतु एक 'स्वायत्तशासी संस्था'[1] की स्थापना की। मिस्र ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुरूप कार्य करने का वचन दिया। इस प्रकार स्वेज संकट समाप्त हुआ।

प्रश्न

1. पश्चिमी एशिया में मैण्डेट व्यवस्था से क्या अभिप्राय है? इसके विरोध में होने वाले राष्ट्रीय संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
2. पश्चिमी एशिया के महत्व को स्पष्ट करते हुए यूरोप की राजनीति में उसकी भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
3. फिलिस्तीन की समस्या से क्या अभिप्राय है? इस समस्या के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इसको सुलझाने के लिए किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।
4. फिलिस्तीन की समस्या पर एक नोट लिखिए।
5. ईरान, इराक, मिस्र, सीरिया एवं लेबनान में विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध प्रतिक्रिया पर प्रकाश डालिए।
6. पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन के कारकों का रेखांकन करें। (गोरखपुर, 1993)

1 इस स्वायत्तशासी संस्था को 'स्वेज नहर अथोरिटी' के नाम से जाना जाता है।

17

यूरोप एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया

[EUROPE AND SOUTH-EAST ASIA]

भूमिका
(INTRODUCTION)

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बर्मा, मलाया, इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना, फिलीपाइन्स, द्वीपसमूह, आदि शामिल हैं। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल सम्पूर्ण यूरोप के बराबर है। **द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इस क्षेत्र को जापानियों के नियन्त्रण से मुक्त करने के लिए जब 'दक्षिण-पूर्वी एशिया कमान' की स्थापना हुई, तभी से इस क्षेत्र के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। साम्राज्यवादी शक्तियों ने यहां 'फूट डालो एवं शासन करो'** (Divide and Rule) **की नीति का पालन करते हुए अपने हितों में यहां का शोषण किया**, परन्तु इसी शोषण की अति ने इन उपनिवेश बनाए गए क्षेत्रों में राष्ट्रवादिता की भावना को उत्पन्न कर दिया, फलतः राष्ट्रीय आन्दोलन हुए और इस क्षेत्र के राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। संक्षेप में, बर्मा, मलाया, इण्डोचायना एवं फिलीपाइन्स में **पश्चिमी साम्राज्यवाद की स्थापना एवं उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हुए राष्ट्रीय संघर्ष का विवरण निम्नवत् है :**

बर्मा (म्यांमार)
(BURMA)

भारत एवं चीन के मध्य स्थित बर्मा अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके पूर्व में चीन एवं थाईलैण्ड तथा पश्चिम में भारत व बंगलादेश स्थित हैं। इसका कुल क्षेत्रफल 2,16,000 वर्गमील है। 1937 ई. तक बर्मा भारत का ही एक प्रान्त था, परन्तु 1937 ई. में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक पृथक राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। **अब यह पूर्ण स्वतन्त्र राज्य है।**

बर्मा का प्राचीन इतिहास स्पष्ट नहीं है, परन्तु अधिकांश इतिहासविद्, **'ताविश्वाती' को बर्मा का प्रथम राजा मानते हैं** जिसने बर्मा को संगठित राज्य का स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया था। **वायनीतीज** नामक राजा का शासन काल भी बर्मा की सीमाओं के विस्तार एवं उसे राज्य के रूप में संगठित करने के प्रयास हेतु उल्लेखनीय रहा। बायनीतीज के शासन

काल के पश्चात् बर्मा में अराजकता का जो दौर प्रारम्भ हुआ उस समय बर्मा का यूरोप के साथ प्रथम सम्पर्क स्थापित हुआ। बर्मा के विभिन्न राज्यों में अराकान नामक राज्य के समुद्र तट में स्थित होने से अरब एवं पुर्तगाली व्यापारी व्यापार हेतु यहां आने-जाने लगे। बर्मा के विविध राज्यों में तंगू राज्य ने सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पुर्तगालियों की सहायता से अपनी सेना का सैन्यीकरण कर अराकान के अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्मा पर अधिकार कर लिया। 17वीं शताब्दी में तंगू राज्य के पतन का लाभ उठाकर आवा के राजवंश ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ही। आवा वंश के **'अलोम्प्रा'** नामक शासक ने बर्मा के अन्य राज्यों को अपनी अधीनता में लेने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। 18वीं सदी के मध्य जव क्लाइव भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में प्रयत्नशील था उस समय अलोम्प्रा ने पंगू, तनेसरीय, आदि को अपने अधीन कर लिया था और 1793 ई. **तक सम्पूर्ण बर्मा आवा राज्य के अधीन हो चुका था।** बर्मा की सेना की दृष्टि अब चटगांव की ओर केन्द्रित हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में बर्मा को भारत में अपने साम्राज्य की नींव के लिए प्रयत्नशील ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष में अंग्रेजों व बर्मा के बीच तीन युद्ध हुए।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824-26)
(FIRST ANGLO-BURMESE WAR)

युद्ध के कारण (Causes of the War)

प्लासी का युद्ध भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता स्थापित होने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था, मालेसन के शब्दों में, **"कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ जिसके तात्कालिक तथा स्थायी परिणाम इतने महत्वपूर्ण हुए हों।"**[1] वास्तव में, इस युद्ध में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित कर कम्पनी ने भारत में अपनी सत्ता की नींव डाल दी और बक्सर के युद्ध में कम्पनी की विजय ने इसके प्रभाव पर पक्की मुहर लगा दी। 1823 ई. तक सिन्ध एवं पंजाब के अतिरिक्त समस्त भारत पर कम्पनी की सत्ता स्थापित हो गई। उत्तर-पश्चिमी सीमा से कम्पनी को किसी बाह्य आक्रमण का खतरा इस समय दिखाई नहीं दे रहा था, परन्तु भारत की पूर्वी सीमा पर बर्मा की स्वतन्त्र सत्ता अपने साम्राज्य विस्तार में संलग्न थी। पूर्व में कम्पनी की सीमाएं भी निश्चित नहीं थी। अतः कम्पनी को बर्मा की विस्तारवादी नीति से अपने साम्राज्य की सीमाओं का निर्धारण आवश्यक प्रतीत होने लगा, परन्तु साथ ही उनकी दृष्टि बर्मा को भारत की ही भांति हस्तगत करने की भी थी।

1784 ई. में जब बर्मा ने अपनी साम्राज्य विस्तार की नीति के अनुरूप अराकन पर भी अधिकार कर लिया तो बर्मा एवं कम्पनी राज्य की सीमाएं आपस में टकराने लगीं। अराकान से भागे अनेक शरणार्थियों ने बंगाल में जाकर शरण ली। बर्मा सरकार ने कम्पनी से इन्हें बर्मा को सौंप देने की मांग की, परन्तु कम्पनी ने इस मांग पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। **बर्मा के राजा ने कम्पनी की विस्तारवादी नीति से घबराकर पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक करने के लिए अनेक प्रस्ताव भेजे, परन्तु कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला।**

1 "There never was a battle in which the consequences were so vast, so immediate and permanent." —G. B. Malleson, *The Decisive Battles of India*, p. 67.

अतः बर्मा ने बर्मा एवं कम्पनी के राज्यों के बीच स्थित क्षेत्रों पर अधिकार करने का कार्यक्रम बनाया और इसके अनुरूप 1822 ई. में असम पर अधिकार कर लिया। मणिपुर पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् बर्मा ने कछार के राज्य की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। कम्पनी ने कछार के राज्य को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर बर्मा के इरादों को चुनौती दी। 1823 ई. में बर्मा ने चटगांव के निकट स्थित शाहपुरा नामक टापू पर आक्रमण किया। टापू पर स्थित कम्पनी की सैनिक चौकी को बर्मी सैनिकों ने नष्ट कर डाला। शाहपुरा टापू पर बर्मा का अधिकार होने का तात्पर्य था अंग्रेजों के बंगाल प्रान्त के लिए खतरा उत्पन्न हो जाना। अतः टापू पर बर्मा का ध्वज लगते ही 24 फरवरी, 1824 ई. को कम्पनी के गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट ने बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

युद्ध की घटनाएं (Events of the War)

24 फरवरी, 1824 ई. को प्रारम्भ होने वाला आंग्ल-बर्मी युद्ध दो वर्षों तक जारी रहा। कम्पनी द्वारा बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा होने पर बर्मा की सेना के सेनापति महाबुन्देला ने बंगाल की ओर बढ़ते हुए कामू के युद्ध में कम्पनी की सेना को परास्त किया, परन्तु कम्पनी की सेना ने आर्चीवाल्ड कैम्पवेल के नेतृत्व में समुद्री मार्ग से रंगून पर आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। रंगून की रक्षा के लिए महाबुन्देला के लौटते ही लार्ड एमहर्स्ट ने 1825 ई. में असम पर अधिकार कर लिया। इधर आर्चीवाल्ड कैम्पवेल ने डोनावेन के युद्ध में महाबुन्देला को करारी हार दी। अन्ततः 23 फरवरी, 1826 ई. को कम्पनी एवं बर्मा के मध्य '**यन्दाबू की सन्धि**' ने युद्ध का अन्त किया।

यन्दाबू की सन्धि (28 फरवरी, 1926) (Treaty of Yandaboo)

इस सन्धि के अनुबन्ध निम्नवत् थे :

(अ) बर्मा ने अराकान एवं तनासरन के प्रान्त कम्पनी को सौंप दिए तथा असम, कछार एवं जयन्तिया पर अपने दावों को छोड़ दिया।

(ब) मणिपुर को स्वतन्त्र मान लिया गया तथा गम्भीरसिंह को मणिपुर का स्वतन्त्र शासक स्वीकार किया गया।

(स) बर्मा का राजा युद्ध की क्षतिपूर्ति के एवज में 1 करोड़ रुपया कम्पनी को देगा। इसमें प्रथम किस्त के रूप में 25 लाख रुपया तुरन्त दिया गया।

(द) बर्मा दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रहेगा एवं कलकत्ता में एक बर्मी राजदूत रहेगा।

(य) दोनों पक्षों के बीच एक व्यापारिक सन्धि भी की गई।

परिणाम (Results)

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध में यद्यपि कम्पनी की वित्तीय स्थिति अत्यन्त खराब हो गई थी, परन्तु युद्ध के पश्चात् कम्पनी को मिलने वाले लाभों को नकारा नहीं जा सकता। यन्दाबू की सन्धि ने कम्पनी के पांव बढ़ा दिए। पूर्वी बंगाल की खाड़ी तथा उसके पूर्वी एवं पश्चिमी तटों पर अंग्रेजों का नियन्त्रण स्थापित हो गया। भारत एवं बर्मा की सीमा का निर्धारण हो गया

तथा अब कम्पनी की उत्तर-पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गई। बर्मा दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखकर कम्पनी ने बर्मा दरबार की आगामी नीतियों की जानकारी का मार्ग खोल दिया।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा (1852)
(SECOND ANGLO-BURMESE WAR)

युद्ध के कारण (Causes of the War)

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध की समाप्ति पर बर्मा एवं कम्पनी के बीच यन्दाबू की सन्धि से बर्मा निवासी प्रसन्न नहीं थे। इस सन्धि के अनुसार बर्मा दरबार में अंग्रेज रेजीडेण्ट का रहना बर्मा वासियों के लिए रुचिकर नहीं था। इधर चीन के सम्राट ने बर्मा के राजा को पत्र लिखकर कि **'अंग्रेजों को शहर में रहने की आज्ञा देना उचित नहीं है। उन्हें पीपल के वृक्ष की भांति कार्य करने की आदत है।''**[1] अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के प्रति सशंकित कर दिया। अतः प्रथम अंग्रेज रेजीडेण्ट को दस सप्ताह में ही बर्मा से वापस जाना पड़ा। दूसरे रेजीडेण्ट हेनरी बर्ने ने बर्मा के राजा पर यन्दाबू की सन्धि के यथावत् अनुपालन पर जोर डाला। इधर इसी बीच बर्मा के राजा की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका भाई थाराबादी 1838 में बर्मा का राजा बना। उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि **''अंग्रेजों ने मेरे भाई के साथ यन्दाबू की सन्धि की थी। अतः इस सन्धि के अनुपालन के लिए मैं बाध्य नहीं हूं। मैं रेजीडेण्ट से एक साधारण व्यक्ति जैसे भेंट करूंगा रेजीडेण्ट की हैसियत से नहीं। वे (अंग्रेज) यह कब समझेंगे कि मैं केवल इंग्लैण्ड के शाही राजदूत से ही भेंट कर सकता हूं।''** स्पष्ट था कि नए राजा ने यन्दाबू की सन्धि को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और अंग्रेज रेजीडेण्ट को बर्मा दरबार में उचित सम्मान प्रदान नहीं किया। बर्ने के स्थान पर नियुक्त नए रेजीडेण्ट वेंसन को इस परिस्थिति में 1804 ई. में बर्मा को छोड़ना पड़ा। इस घटना से बर्मा एवं कम्पनी के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो गई।

इधर 1848 ई. में लार्ड डलहौजी कम्पनी की सरकार का गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। **डलहौजी साम्राज्यवादी नीति का पक्षपाती था।** वह बर्मा को कम्पनी के प्रशासन के अधीन करना चाहता था। अतः वह किसी बहाने की प्रतीक्षा में था। इधर बर्मा में थाराबादी की मृत्यु के पश्चात् 1846 ई. में उसका पुत्र पागानमिन उत्तराधिकारी हुआ। उसने शासनकाल में बर्मा में रह रहे अंग्रेज व्यापारियों ने कम्पनी की सरकार के पास बर्मा की सरकार के विरुद्ध कतिपय शिकायतें भेजीं। उन्होंने शेपार्ड एवं हेरोल्ड लुईस पर बर्मा की सरकार द्वारा लगाए गए अभियोगो के तहत् दण्ड सम्बन्धी शिकायतें कम्पनी से कीं। बर्मा की सरकार ने शेपार्ड द्वारा एक जहाज के मल्लाह को समुद्र में फेंक देने के अपराध में सहानुभूतिपूर्वक विचार करते हुए उसे केवल 1,000 रुपए जुर्माने पर छोड़ दिया था। हेरोल्ड लुईस जिसने जहाज पर कुछ लोगों की हत्या की थी, को भी मात्र 380 रुपये जुर्माने पर छोड़ दिया था। **बर्मा की सरकार द्वारा सहानुभूतिपूर्ण रवैये के अपनाए जाने पर भी इन शिकायतों का बहाना लेकर डलहौजी ने बर्मा के राजा से अंग्रेज व्यापारियों की हानि का 5 हजार रुपया मुआवजा मांगा और कमोडोर लेम्बर्ट की अधीनता में तीन युद्धपोत रंगून रवाना कर दिए।** 25 नवम्बर, 1851 ई. को लैम्बर्ट ने रंगून पहुंचकर आवा के दरबार को इस आशय से पत्र लिखा कि वह मुआवजे की धनराशि

1 **"It is not proper to allow the English......to remain in the city. They are accustomed to act like the pipal tree."**
—**S. G. Sardesai, *New History of the Marathas*, Vol. III, p. 503.**

एवं रंगून के गवर्नर को सार्वजनिक रूप से अपमानित करे और इस पत्र का उत्तर तीन सप्ताह के भीतर दे। आवां का राजा इस पत्र से आश्चर्यचकित हो उठा। वह युद्ध नहीं चाहता था। अतः नया गवर्नर नियुक्त किया गया। इस नए गवर्नर ने लैम्बर्ट से कभी भी मिलने के सम्बन्ध में पत्र लिखा, परन्तु लैम्बर्ट ने इस पत्र की परवाह न करते हुए नौसैनिक अधिकारियों को रंगून के गवर्नर से मिलने भेज दिया। इन अधिकारियों ने गवर्नर के निवास-स्थान पर असह्य उद्दण्डता की। अतः गवर्नर ने इन अधिकारियों से मुलाकत नहीं की। इस पर लैम्बर्ट ने रंगून की नाकेबन्दी कर दी और बर्मा के राजा के एक पोत को अधिकार में कर दिया। विवश होकर बर्मा के संरक्षकों को गोली चलानी पड़ी। इस पर लैम्बर्ट ने जवाबी कार्यवाही की और डलहौजी ने आवा के दरबार को 1 अप्रैल तक गवर्नर के व्यवहार पर खेद प्रकट करने एवं 10,000 पौण्ड क्षतिपूर्ति के रूप में देने का अल्टीमेटम दे दिया। अल्टीमेटम की अवधि पूर्ण होने पर पूर्व ही डलहौजी ने युद्ध की पूर्ण तैयारियां कर गौडविन के नेतृत्व में एक जहाजी बेड़ा बर्मा भेज दिया और गौडविन ने 2 अप्रैल को युद्ध की घोषणा कर दी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध के मूल में यन्दावू की सन्धि के प्रति बर्मा का असन्तोष एवं कम्पनी की साम्राज्यवादी नीति ही उत्तरदायी थी।

युद्ध की घटनाएं (Events of the War)

जनरल गौडविन ने डलहौजी के आदेशानुसार 2 अप्रैल, 1852 को बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मद्रास की सेना 7 अप्रैल को रंगून पहुंच गई। लैम्बर्ट तो पहले से मौजूद था। पूर्ण तैयारी कर कम्पनी की सेना ने युद्ध आरम्भ किया और 14 अप्रैल को रंगून पर अधिकार कर लिया। सितम्बर 1852 को डलहौजी स्वयं रंगून आया। अक्टूबर एवं नवम्बर माह में क्रमशः प्रोम एवं पीगू पर अधिकार कर लिया गया। आवा के दरबार की युद्ध में अपनी स्थिति को देखते हुए डलहौजी ने यह प्रस्ताव पारित किया कि दक्षिणी बर्मा की विजय को मान्यता प्रदान कर दी जाए। बर्मा के राजा के इस प्रकार की सन्धि से इन्कार करने पर डलहौजी ने दक्षिणी बर्मा को कम्पनी के साम्राज्य में मिलाने और युद्ध समाप्ति की घोषणा कर दी।

परिणाम (Results)

द्वितीय आंग्ल-बर्मा का युद्ध के परिणाम कम्पनी के हितों की दृष्टि से लाभदायक रहे, परन्तु बर्मा को काफी नुकसान उठाना पड़ा। दक्षिणी बर्मा को कम्पनी के साम्राज्य में मिला दिया गया और जीते हुए राज्यों को एक प्रान्त का रूप देकर उसकी राजधानी रंगून रखी गई। अब कम्पनी के साम्राज्य की सीमा सालवीन नदी तक पहुंच गई। बंगाल की खाड़ी के पूर्वी किनारे एवं चटगांव से सिंगापुर तक अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। इससे उत्तरी बर्मा का समुद्र के साथ अब कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा। **अब साम्राज्यवादियों की दृष्टि उत्तरी बर्मा की ओर केन्द्रित हो गई।**

तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध (1885)
(THIRD ANGLO-BURMESE WAR)

युद्ध के कारण (Causes of War)

यन्दाबू की सन्धि 1826 ई. से कम्पनी को अराकन एवं तेनासरीम प्राप्त हो गए थे और द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध की समाप्ति पर पेगू का प्रदेश कम्पनी के अधीन हो गया था। इससे बर्मा का राज्य बहुत छोटा रह गया था। ब्रिटिश व्यापारी उत्तरी बर्मा पर व्यापारिक प्रभुत्व

स्थापित करना चाहते थे। इधर 1858 ई. में कम्पनी के हाथ से भारतीय साम्राज्य की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में आ गई। ब्रिटिश सरकार पर ब्रिटिश पूंजीपतियों के दबाव के कारण 1862 एवं 1867 ई. में ब्रिटिश सरकार एवं बर्मा के मध्य व्यापारिक सन्धियां हुईं। ए. सी. बनर्जी के अनुसार, **"1862 ई. की सन्धि से बर्मा के मार्ग से अंग्रेजों का व्यापार, चीन तक होने लगा।"**[1] 1867 ई. की सन्धि ने मिट्टी के तेल, कीमती पत्थरों एवं लकड़ी के व्यापार में अंग्रेजों को एकाधिकार प्रदान कर दिया। यह निश्चित किया गया कि बर्मा में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रहेगा जो अंग्रेजों के सभी झगड़ों को निपटाएगा तथा अंग्रेज व बर्मियों के बीच झगड़ों को निबटाने का कार्य रेजीडेण्ट एवं नियुक्त एक बर्मी अधिकारी करेगा। साथ ही रंगून से प्रोम तक रेलवे लाइन बिछाने का प्रस्ताव रखा गया। **इस सबके पीछे बर्मा के शेष भाग पर आधिपत्य स्थापित करने की योजना थी।**

अंग्रेजों की इस योजना को उस समय आघात पहुंचने का खतरा दो कारणों से उत्पन्न हो गया। प्रथम तो इस प्रथा का अनुपालन करने से इन्कार करना जिसके तहत रेजीडेण्ट को बर्मा दरबार में राजा के सामने नंगे पांव घुटनों के बल झुककर प्रणाम करना होता था। 1876 में रेजीडेण्ट को इस प्रथा का पालन करने से गवर्नर जनरल के मना करने पर रेजीडेण्ट का बर्मा दरबार में आगमन बन्द कर दिया गया। फलतः 1879 में रेजीडेण्ट को भारत सरकार ने वापस बुला लिया। इस घटना से भारत सरकार एवं मांडले की सरकार (बर्मा) के बीच सम्बन्धों में कुटता आ गई। बर्मा के राजा ने तो यहां तक कह दिया कि, **"वह जूते के लिए अवश्य लड़ेगा चाहे वह पेगु के लिए न लड़ा हो।"**[2] इसका कारण फ्रांस का बर्मा पर आधिपत्य स्थापित करने की योजना थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांस ने सुदूर-पूर्व में अपना एक साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी और बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। इधर बर्मा का नया राजा थीबां फ्रांस से व्यापारिक सन्धि कर ब्रिटिश प्रभाव की समाप्ति का पक्षपाती था। अतः 1885 में फ्रांस व बर्मा के बीच एक व्यापारिक सन्धि हुई जिसके अनुसार बर्मा की सरकार को फ्रांस की सरकार टोंगकिंग में होकर हथियारों के आयात में सुविधा प्रदान करेगी तथा माण्डले में एक फ्रांसीसी वाणिज्य दूत रहेगा। इस सन्धि ने ब्रिटिश सरकार एवं ब्रिटिश व्यापारियों के कान खड़े कर दिए। अतः लन्दन की व्यापारिक सभा ने भारत सचिव से मांग की कि, **"या तो बर्मा पर अधिकार कर लिया जाए अथवा वहां पर एक शासक की नियुक्ति की जाए जो अंग्रेजों के प्रभुत्व में हो।"**[3]

ब्रिटिश पूंजीपतियों के प्रभाव में प्रभावित ब्रिटिश सरकार के लिए आवश्यक हो गया कि अब वह बर्मा में फ्रांस के प्रभुत्व को बढ़ने से रोके और यह बर्मा पर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव को स्थापित कर या बर्मा को ब्रिटिश शासन में मिलाकर ही हो सकता था। अतः अब भारत सरकार बर्मा से युद्ध के लिए बहाना ढूंढने लगी। साम्राज्यवादी विचारों से ओत-प्रोत लार्ड डरफिन (भारत के गवर्नर जनरल) के शासनकाल में युद्ध का बहाना मिल ही गया। **'बाम्बे-बर्मा ट्रेडिंग कारपोरेशन'** नामक व्यापारिक संस्थान जिसने बर्मा में वनों की लकड़ी का ठेका ले रखा था, पर बर्मा सरकार ने शुल्क की अदायगी न करने पर 23 लाख रुपया

1 ए. सी. बनर्जी, ऐनेक्सेसन ऑफ बर्मा, पृ. 178।
2 He would fight for shoe though he had not fought for Pegu.
3 "Either annex the whole of Native Burmah, or assume a Protectorate over that country, by the appointment of a sovereign under British Control."

जुर्माना किया था। डफरिन ने बर्मा सरकार से इस मामले की सुनवाई स्वयं (डफरिन द्वारा) करने की पेशकश की। बर्मा के राजा ने इस पर स्वतन्त्रता के हनन का खतरा देखकर पेशकश नामंजूर कर दी। **इस पर डफरिन ने एक अल्टीमेटम बर्मा की सरकार को निम्नलिखित शर्तों के साथ भेज दिया।**

(अ) माण्डले में तुरन्त एक ब्रिटिश रेजीडेण्ट रखा जाए।

(ब) ब्रिटिश रेजीडेण्ट बर्मा दरबार की जूते की प्रथा का पालन नहीं करेगा।

(स) जब तक रेजीडेण्ट माण्डले पहुंचे **'बाम्बे-बर्मा ट्रेडिंग कारपोरेशन'** नामक व्यापारिक संस्थान के विरुद्ध कार्यवाही रोक दी जाए।

(द) बर्मा के विदेशी सम्बन्धों के क्रियान्वयन में भारत सरकार से सलाह ली जाए।

(य) ब्रिटेन को यह सुविधा दी जाए कि वह वर्मा से होकर चीन में व्यापार कर सके।

इस अल्टीमेटम की शर्तों को स्वीकार करने का स्पष्ट तात्पर्य यह था कि बर्मा की स्वतन्त्रता का हनन हो जाता। अतः बर्मा के राजा थीबां ने इस अल्टीमेटम की शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। इस पर डरफिन ने नवम्बर 1885 ई. को बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और 20 दिन के भीतर ही माण्डले पर अधिकार कर लिया तथा उत्तरी बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला दिया गया।

परिणाम (Results)

तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध ने बर्मा की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया। 1 जनवरी, 1886 को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि बर्मा पर ब्रिटिश आधिपत्य है। बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला दिया गया। बर्मा पर चीन का संरक्षण समाप्त हो गया। राजनीतिक दृष्टिकोण से बर्मा के ब्रिटिश-भारत का अंग बन जाने से अब बर्मा के भाग्य का निर्णय भारत के भाग्य के साथ जुड़ गया।

इस प्रकार बर्मा में ब्रिटिश आधिपत्य का विरोध लगभग दो वर्षों तक बर्मियों के कुछ सशस्त्र गिरोह ने किया, परन्तु उन्हें कुचल दिया गया और अब बर्मा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना हुई।

बर्मा में स्वाधीनता संघर्ष
(FREEDOM STRUGGLE IN BURMA)

तृतीय आंग्ल बर्मा युद्ध के पश्चात् 1886 ई. में बर्मा ब्रिटिश भारत का एक प्रान्त बन गया था। चीन ने इस पर शर्त पर कि ब्रिटेन तिब्बत में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा, बर्मा पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्वीकार करते हुए अपनी संरक्षणता का दावा छोड़ दिया। 1935 ई. में बर्मा को भारत से अलग स्वायत्त शासन प्रदान कर ब्रिटिश कालेनी (British Colony) घोषित किया गया और **राष्ट्रवादी आन्दोलन के सक्रिय होने के कारण जनवरी, 1948 ई. को अंग्रेजों को बर्मा को स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ी।** वास्तव में, बर्मा की स्वतन्त्रता बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन का परिणाम थी।

बर्मा में राष्ट्रीय जागृति के कारण
(CAUSES OF NATIONAL AWAIKNING IN BURMA)

बर्मा में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न होने के अग्रलिखित कारण थे—

(अ) बर्मा की आर्थिक स्थिति—ब्रिटिश शासन में बर्मा का आर्थिक शोषण हुआ था, परन्तु अपने हित में अधिक से अधिक दोहन करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए आवश्यक हो गया कि वे बर्मा में अधिक से अधिक संसाधनों को खोजें। अतः पैट्रोलियम की खानों की खोज की गई। बर्मा में पेट्रोल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। चावल की खेती को प्रोत्साहित किया गया। पेट्रोल एवं चावल का निर्यात बर्मा से प्रभूत मात्रा में होने लगा। इससे बर्मा में ब्रिटिश, भारतीय एवं चीनी व्यापारियों के स्वतन्त्र व्यापार में और अधिक तीव्रता आ गई। **इस स्वतन्त्र व्यापार की तीव्रता ने बर्मा के सीधे-सादे कृषक वर्ग को प्रभावित किया। ग्राम्य व्यवस्था अव्यवस्थित हो गई और घुमक्कड़ मजदूर वर्ग अस्तित्व में आया।** इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि अब भारतीय साहूकार, कर वसूल करने वाले सरकारी कर्मचारी तथा चीनी व्यापारी कृषकों से अपना भाग जोर-जबरदस्ती कर प्राप्त कर लिया करते थे। इससे कृषक वर्ग के पास अपनी आजीविका के लिए अनाज तक नहीं बच पाता था। अतः कृषक वर्ग असन्तुष्ट था। इधर व्यापारियों ने भारत से बर्मी मजदूरों के अनुपात में कम मजदूरी पर कार्य करने वाले मजदूरों को लाना प्रारम्भ कर दिया। **इस प्रकार माना जा सकता है कि बर्मा का आर्थिक ढांचा पूर्णतः यूरोपीय विनियोक्ताओं और भारतीय महाजनों के हितों की रक्षा करने वाला बन चुका था।** अतः आर्थिक दृष्टि से शोषित बर्मा में व्यवस्था परिवर्तन के लिए आक्रोश उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था।

(ब) ब्रिटिश शिक्षा का प्रसार—यह ठीक है कि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली बर्मा को विशेष लाभ प्रदान करने वाली नहीं थी। केवल कुछ ही बर्मियों को ब्रिटिश प्रशासन में सरकारी नौकरियों पर रखा जाता था, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रोत्साहित ही किया।

(स) आवागमन के साधन—ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का मूल उद्देश्य बर्मा का आर्थिक शोषण करना था। इस शोषण में तीव्रता के लिए यह आवश्यक था कि बर्मा में रेलवे लाइनों एवं सड़कों का निर्माण किया जाए। अतः बर्मा में आवागमन के साधनों के निर्माण ने आन्तरिक व्यापार को प्रोत्साहन किया, परन्तु आवागमन के साधनों की उपलब्धता ने अब बर्मावासियों को एक-दूसरे के स्थान पर जाने की जो सुविधा प्रदान कर दी उससे बर्मावासी बर्मा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से आने-जाने लगे।

(द) यूरोपीय घटना-चक्र का प्रभाव—बर्मा में राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास में यूरोपीय रंगमंच पर होने वाली घटनाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। विशेष रूप से 1904-05 के रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय एवं प्रथम विश्वयुद्ध की घटनाओं ने बर्मावासियों को प्रभावित किया। **रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि यूरोपीय साम्राज्यवाद के राजनीतिक उपाख्यान (Political myth) और सामाजिक दर्शन (Social Philosophy) केवल ढोंग हैं।** यूरोपीय राष्ट्रों की अजेयता भंग की जा सकती है। यह भी स्पष्ट हो चुका था कि यूरोपीय साम्राज्यवादियों के इस दावे को चुनौती दी जा सकती है कि एशियावासियों को सुसंस्कृत बनाने के लिए एशियावासी उनके ऊंपर भार हैं। दूसरे शब्दों में, श्वेत लोगों का भार (White Man's Burden) की विचारधारा भ्रामक सिद्ध हो गई। **अतः एशिया में गूंजने वाले सिंहनाद ने कि 'एशिया एशियावासियों के लिए है'** (Asia for the Asians) **बर्मावासियों को प्रभावित कर डाला।** जापान की विजय के इस प्रभाव को बर्मा में **'थाकिन दल'** की नीतियों के रूप में देखा जा सकता है। इस दल के लिए जापान एक आदर्श

बन चुका था। यह दल जापानियों के प्रभुत्व से बर्मा को स्वतन्त्र कराने का स्वप्न देखने लगा था।

इसी प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध की घटनाओं ने भी एशिया के उन राष्ट्रों को प्रभावित किया जो कि साम्राज्यवादिता के शिकंजे में थे। एशिया के राष्ट्रों जैसे भारत में यह विचार स्पष्ट मुखरित होने लगा था कि जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति के विरोध में युद्ध करने वाला ब्रिटेन स्वयं क्यों साम्राज्यवादी है? इस विचार ने बर्मावासियों को भी प्रभावित किया। अब बर्मावासी स्वतन्त्रता की मांग करने लगे। इसका स्पष्ट प्रमाण इस घटना से हो जाता है कि जब 1919 ई. में ब्रिटिश सरकार ने माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को बर्मा में लागू करने में आनाकानी की तो बर्मा में बर्मावासियों ने आन्दोलन कर दिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 20वीं शताब्दी के आरम्भ बर्मावासियों में राष्ट्रवादिता के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे, परन्तु उनमें विशेष गति प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् ही आई।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व बर्मा में राष्ट्रीय आन्दोलन
(NATIONAL MOVEMENT IN BURMA BEFORE SECOND WORLD WAR)

बर्मा की आर्थिक स्थिति एवं साम्राज्यवादियों द्वारा बर्मा के आर्थिक शोषण के लिए किए गए अधिकाधिक प्रयासों एवं यूरोपीय घटना चक्र ने बर्मावासियों को आन्दोलित कर दिया था जिसकी प्रथम परिणति **माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों को बर्मा में भी लागू करने हेतु राष्ट्रवादी आन्दोलन के रूप में सामने आई।** आन्दोलन को असफल नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसी के प्रतिफल के रूप में 1921 ई. में बर्मा को ब्रिटिश भारत के तरह प्रान्त बनाकर विशेष अधिकार प्रदान किए गए। इन सुधारों ने बुद्धिजीवी एवं राष्ट्रवादी सुधारों के इच्छुक नेताओं को पूर्णतः सन्तुष्ट करने में सफलता नहीं पाई। राष्ट्रवादी नेता पूर्ण स्वराज्य की मांग करने लगे। **सांस्कृतिक वांतू आन्दोलन तथा बौद्ध समुदाय की आम-परिषद् द्वारा संचालित आन्दोलनों ने स्पष्ट कर दिया था कि अब बर्मा के राष्ट्रवादी वेग को कुचला नहीं जा सकता।**

1930 ई. में ब्रिटिश सरकार के विरोध में बर्मा में कृषक आन्दोलन हुआ। कृषकों के इस विद्रोह का नेतृत्व बौद्ध पुरोहित **'साया सेन'** ने किया। विद्रोह को कुचल तो दिया गया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को गम्भीरतापूर्वक लेते हुए 1935 के अधिनियम के द्वारा बर्मा को अधिराज्य (Dominion Status) का दर्जा देने पर विचार किया। यही नहीं, इस कृषक विद्रोह ने युवक राष्ट्रवादियों को भी प्रभावित किया। अतः युवक राष्ट्रवादियों की **दोबामा** नामक संस्था का जन्म हुआ। स्वतन्त्रता की मांग करने वाले इस दल के सदस्य स्वतः को **'थाकिन'** (लार्ड) कहते थे। 1940 तक इस दल ने बर्मी जनता पर अपने प्रभाव को स्पष्ट कर दिया था। अतः ब्रिटिश सरकार द्वारा बर्मा को 1937 ई. में सीमित स्वायत्तता (Autonomy) भी प्रदान कर दी गई, परन्तु राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने आन्दोलन को जारी रखा 1938 ई. में बर्मा में ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार किया गया।

इस प्रकार दूसरे विश्व-युद्ध के आरम्भ होने का समय आते-आते तक बर्मा में बहुत कुछ सीमा तक उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गई थी तथा साथ ही राष्ट्रवादी आन्दोलन को गति प्रदान करने वाले प्रमुख नेता आंग सान (Aung San), यू साव (U Saw), थाकिन नू (Thakin Nu) एवं बा मो (Ba Maw) भी खुलकर सामने आ गए थे।

द्वितीय विश्व-युद्ध से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक बर्मा में राष्ट्रीय आन्दोलन
(NATIONAL MOVEMENT TILL INDEPENDENCE)

रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय से प्रभावित होकर बर्मा का एक राष्ट्रवादी वर्ग बा-मो के नेतृत्व में जापानियों की सहायता से ब्रिटिश आधिपत्य से बर्मा को मुक्ति दिलाने का पक्षपाती था। इस उद्देश्य से बर्मा को मुक्ति प्रदान करने का स्वप्न देखने वाले **'राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल'** (National Revolutionary Party) **के नेता बा-मो ने जापान के साथ 1939 ई. में एक गुप्त समझौता कर लिया।** द्वितीय विश्व-युद्ध के समय प्रथम पांच माह में ही जापान ने बर्मा पर अधिकार कर बा-मो के नेतृत्व में स्वतन्त्र बर्मा सरकार का गठन कर दिया, परन्तु बा-मो के नेतृत्व में गठित यह सरकार वास्तव में स्वतन्त्र नहीं थी। उस पर जापान का इतना अधिक प्रभाव था कि ऐसा लगने लगा था कि बर्मा पर अब जापान का साम्राज्यवादी शिकंजा स्थापित हो जाएगा। अतः वर्मा में ऐसे राष्ट्रवादियों का गुट तैयार हो गया जो कि फासिस्ट नीतियों का विरोध कर विशुद्ध बर्मी सरकार की स्थापना का पक्षपाती था। **इस प्रकार की विचारधारा को रखने वाले गुट का नाम 'एण्टी फासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग'** (Anti-Fascist Peoples Freedom League) **था जिसका गठन एवं नेतृत्व आंग सान** (Aung San) **ने किया।**

आंग सान (Aung San) का स्थान बर्मा के स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। **द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लगभग पूर्व तक बर्मा के स्वतन्त्रता आन्दोलन को अंग सान ने अपने नेतत्व से प्रभावित किया।** आंग सान सर्वप्रथम 1936 ई. में रंगून विश्वविद्यालय में छात्र-हड़ताल नेता के रूप में सामने आया। तदुपरान्त वह **'दोबामा समाज'** (We Burman's Association), जो कि छात्र आन्दोलन का उग्रवादी पंथ था, का नेता बना। वह बा-मो के प्रधानमन्त्रित्व काल में प्रतिरक्षा मन्त्री के पद पर भी आसीन रहा, परन्तु जिस प्रकार जापान का प्रभुत्व बर्मा में बढ़ता जा रहा था उससे मुक्ति पाने हेतु उसने **एण्टी-फासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग** का गठन किया। उसके दल में अनेक स्वतन्त्र एवं साम्यवादी दलों के क्रान्तिकारी थे। इन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक सेना का गठन भी कर लिया था।

बर्मा में जापानी साम्राज्यवादी प्रभाव की समाप्ति के लिए आंग-सान के नेतृत्व में आन्दोलन की भूमिका बन ही रही थी कि जनवरी 1945 ई. में बर्मा पर मित्र राष्ट्रों का आक्रमण हुआ और द्वितीय विश्व-युद्ध के समाप्त होने पर पुनः वर्मा पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्थापित हो गया। अतः आंग सान के दल का सीधा विरोध अब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से हो गया। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने मई 1945 में तुरन्त घोषणा की कि **बर्मा की स्थिति 1941 ई. की भांति रहेगी और वहां के शासन का प्रधान ब्रिटिश गवर्नर होगा। बर्मा में 1935 के विधान को लागू करते हुए व्यवस्थापिका सभा का निर्वाचन होगा और मन्त्रिमण्डल गठित किया जाएगा। बर्मा में अन्ततः औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना की जाएगी।**

आंग सान एवं उसके समर्थकों ने ब्रिटिश योजना का विरोध करते हुए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। आन्दोलन की उग्रता से घबराकर ब्रिटिश गवर्नर **'सर ह्यूबर्ट रेंस'** (Sir Hubert Rance) को आन्दोलनकारियों से समझौते के लिए बाध्य होना पड़ा। इस समझौते के अनुसार बर्मा के शासन संचालन के लिए 11 सदस्यीय कार्यकारिणी परिषद् का गठन किया गया।

इस परिषद् में 6 सदस्य एण्टी-फासिस्ट फ्रीडम लीग के थे एवं 5 सदस्य अन्य राजनीतिक दलों के। आंग सान को अक्टूबर, 1946 ई. में इस परिषद् का उपाध्यक्ष बनाया गया। आन्दोलनकारियों के लिए यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, परन्तु वे इसे अस्थायी व्यवस्था मानते थे। अतः 20 दिसम्बर, 1946 ई. को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एटली को घोषणा करनी पड़ी कि **"बर्मा को शीघ्र ही स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा प्रदान किया जाएगा। यह बर्मा की इच्छा पर होगा कि वह कामनवैल्थ की सदस्यता स्वीकार करे या न करे। बर्मा में स्थायी शासन के सम्बन्ध में लन्दन में एक सम्मेलन आयोजित किया जाएगा।"** घोषणा के अनुरूप जनवरी, 1947 में लन्दन में एक सम्मेलन आयोजित किया गया। आंग सान के नेतत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल लन्दन गया। **बर्मी नेताओं एवं ब्रिटिश सरकार के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के अनुवन्ध निम्नवत् थे :**

(अ) बर्मा का शासन विधान तैयार करने के लिए एक संविधान परिषद् का निर्वाचन किया जाएगा।

(व) संविधान का निर्माण होने तक एक सामयिक सरकार संगठित की जाए जिसमें गवर्नर एवं उसकी कार्यकारिणी परिषद् होगी।

(स) 180 सदस्यों वाली एक सामयिक व्यवस्थापिका सभा का गठन किया जाए। ये 180 सदस्य संविधान परिषद् के निर्वाचित सदस्यों में से ही मनोनीत होंगे।

(द) बर्मा के हितों को दृष्टि में रखते हुए बर्मा का एक उच्च आयुक्त संविधान का निर्माण होने तक लन्दन में रहेगा।

(य) बर्मा को संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाने में ब्रिटिश सरकार सहायता करेगी।

(र) बर्मा अन्य देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार रखेगा।

(ल) सीमा सम्बन्धी विवाद के हल के लिए एक समिति बनाई जाए।

आंग सान के नेतृत्व वाले प्रतिनिधि मण्डल के साथ हुए ब्रिटिश सरकार के इस समझौते का विरोध कतिपय साम्यवादी एवं उग्रवादियों ने किया, परन्तु आंग सान ने एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजत कर सभी राजनयिकों को आमन्त्रित कर बर्मा के सभी प्रान्तों को संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत कर लिया। इस सम्मेलन को इतिहास में **'पेंगलोथ सम्मेलन फरवरी 1947'** के नाम से जाना जाता है। योजना के अनुरूप अप्रैल 1947 में बर्मा में संविधान परिषद् के गठन हेतु निर्वाचन हुआ जिसमें एण्टी-फासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग के उम्मीदवारों को बहुमत प्राप्त हुआ। **इसी बीच जबकि संविधान परिषद् के गठन का कार्य चल ही रहा था। आंग सान की विरोधी दल के नेता यू-साव (U-Saw) ने 1947 को हत्या करवा दी। इस हत्याकाण्ड ने बर्मा को एक महान देशभक्त एवं अनुभवी नेता से वंचित कर दिया।** आंग सान द्वारा गठित पीपुल्स लीग को यू-नू (U-Nu) ने अत्यन्त कुशलता से संभाल लिया एवं लीग का नेतत्व करते हुए आंग सान के कार्य को आगे बढ़ाया और सितम्बर, 1947 ई. में संविधान निर्माण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। **17 अक्टूबर, 1947 को बर्मा एवं ब्रिटेन के मध्य एक समझौते के तहत् नए संविधान को मान्यता प्रदान कर दी गई।** बर्मा ने राष्ट्रकुल (Commnn Wealth) का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया। जनवरी, 1948 ई. को बर्मा में नया संविधान लागू हो गया और बर्मा में स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना हो गई।

मलाया
(MALAYA)

स्याम की खाड़ी के दक्षिण-पूर्व में स्थित मलाया (Malaya) को मलेशिया (Malaisia) के नाम से भी जाना जाता है। 53 हजार वर्गमील क्षेत्रफल वाले इस प्रायद्वीप के मध्य में चार हजार से आठ हजार फुट ऊंची पर्वत श्रृंखलाएं हैं। नीचे तराई का मैदान है एवं शेष क्षेत्र समुद्रतटीय है। समुद्रतटीय क्षेत्र होने के कारण अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति होने से व्यापारिक एवं सामरिक दोनों दृष्टियों से मलाया का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यूरोप, पश्चिमी, एशिया और भारत से पूर्वी एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया को आने वाले मार्गों में सबसे छोटा मार्ग मलाया के जलडमरूमध्य से होकर आता है। स्पष्ट है कि **मलाया प्रायद्वीप पर आधिपत्य होने से किसी भी देश के लिए पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपना प्रभाव स्थापित करना अत्यन्त सरल होता।** मलाया की दूसरी विशेषता यह थी कि यह क्षेत्र टिन एवं रबर के उत्पादन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। यही कारण था कि 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोपियनों ने मलाया प्रायद्वीप में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के प्रयत्न किए।

मलाया में यूरोपियनों का आगमन

मलाया में प्रवेश करने वाले यूरोपियनों में सबसे पहले पुर्तगाली ही थे, जिन्होंने 1509 ई. में मलाया में अपने कदम रखे। 1511 ई. में पुर्तगालियों ने मलक्का पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और 1641 ई. तक अपने प्रभाव को मलक्का में बनाए रखा। पुर्तगालियों को मलक्का में प्रभाव स्थापित होते-होते सुमात्रा के आक्रामक राज्य अचेह की आक्रामक गतिविधियों का सामना करना पड़ा। 1537 ई. में अचेह का प्रथम आक्रमण मलक्का में हुआ। अचेह राज्य केवल मलक्का में ही अपने प्रभुत्व को स्थापित नहीं करना चाहता था, वरन् वह सम्पूर्ण मलाया को अपने आधिपत्य में लेना चाहता था। अचेह के घात-प्रतिघातों के पश्चात् भी पुर्तगाली जैसे-तैसे 1641 ई. तक अपने प्रभुत्व को मलक्का में कायम रखने में सफल हुए, परन्तु 17वीं शताब्दी में डचों की शक्ति का सामना करना पड़ा। **डचों ने 1596 ई. में जावा में अपना प्रभुत्व स्थापित कर 1633 ई. तक मलाया के राज्यों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। अपनी आक्रामक गतिविधियों से उन्होंने 1641 ई. में पुर्तगालियों का मलक्का से आधिपत्य समाप्त कर डाला और अपना प्रभुत्व कायम किया।**

डचों की शक्ति को भी उस समय जबरदस्त चुनौती का सामना करना पड़ा, जबकि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने 1786 में पेनांग द्वीप पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अंग्रेजों ने जहां 1795 ई. **में मलक्का को अपने आधिपत्य में लेने में सफलता प्राप्त की वहीं 1819 ई. में सिंगापुर में अपना अड्डा भी कायम कर लिया।** 6 फरवरी, 1819 को हुसेन को सिंगापुर का सुल्तान बनाया गया। हुसेन ने कम्पनी के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार कम्पनी का एक गवर्नर सिंगापुर में रहेगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सिंगापुर में कारखाना खोलने की अनुमति प्रदान की गई, साथ ही हुसेन प्रतिवर्ष पांच हजार डालर कम्पनी का देगा। 1824 ई. में डचों को विवश होकर कम्पनी से सन्धि के लिए बाध्य होना पड़ा। इसके तहत् मलक्का, सिंगापुर एवं पेनांग पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। 1826 में मलक्का और सिंगापुर का प्रशासन पेनांग से संचालित होने लगा और स्टेट्स सेटलमेण्ट महाप्रान्त के रूप में इसे परिणत किया गया। 1832 में स्टेट्स सेटलमेण्ट को बंगाल के गवर्नर और कौंसिल

के अधिकार क्षेत्र में दे दिया गया और सिंगापुर को राजधानी बनाया गया। इस प्रकार **कम्पनी ने सिंगापुर को अपना केन्द्र बना लिया। वास्तव में ऐसा सिंगापुर के सामरिक महत्व को दृष्टि में रखकर किया गया।** सर टॉमस स्टॉमफर्ड रेफल (Sir Thomas Stamford Raffles) ने सिंगापुर के सामरिक महत्व को दृष्टिगत रखकर कहा भी था कि **"पश्चिम में जो स्थान माल्टा को प्राप्त है, पूर्व में वही स्थान सिंगापुर को प्राप्त है।"**[1] अतः अंग्रेजों ने सिंगापुर का मुक्त बन्दरगाह के रूप में विकास करना प्रारम्भ कर दिया।

मलाया में व्यापारिक क्षेत्र में अपने प्रभुत्व की स्थापना में कम्पनी इस प्रकार संघर्षरत थी ही कि 19वीं शताब्दी के मध्य में टिन के क्षेत्रों का पता लगने हेतु अनेक चीनियों का मलाया आगमन प्रारम्भ हुआ। अपने इस उद्देश्य में उन्हें सफलता भी मिली। 'पेराक' में टिन क्षेत्रों का पता लग गया। टिन के क्षेत्रों का पता लगते ही अंग्रेज भला अपने को कैसे पीछे रखते? उन्होंने तुरन्त जबरदस्ती मलाया के छोटे-छोटे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया और मलाया के विभिन्न राज्यों को विवश किया कि वे अपने-अपने राज्य में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखें। यहीं नहीं, अंग्रेज अधिकारियों ने मलायावासियों के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। अतः 1875 ई. में पेराक के रेजीडेण्ट जे. डब्ल्यू. बर्च की मलायावासियों ने हत्या कर दी। अंग्रेजों ने इस घटना को बहाना बनाकर आक्रामक रुख अपनाया और 1896 ई. में सेलंग्मेर के रेजीडेण्ट फ्रैंक स्टेनहोम ने पेराक, सेलंग्मेर, नेग्री सेम्बीलन एवं पहांग को एक संघ में लाकर कुआलालम्पुर को इस संघ की राजधानी बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। **संघ का शासन संचालन एक ब्रिटिश गवर्नर के द्वारा संचालित किया जाने लगा।** 1909 ई. तक अंग्रेजों ने बेगून, केलाटन एवं केदा पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और दक्षिणी मलाया में जोहोर को विवश किया कि वह अपने यहां ब्रिटिश सलाहकार रखे। इस प्रकार सम्पूर्ण मलाया पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया और अंग्रेजों ने मलाया का अपने हितों में जमकर आर्थिक शोषण किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व मलाया में राष्ट्रवाद के विकास में आने वाली बाधाओं के कारण

यह ठीक है कि अंग्रेजों ने मलाया का अपने हितों में आर्थिक शोषण किया, परन्तु शोषण के इस क्रम में मलाया संघ की समृद्धि का द्वार भी अनावृत हुआ। 1895 ई. में मलाया संघ का राजस्व साढ़े आठ मिलियन डालर था जो कि 1905 ई. में 24 मिलियन डालर पहुंच गया। 1904 तक पूरे संघ राज्य में डाक-तार व्यवस्था स्थापित हो गयी। अनेक स्कूल एवं अस्पतालों की स्थापना हुई। सड़क एवं रेलवे लाइन के निर्माण ने अवागमन के साधनों में वृद्धि की। राष्ट्रवाद के विकास में सहायक होने वाले इन तत्वों के विकसित होने पर भी द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व तक मलाया में राष्ट्रवाद का विकास नहीं हुआ। इसके पीछे कुछ उत्तरदायी परिस्थितियां मौजूद थीं। **संक्षेप में, राष्ट्रवाद के विकास में बाधक इन कारणों का उल्लेख अग्रवत् है :**

(अ) मलाया की जनसंख्या का बहुजातीय होना—मलाया के बहुजातीय समाज ने वहां राष्ट्रवाद के विकास में गम्भीर बाधा उत्पन्न की। मलाया में मूल मलायावासी, चीनी एवं भारतीय

1 **What Malta is in the west, that may Singapore became in East.**

—T. S. Raffles, *History of Malaya*, p. 186.

निवास करते थे। मूल मलायावासियों की संख्या 1937 ई. में 43.4% थी, चीनियों की संख्या 41.3% थी और भारतीयों की संख्या 14.8% थी। मूल मलायावासी मूलतः कृषक एवं मछुआरे थे। उद्योग एवं व्यापार में तो यूरोपियनों एवं चीनियों का अधिकार था। मलाया में निवास करने वाली मूल मलायावासी, चीनी एवं भारतीय जातियों ने सदा ही स्वतः को एक-दूसरे से अलग समझा और अपनी-अपनी जातीय पहचान कायम रखने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न ने उन्हें कभी एक नहीं होने दिया। **इससे एकता की भावना का अभाव हुआ जिसका पूर्ण लाभ अंग्रेजों ने उठाया। इस जातीय एकता के अभाव ने राष्ट्रवाद के विकास में बाधा पहुंचाई।**

(ब) प्रशासनिक दृष्टि से मलाया का एकीकृत न होना—यूरोपियनों के मलाया आगमन के समय मलाया में छोटे-छोटे राज्य थे। प्रत्येक राज्य के अपने कानून एवं प्रशासनिक व्यवस्था थी। अतः प्रशासन एवं कानून की दृष्टि से मलाया एकीकृत नहीं था। अंग्रेजों ने मलाया में अपना आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् भारत या बर्मा की भांति मलाया को प्रशासन एवं कानून की दृष्टि से एकीकृत करने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेजों ने मलाया में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार की शासन पद्धतियों को लागू करने का प्रयत्न किया। **द्वितीय विश्व-युद्ध तक मलाया में तीन प्रकार के संविधान थे। प्रथम,** स्टेट्स सेटलमेंट जो कि एक ब्रिटिश उपनिवेश था। इसमें पेनांग, वेलेजली, नानिंग, मलक्का एवं सिंगापुर थे। **द्वितीय,** मलय राज्य संघ। इसमे पेराक, पहांग, सेमबिलान, सेलांगोर एवं नेग्री थे। **तृतीय,** मलय राज्य संघ के वाहर लागू संविधान, जिसमें केदाह, पेरलिया, त्रिंगानु, जोहोर एवं केलानतान थे। **इस प्रकार विविध प्रशासनिक व्यवस्थाओं के कारण पूर्ण मलाया प्रशासन एवं कानून की दृष्टि से एक न हो पाया। यह स्थिति राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण बाधा थी।**

(स) मलाया की जनता का अशिक्षित होना—राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मलाया की जनता भारत एवं बर्मा की जनता की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त पिछड़ी थी। उनमें राजनीतिक मेधा का प्रायः अभाव था।

इस प्रकार उक्त तीन कारणों ने मलाया में द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व तक राष्ट्रवाद के विकास में बाधा का कार्य किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध का मलाया पर प्रभाव (राष्ट्रवाद के विकास के विशेष सन्दर्भ में)

(IMPORTANCE OF SECOND WORLD WAR UPON MALAYA WITH SPECIAL REFERENCE TO DEVELOPMENT OF NATIONALISM IN MALAYA)

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भिक चरण में जापान ने मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को भारी शिकस्त दी थी। अपने प्रयास में दिसम्बर 1941 ई. में जापान ने मलाया पर आक्रमण किया और 15 फरवरी, 1942 ई. को सिंगापुर को अपने आधिपत्य में लेते हुए सम्पूर्ण मलाया पर अधिकार कर लिया। **इस तरह 1945 ई. तक मलाया पर जापान का आधिपत्य रहा।**

जापान ने इन तीन वर्षों में मलाया के प्रति जो रवैया अपनाया उसने मलाया में राष्ट्रवाद की भावना को उद्वेलित कर दिया। जापान ने मलाया को एक केन्द्रीकृत शासन के अन्तर्गत लेने का प्रयत्न किया। 1945 ई. में जापानी सैनिक अधिकारियों ने मलाया में स्वशासन की दृष्टि से भी विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे मलायावासियों में राजनीतिक एकता की भावना का उद्भव हो गया।

इसके अतिरिक्त **युद्ध के काल में मलाया की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी थी।** मलाया को इस काल में रबर एवं टिन के व्यापार के लिए बाजार नहीं मिल सके। अतः उद्योग व व्यापार चौपट हो गया, साथ ही युद्ध की विनाशकारी लीला के कारण मलाया को आयात होने वाली दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं भी आयात होना बन्द हो गयीं। इससे मलाया की जनता को अपार कष्टों का सामना करना पड़ा।

युद्ध के काल में अंग्रेजों ने मलाया के कम्युनिस्ट गुट के छापामारों को जिनमें अधिकतर चीनी थे, हथियार दिए थे। इन्होंने जापानियों के विरुद्ध जो अभियान छेड़ा था उससे वे छापामार प्रणाली से परिचित हो गए। इधर जब युद्ध समाप्त हुआ तो ब्रिटेन का आधिपत्य पुनः मलाया में स्थापित हो गया, परन्तु अब तक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज ने अंग्रेजों के विरोध में जो भावनाएं मलायावासियों में भर दी थीं, उससे वे आन्दोलित हो उठे थे। इधर छापामार प्रणाली से परिचित वे कम्युनिस्ट जिन्हें अंग्रेजों ने युद्ध के दौरान जापान का विरोध करने के लिए अस्त्र-शस्त्र दिए थे, अब राष्ट्रवादी भावनाओं से प्रभावित होकर अंग्रेजों का विरोध करने लगे।

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व-युद्ध की परिस्थिति ने मलाया को पूर्णतः प्रभावित कर डाला और अब वहां स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो गया।

मलाया में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष
(STRUGGLE FOR INDEPENDENCE IN MALAYA)

द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान की पराजय के पश्चात् मलाया में ब्रिटेन का आधिपत्य पुनः स्थापित हो गया, परन्तु युद्ध काल में परिवर्तित परिस्थितियों ने मलाया में राष्ट्रवाद की भावना को विकसित कर दिया था। अतः ब्रिटेन के लिए युद्ध से पूर्व की भांति मलाया में शासन करना लगभग असम्भव था। इस स्थिति को जागरूक ब्रिटेन, स्वीकार कर चुका था। अतः **ब्रिटेन ने मलाया के विभिन्न राज्यों के सम्मुख मलय राज्य, पेनांग की खाड़ी तथा मलक्का को मिलाकर मलाया संघ बनाने का प्रस्ताव रखा।** ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त एक अंग्रेज गवर्नर संघ के शासन पर नियन्त्रण रखेगा और एक विधानसभा का निर्माण भी किया जाएगा। प्रस्ताव में मलाया के विभिन्न राज्यों के सुल्तानों से अपने-अपने शासनाधिकार ब्रिटिश सरकार को हस्तान्तरित करने की बात भी कही गयी। सिंगापुर को इस संघ में रखने की बात नहीं कही गयी। तात्पर्य यह था कि **सिंगापुर प्रस्तावित मलाया संघ में सम्मिलित नहीं किया जाएगा।**

इस प्रस्ताव का मलाया के राष्ट्रवादियों ने जमकर विरोध किया, क्योंकि इस प्रस्ताव को मलाया में किसी से सलाह लिए बिना ही तैयार किया गया था। प्रस्ताव के विरोध में जोहोर के प्रधानमन्त्री दातो ओन बिन जाफर (Dato Onn Bin Jaafer) के नेतृत्व में संयुक्त मलय राष्ट्रीय संघ (United Malay National Organization) की शाखाओं को पूरे मलाया में इस उद्देश्य को लेकर फैला दिया गया कि **वे मलय जाति को नष्ट होने से बचाएं।**[1] असहयोग आन्दोलन की धमकी से भयभीत होकर ब्रिटिश सरकार को अपनी योजना में परिवर्तन करना पड़ा। संयुक्त मलय राष्ट्रीय संघ के सहयोग से फरवरी 1948 में नई योजना बनाई गयी। **इस योजना के अनुसार :**

1 **"The United Malay National Organization was pledged to the task of warding of the devastating ignoming of race extinction."**

—Parcell, *The Chinese in Malaya*, p. 387.

(अ) मलाया के दसों राज्यों की अलग सत्ता कायम रहेगी। उनकी पृथक सरकारें एवं विधानसभाएं होंगी।

(ब) सभी राज्यों को मिलाकर एक संघ बनाया जाएगा। संघ की सरकार एवं विधान परिषद् अलग होगी।

(स) मलाया के शासन सम्बन्धी मामलों में सलाह एवं सहायता के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा एक हाई कमिश्नर नियुक्त किया जाएगा।

(द) जापानी आक्रमण से पूर्व जो अधिकार सुल्तानों को प्राप्त थे, सुल्तानों को दे दिए गए।

(य) रक्षा एवं विदेशी मामलों पर ब्रिटेन का नियन्त्रण होगा।

(र) उन सभी मलय, चीनी एवं भारतीयों को मलाया की नागरिकता प्रदान की जाएगी जिनका जन्म मलाया में हुआ हो तथा जो 15 वर्ष स्थायी रूप से मलाया में निवास कर चुके हों, मलाया की नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार होगा।

(ल) योजना सिंगापुर के विषय में लागू नहीं होगी।

इस योजना को मलाया के उग्र राष्ट्रवादियों ने अस्वीकार कर दिया और इस योजना का विरोध करने के लिए मलाया नेशनलिस्ट पार्टी (Malaya Nationalist Patry) का गठन कर लिया। इसी बीच मलाया में साम्यवादियों के नेतृत्व में विद्रोह हो गया। विद्रोह को सशक्त करने के लिए साम्यवादियों ने एक सशस्त्र सेना का गठन कर लिया जिसका नाम **'मलय राष्ट्रीय मुक्ति सेना'** रखा गया। **वस्तुतः साम्यवादी मलाया में स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना करना चाहते थे। 1949 में चीन में साम्यवादी व्यवस्था लागू हो जाने से इनका उत्साह और दुगना हो गया।** 1948 ई. से 1955 ई. तक ब्रिटिश सरकार साम्यवादी विद्रोह को दबाने में ही व्यस्त रही। 1955 ई. में साम्यवादियों की शक्ति में कमी आ जाने पर मलाया की संघीय विधानसभा के सदस्यों के निर्वाचन हेतु चुनाव हुआ, परन्तु इस निर्वाचन में ऐसे राष्ट्रवादी चयनित हो गए जो कि मलाया की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। फलतः जनवरी 1956 में मलाया के राजनीतिक नेताओं का एक शिष्टमण्डल ब्रिटिश सरकार से मलाया को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने सम्बन्धी योजना पर विचार करने लन्दन गया। अतः योजना को तैयार करने के सम्बन्ध में एक आयोग के निर्माण की बात पर सहमति हो गई। सहमति के अनुरूप गठित आयोग ने 1956 ई. में मलाया को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने सम्बन्धी योजना[1] पेश कर दी। इस योजना के अनुरूप 31 अगस्त, 1958 ई. **को मलाया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई** और मलाया के इस स्वतन्त्र राज्य को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई।

मलाया को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी, परन्तु जिस प्रकार मलाया को एक संघ में केन्द्रित कर स्वतन्त्रता दी गई थी उसमें **सिंगापुर को अलग कर दिया गया।** अतः अब सिंगापुर में स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश सरकार को जो कि सिंगापुर को

1 योजना के अनुरूप मलाया के 10 राज्यों का एक संघ बनाया गया। इसमें नौ वे राज्य थे जिन पर सुल्तानों का शासन था। दसवीं इकाई सिंगापुर को छोड़कर स्टेट्स सेटलमेंट था। नौ सुल्तान अपने में से किसी एक को पांच वर्ष के लिए राजा के पद पर निर्वाचित करते हैं, परन्तु वास्तविक शक्ति जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् के हाथों में है।

अपना उपनिवेश बनाए रखना चाहती थी, अन्ततः राष्ट्रवादियों के सम्मुख झुकना पड़ा और 1959 में सिंगापुर को स्वतन्त्र करना पड़ा।

इण्डोनेशिया
(INDONESIA)

दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे बड़ा देश हिन्देशिया या इण्डोनेशिया (Indonesia) तीन हजार मील के दायरे में फैले हुए तीन हजार से अधिक द्वीपों का समूह है। एक समय ईस्ट इण्डीज के नाम से पुकारे जाने वाले हिन्देशिया में जावा, बाली, सुमात्रा, तिमोर, बंगका, बोर्नियो, सोअम्बाबा, सेलेबस, न्यूगिनी, पापुआ, फ्लोरेंस, आदि द्वीप थे। **इस विशाल द्वीप समूह को भी आधुनिक युग में साम्राज्यवाद के शिंकजे में गिरफ्त होना पड़ा था और इस साम्राज्यवादी शिंकजे से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करना पड़ा।**

इण्डोनेशिया में डच आधिपत्य

इण्डोनेशिया में 1511 ई. में सर्वप्रथम जिस यूरोपीय शक्ति ने प्रवेश किया था वह पुर्तगाली थी, परन्तु उन्हें 17वीं शताब्दी में डचों ने जबरदस्त चुनौती दी और शीघ्र ही इण्डोनेशिया में अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। 1641 ई. में डचों ने मलक्का द्वीप पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इससे पुर्तगालियों को अत्यधिक नुकसान उठाना पड़ा। डचों ने इण्डोनेशिया की राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर इण्डोनेशिया के देशी शासकों के आन्तरिक झगड़ों में भाग लेना आरम्भ कर दिया। डचों ने व्यापारिक हितों का बहाना बनाते हुए जावा के नगर बेटेविया को अपना प्रमुख केन्द्र बनाया और सैन्य संगठन प्रारम्भ कर दिया। एक प्रकार से उन्होंने उस नीति का ही अनुपालन किया जिसे हम अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों को भारत में अपनाते हुए देखते हैं। 1755 ई. **तक लगभग सम्पूर्ण जावा में डचों का आधिपत्य स्थापित हो गया।**

लेकिन इसी बीच फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 के पश्चात् नेपोलियन द्वारा हालैण्ड पर अधिकार कर लिए जाने से हिन्देशिया के जावा द्वीप पर फ्रांस का अधिकार हो गया। नेपोलियन की साम्राज्य-विस्तारक नीति से इंग्लैण्ड के लिए जो खतरा उत्पन्न हो गया था उसके कारण इंग्लैण्ड ने तुरन्त कार्यवाही कर हिन्देशिया के जावा द्वीप पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, परन्तु 1815 ई. के वियना सम्मेलन ने स्थिति को एकदम बदल दिया। इस सम्मेलन के निर्णयानुसार जावा में हालैण्ड का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। इसके पश्चात् **डचों ने शनैः-शनैः हिन्देशिया के सभी द्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।**

इस प्रयत्न में उन्हें जावा; सुमात्रा, वोर्नियो एवं बाली द्वीप में विशेष संघर्ष करना पड़ा। जावा में प्राचीन राजवंशों ने डचों की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। 1825 ई. में जावा में डचों के विरोध में विद्रोह हो गया जो लगभग 5 वर्षों तक चला। अन्ततः डचों ने विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की, परन्तु **जावा के राजवंशों से उन्हें समझौता करना पड़ा। इस समझौते के अनुसार जावा के आन्तरिक मामलों में इन राजवंशों को स्वायत्तता दे दी गई।** सुमात्रा, बोर्नियो एवं वाली द्वीपों में उठने वाले विद्रोहों को डचों ने कुचलकर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण हिन्देशिया पर डच आधिपत्य स्थापित हो गया।

हिन्देशिया में डच शासन
(DUCH ADMINISTRATION IN INDONESIA)

डचों ने साम्राज्य स्थापना के पश्चात् हिन्देशिया के प्रशासन के सन्दर्भ में कतिपय नीतियों को लागू किया। इन नीतियों को हिन्देशिया में डच शासन के अन्तर्गत देखा जाता है, जो कि इस प्रकार है :

कल्चर प्रणाली (The Culture System)

वियना कांग्रेस के निर्णयानुसार जावा, बाली, आदि द्वीपों पर पुनः हालैण्ड का आधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात् डच साम्राज्यवादियों के सामने इण्डोनेशिया में अपना उपनिवेश बनाने का मार्ग एकदम खुला था। **अतः उन्होंने हिन्देशिया का अपने हितों में आर्थिक लाभ उठाने की दृष्टि से हिन्देशियाई द्वीपों में एक नई आर्थिक पद्धति को लागू किया जिसे इतिहास में कल्चर प्रणाली (The Culture System) के नाम से जाना जाता है।** इण्डोनेशिया में कल्चर प्रणाली नामक परियोजना को प्रारम्भ करने का कार्य जनवरी 1830 ई. में नियुक्त जावा के गवर्नर जनरल **'जोहाने वेन डेन बोख'** (Johannes Ven Den Bosch) ने किया। इस पद्धति के अनुसार जावा के कृषकों को अपनी जमीन के एक भाग में चाय, तम्बाकू, कपास, कालीमिर्च, ईख, कॉफी, आदि को उत्पन्न करने के लिए कहा गया। लगान के स्थान पर डच सरकार इन फसलों को लेगी और ये फसलें नीदरलैण्ड भेजी जाएंगी जहां इनकी बहुतायत मांग थी। **बोख ने इस प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार स्पष्ट की थीं :**

(अ) कृषक डच सरकार के साथ एक समझौते के तहत् अपनी जमीन के निश्चित भू-भाग में उन फसलों का उत्पादन करेगा जिसे डच सरकार यूरोपीय मण्डियों में आसानी से बेच सके।

(ब) जिस निश्चित भू-भाग में इस प्रकार की फसलें उगाई जाएंगी उसका पांचवां भाग अलग कर दिया जाए।

(स) निर्यात फसलों को उगाने में मजदूरों की संख्या चावल को उगाने में लगने वाले मजदूरों की संख्या से अधिक न हो।

(द) जिस भूमि पर निर्यात फसलें उगाई जाएंगी लगान रहित होगी।

(य) निर्यात फसलें किसान जिलाधिकारी को देंगे। जिलाधिकारी फसल का मूल्य निर्धारित करेंगे यदि फसल लगान मूल्य से अधिक मूल्य की होती है तो लगान मूल्य काटकर शेष धनराशि किसान को दे दी जाए।

(र) प्राकृतिक संकट जैसी अकाल, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, आदि होने से यदि निर्यात फसलों के उत्पादन में कोई नुकसान आता है तो इसके लिए कृषक का उत्तरदायित्व नहीं होगा, परन्तु यदि उत्पादन में उनकी (कृषकों की) लापरवाही के कारण कोई कमी आती है तो इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व कृषकों का होगा।

(ल) श्रम का विभाजन चार भागों में किया जाए। प्रथम भाग फसल के तैयार होने तक, दूसरा भाग कटाई के लिए, तीसरा भाग ढुलान के लिए और चौथा भाग कारखानों में काम करे।

इस प्रयोग के कारण डच सरकार को अत्यधिक लाभ हुआ। कृषक अपनी भूमि पर डच सरकार के लिए बेगार के रूप में कार्य करने लगा। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि ईख

और कॉफी जैसी फसलों को उगाने के लिए किसान को अपनी ही पूंजी एवं श्रम लगाना पड़ता था। डच व्यापारी तो मिल मालिक बन बैठे जो कि मजदूरों का शोषण करते थे। डच सरकार के अधिकारी ही इस बात का निर्णय करने लगे कि कौन कृषक कितने भू-भाग में बेगार करेगा और कितनी पैदावार सरकार को देगा। हाल ने ठीक ही लिखा है, **"यह प्रणाली नीदरलैण्ड के लिए जीवनदायिनी बन गई।"**[1]

नीदरलैण्ड को नवजीवन प्रदान करने वाली **इस प्रणाली के दुष्परिणामों से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।** ये दुष्परिणाम इण्डोनेशिया के किसानों के जीवन-स्तर में परिवर्तन के रूप में देखे जा सकते हैं। हिन्देशिया के किसानों की स्थिति दासों की तरह हो गई, परन्तु इससे हिन्देशिया को एक लाभ अवश्य हो गया कि हिन्देशिया के लोगों में व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाने की शक्ति आ गई, जिसने राष्ट्रवाद की भावना का विकास किया। कल्चर प्रणाली के विरोध में हालैण्ड में भी ऐसा वर्ग सामने आया जो दास प्रथा का विरोधी था। अतः हालैण्ड में इस व्यवस्था के विरोध में जनमत तैयार होते देख 1870 ई. में हालैण्ड की सरकार ने इस व्यवस्था का अन्त कर दिया। **इस प्रकार विशेष रूप से हालैण्ड में पनपने वाले दास प्रथा के विरोधी वर्ग के प्रभाव ने ही इण्डोनेशिया में लागू होने वाली कल्चर प्रणाली का अन्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।** इस व्यवस्था के समाप्त होते ही इण्डोनेशिया के कृषक उन बन्धनों से मुक्त हो गए जो कि 1830 में उन पर जबरदस्ती लादे गए थे।

एथिकल नीति
(ETHICAL POLICY)

कल्चर सिस्टम की समाप्ति के साथ ही डच सरकार ने नैतिकता की नीति (Ethical Policy) का प्रयोग हिन्देशिया में किया। इस नीति की वकालत डच सरकार ने **'गोरे जनों का दायित्व'** के रूप में की। कहने का तात्पर्य यह है कि अब गोरे जनों का दायित्व इण्डोनेशिया की जनता के आर्थिक लाभ एवं नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने की नीति के रूप में सामने आया। एक प्रकार से यह दुहाई **'श्वेत जाति का बोझ'** की नीति का ही दूसरा रूप थी। वास्तव में इसमें नैतिकता की भावना प्रबल नहीं थी। वास्तव में डच अब इस बात को समझ गए थे कि यदि शोषण की प्रवृत्ति में थोड़ी नरमी न की गई तो इण्डोनेशिया में उनका स्थायित्व अधिक समय तक न रह पाएगा। यही कारण था कि डचों ने इण्डोनेशिया के आर्थिक विकास की ओर कुछ ध्यान दिया जिससे चीनी, चाय, रबर, कॉफी, पैट्रोलियम एवं टिन का अभूतपूर्व व्यापार हिन्देशिया में हुआ।

नैतिकता की नीति के अनुपालन में हिन्देशिया में आधुनिक शिक्षा प्रदान कर सकने वाली शिक्षण संस्थाएं खोली गयीं। यूरोपीय विज्ञान, राजनीति, दर्शन एवं इतिहास का ज्ञान देना इन शिक्षण संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य था, लेकिन इस शिक्षा प्रसार से सामान्य इण्डोनेशियावासियों को रोजगार एवं कृषिपरक हस्त-कौशल में निपुण करना था जिससे उसके हितों की पूर्ति हो पाती, परन्तु जब डच आधुनिक शिक्षा पद्धति को एक बार इण्डोनेशिया की धरती पर लाने का प्रयत्न कर चुके तो इससे जनसाधारण में निष्क्रिय बुद्धिजीवी वर्ग के जन्म को वे रोक न पाए। यही नहीं, इस नीति के अनुरूप देश के विभिन्न भागों को रेलमार्गों

---

1 **Culture system became the life belt on which the Netherlands kept afloat.**
—Hall, *A History of South-East Asia*, p. 547.

से जोड़ा गया। 1862 में अन्तर्देशीय तार सेवा प्रारम्भ हुई। 1866 में डाक सेवा आरम्भ हुई जो कि 1870 तक विकसित हो गई। 1882 में टेलीफोन कम्पनी की स्थापना हुई।

इस प्रकार **'एथिकल पालिसी' ने अप्रत्यक्ष रूप से इण्डोनेशिया के जीवन-स्तर में कतिपय परिवर्तन कर दिए इस तथ्य से नकारा नहीं जा सकता। चाहे इसके मूल में भावना जो भी रही हो, इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद के विकास में इस नीति ने कालान्तर में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।**

इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद के उदय के कारण
(CAUSES OF THE NATIONAL AWAIKNING IN INDONESIA)

इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद के उदय के निम्नलिखित कारण थे—

(अ) डच शासन की एकीकरण की प्रक्रिया—इण्डोनेशिया 300 से भी अधिक टापुओं का ऐसा द्वीप है जिसमें परम्पराओं, रहन-सहन, आदि में विलक्षण परिवर्तन दिखलाई देता है। इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद की प्रगति में यह विभिन्नता मलाया के समान बाधक बन सकती थी, किन्तु जिस प्रकार 1815 ई. के पश्चात् **डच सरकार ने इण्डोनेशिया का एकीकरण कर अपना साम्राज्यवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया उस प्रक्रिया ने इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद का विकास कर दिया।** डचों ने अपनी नैतिकता की नीति के अनुपालन में पश्चिमी शिक्षा का प्रवेश इण्डोनेशिया में किया। यद्यपि इस पश्चिमी शिक्षा का मूल उद्देश्य सामान्य इण्डोनेशियाई जनता को पश्चिमी शिक्षा से अवगत नहीं कराना था, यह तो इण्डोनेशिया में एक ऐसे वर्ग को शिक्षित करने का प्रयत्न था, जो कि इण्डोनेशिया के प्रशासन संचालन में डचों की सहायता करता, परन्तु पश्चिमी शिक्षा का प्रवेश इण्डोनेशिया में हो गया तो डच सामान्य वर्ग में उत्पन्न होने वाले निष्क्रिय बुद्धिजीवी वर्ग की बाढ़ को रोक नहीं पाए। इसके अलावा पाश्चात्य देशों से शिक्षा प्राप्त कर आए नवयुवक नवयुग की प्रवृत्तियों से भिन्न थे। इधर **डच सरकार ने नैतिकता की नीति के अनुपालन में देश के विभिन्न भागों को रेलपथों से जोड़ दिया।** 1862 में अन्तर्देशीय तार सेवा एवं 1866 ई. में डाक सेवा लागू हुई। 1882 ई. में टेलीफोन कम्पनी की स्थापना हुई। इस प्रक्रिया ने यद्यपि सम्पूर्ण इण्डोनेशिया में डच प्रशासन को मजबूत तो किया, परन्तु इण्डोनेशिया की जनता में राष्ट्रवाद का विकास भी कर दिया।

(ब) बुद्धिजीवियों का प्रभाव—इण्डोनेशिया से बाहर शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाने वाले शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो कुरान, रामायण एवं महाभारत, आदि से प्रेरणा प्राप्त की तो दूसरी ओर रूसो, वाल्टेयर, हेगल, लॉक एवं मार्क्स के विचारों से भी वे प्रभावित थे। अतः वे इण्डोनेशिया में भी साम्राज्यवाद की विरोधी विचारधारा के अनुरूप स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के पक्षपाती बन गए थे। यही कारण था कि **धार्मिक एवं यूरोपीय विचारधारा से प्रभावित ऐसे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग ने 1913 ई. में 'शरिकत इस्लाम' नामक संगठन को जन्म दिया।**

(स) अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव—विश्व के रंगमंच पर घटित होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का व्यापक प्रभाव हिन्देशिया में पड़ा। 1904-05 के रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद की लहरें पैदा कर दीं। इसके अतिरिक्त प्रथम विश्व-युद्ध तो इण्डोनेशिया के लिए तबाही बनकर सामने आया। इण्डोनेशिया का विश्व की परम्परागत मण्डियों से सम्पर्क टूट गया। अतः उद्योग एवं व्यापार चौपट हो गया। बेकारी एवं भुखमरी प्रारम्भ हुई। इस परिस्थिति में भी डचों के साम्राज्यवादी शोषण ने इण्डोनेशिया की सामान्य जनता में भीषण स्थिति उत्पन्न कर दी। अतः इस स्थिति में डच साम्राज्यवाद के विरोध में

विद्रोह होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त 1917 की रूसी क्रान्ति के प्रभाव ने तो इण्डोनेशिया में क्रान्तिकारी घटनाओं की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डच प्रशासन की एकीकरण की प्रक्रिया, बुद्धिजीवियों के प्रभाव तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रभाव ने इण्डोनेशिया में साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास कर दिया और इण्डोनेशिया में डच साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

राष्ट्रीय संघर्ष
(FREEDOM STRUGGLE)

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्देशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। 1908 ई. में जावा के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन यद्यपि राजनीतिक नहीं था, परन्तु सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। 1908 में उसादा ने पहली राष्ट्रीय संस्था बुदी उतोमो (Budi Utomo) की स्थापना की। इस संस्था का मूल उद्देश्य इण्डोनेशिया में राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों की स्थापना था। 1911 ई. में **हिन्देशिया के व्यापारिक हितों को प्रोत्साहन, पारस्परिक आर्थिक सहयोग, इण्डोनेशिया का बौद्धिक एवं भौतिक कल्याण एवं इस्लाम का प्रसार—इन उद्देश्यों को लेकर 'शरिकत इस्लाम' नामक संस्था का गठन हुआ।** शीघ्र ही 'शरिकत इस्लाम' ने लोकप्रिय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। शरिकत इस्लाम नामक संस्था संवैधानिक माध्यम से स्वायत्त शासन की पक्षपाती थी। 1916 ई. में एक राष्ट्रीय स्तर का सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें स्वायत्त शासन की प्राप्ति हेतु प्रस्ताव पास किया गया।

'शरिकत इस्लाम' पार्टी अपने कार्यों को बिना बाधा के संचालित नहीं कर सकी, क्योंकि इसी बीच इण्डोनेशिया में 'इण्डोनेशिया की कम्युनिस्ट पार्टी' का अस्तित्व सामने आया। इस पार्टी ने तुरन्त समाजवादी नारा देते हुए शरिकत इस्लाम पर दवाव डाला कि वह समाजवादी कार्यक्रम को अपनाए। इस पार्टी ने ठीक वही रवैया अपनाया जैसा कि भारत में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के प्रति अपनाया था। फलस्वरूप **शरिकत इस्लाम संस्था में फूट पड़ गई। उन कम्युनिस्टों ने जो शरिकत इस्लाम संस्था में थे, 1923 में अलग 'लाल शरिकत इस्लाम' नामक संस्था बना ली, जो कि कालान्तर में शरिकत रैयत के नाम से जानी गई।**

1926 ई. में कम्युनिस्टों ने जावा में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, परन्तु डच सरकार ने आसानी से विद्रोह को दबा दिया। इस विद्रोह की असफलता के पश्चात् भी परिस्थितियों का आकलन किए बिना कम्युनिस्टों ने 1927 ई. में पश्चिमी सुमात्रा में विद्रोह कर दिया। विद्रोह कुचल दिया गया। हजारों कम्युनिस्टों को पश्चिमी ईरियन भेज दिया गया, जहां उन्हें यातना शिविर में कैद कर लिया गया। डच सरकार ने अबकी बार इतना कठोर दमन किया था कि कम्युनिस्ट पार्टी फिर 1935 से पहले इण्डोनेशिया में उभर न सकी।

1827 ई. में इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष में डॉ. सुकर्नो (Dr. Sukarno) ने **'राष्ट्रीय पार्टी का गठन कर आन्दोलन को नई दिशा दी। अब 1927 ई. के पश्चात् चलने वाले आन्दोलन का लगभग पूर्ण केन्द्र सुकर्नो बन गए।** 1931 ई. में राष्ट्रीय पार्टी का नाम बदलकर 'इण्डोनेशिया पार्टी' रख दिया गया। डॉ. सुकर्नो ने पार्टी का उद्देश्य घोषित करते हुए कहा कि **'इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्रात्मक सुधारों के लिए संघर्ष करना हमारा लक्ष्य है।'** डॉ. सुकर्नो के

नेतृत्व ने इण्डोनेशिया की अन्य साम्राज्यवादी विरोधी शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की। फलतः अब 'इण्डोनेशिया पार्टी' के झण्डे के नीचे साम्राज्यवाद विरोधी संस्थाएं एकत्र होने लगीं।

इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान ने इण्डोनेशिया से डचों को खदेड़ बाहर किया। डॉ. सुकर्नो ने जापान से वार्ता कर जापान को इस बात के लिए राजी कर लिया कि जापान इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को मान्यता दे। जापान ने डॉ. सुकर्नो को इण्डोनेशिया का सर्वोच्च शासक एवं मुहम्मद हट्टा को सुकर्नो का सहायक घोषित किया। यही नहीं, सशस्त्र इण्डोनेशिया सेना का भी गठन किया गया। इधर द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान के पराजित होते ही **सुकर्नो ने 17 अगस्त, 1945 ई. को इण्डोनेशिया की जनता के पक्ष में इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए स्वयं को राष्ट्रपति एवं मुहम्मद हट्टा को उपराष्ट्रपति घोषित कर दिया।** इण्डोनेशिया में एक केन्द्रीय सरकार एवं अस्थायी संसद का निर्माण हुआ। एक राष्ट्रीय सेना का संगठन भी किया गया।

यह सब घटना उस समय घटित हुई जबकि हालैण्ड की सेना इण्डोनेशिया में नहीं थी। अतः हालैण्ड ने इस स्वाधीनता को मान्यता नहीं दी। इंग्लैण्ड एवं हालैण्ड की सेनाएं इण्डोनेशिया पहुंच गयीं। इंग्लैण्ड व हालैण्ड ने इण्डोनेशिया के नवीन गणराज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इण्डोनेशिया की गणतंन्त्रीय सरकार को जकार्ता नगर को अस्थायी राजधानी बनाना पड़ा, क्योंकि आक्रमणकारियों के प्रभाव के कारण उसे अपने पूर्व स्थान से हटना पड़ा, परन्तु **इण्डोनेशियाई सरकार डॉ. सुकर्नो के नेतृत्व में साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध करती रही। शीघ ही (नवम्बर, 1945 तक) सम्पूर्ण इण्डोनेशिया में साम्राज्यवादी शक्तियों के विरोध में जन आन्दोलन प्रारम्भ हो गया।** इधर इसी बीच ब्रिटेन ने जापानी सेना को इण्डोनेशिया से हटाने में सफलता प्राप्त कर ली तो इण्डोनेशियाई सरकार को जन-समर्थन प्राप्त होते देख ब्रिटिश सरकार ने सुकर्नो की गणतन्त्रीय सरकार को मान्यता दे दी। अतः 1946 ई. के मध्य में जावा, मदुरा एवं सुमात्रा द्वीपों में गणतन्त्रीय सरकार का आधिपत्य था। गणतन्त्रीय सरकार ने डच आधिपत्य का विरोध जारी रखा। अन्ततः मार्च 1947 ई. को हालैण्ड को इण्डोनेशियाई गणराज्य से समझौते के लिए बाध्य होना पड़ा। यह समझौता इतिहास में **'लिंगयाती समझौता'** (Linggodjati Agreement) के नाम से जाना जाता है।

इस समझौते के अनुबन्ध निम्नवत् थे :

(अ) जावा, सुमात्रा एवं मदुरा में स्थापित इण्डोनेशियाई गणराज्य को मान्यता प्रदान कर दी गई।

(ब) 1 जनवरी, 1949 तक डच एवं मित्र राष्ट्र उक्त क्षेत्रों से अपनी सेना हटा लेंगे।

(स) यह योजना कार्यरूप में परिणत की जाएगी कि सम्पूर्ण द्वीप समूह को हिन्देशिया, बोर्नियो एवं ग्रेट ईस्ट में संगठित किया जाएगा। संघीय सरकार को इस रूप में नीदरलैण्ड्स और डच वेस्ट इण्डीज से मिलाकर नीदरलैण्ड्स-हिन्देशियाई संघ बनाया जाएगा।

यह समझौता स्थायी नहीं हुआ, क्योंकि दोनों पक्ष इस समझौते से आन्तरिक रूप में सन्तुष्ट नहीं थे। जहां एक ओर गणराज्य को मान्यता प्रदान करना एक महत्वपूर्ण बात थी वहीं दूसरी ओर **'नीदरलैण्ड्स-इण्डोनेशियाई संघ'** बनाकर उसे स्थानीय शासन की बराबरी में लाकर खड़ा भी कर दिया गया था। आन्तरिक रूप से असन्तोष का ज्वार डच साम्राज्यवादियों से सहा

नहीं गया। डचों ने 20 जुलाई, 1947 को गणराज्यीय क्षेत्रों पर आक्रमण कर समझौते को तोड़ दिया। डचों की इस कार्यवाही का हिन्देशियाई गणराज्य ने जोरदार विरोध किया। इसी समय भारत के प्रधानमन्त्री ने एक वक्तव्य देकर हिन्देशियाई जनता में जोश भर दिया। 24 जुलाई के नेहरूजी ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि :

"किसी भी यूरोपीय राष्ट्र को चाहे वह कोई भी क्यों न हो, एशिया की जनता के विरुद्ध एशिया की भूमि पर सेना भेजने का अधिकार नहीं है। यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र ने ऐसा किया तो एशिया इसे सहन नहीं करेगा। एशिया की भूमि पर विदेशी सेनाओं का युद्ध करना एशिया का अपमान है।"

हिन्देशिया की गणराज्य सरकार ने मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में उठा दिया, परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ न्याय न कर सका। उसने लिंगयाती समझौते की पुष्टि तो की, परन्तु युद्ध के दौरान जो क्षेत्र हालैण्ड के अधीन आ गए थे उन्हें हालैण्ड के ही हाथ में रहने दिया। इधर इसी बीच सितम्बर, 1848 को कम्युनिस्टों ने सत्ता अपने हाथ में लेने के लिए डॉ. सुकर्नो की गणराज्यीय सरकार के प्रति विद्रोह कर दिया। आन्तरिक कलह का लाभ उठाकर डचों ने पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया। मामला पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ के पास गया, परन्तु इस बार भी वह न्याय न कर सका। इधर इस स्थिति को देखते हुए **भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने एशियाई सम्मेलन बुलाया। एशियाई सम्मेलन के आगे डचों को झुकना पड़ा। अतः समस्या का समाधान करने के लिए 'हेग' में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया।** 2 नवम्बर, 1949 को एक समझौते के अनुसार हालैण्ड को इण्डोनेशिया को एक प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य के रूप में मान्यता देनी पड़ी, किन्तु यह भी निश्चित हुआ कि एक नीदरलैण्ड इण्डोनेशियाई संघ का गठन किया जाएगा। समझौते के अनुसार संघ स्थापित किया गया, परन्तु 17 अगस्त, 1950 ई. को गणराज्य की सरकार ने संघ समाप्ति की घोषणा कर दी। मई, 1956 ई. में इण्डोनेशिया की संसद ने एक विधेयक पारित कर हेग समझौते के उन प्रावधानों की समाप्ति की घोषणा कर दी जो कि डच प्रभाव को बनाए हुए थे। **इस प्रकार, मई 1956 ई. में हिन्देशिया से पूर्णतः डच साम्राज्यवाद के भीषण शिंकजे का अन्त हुआ।**

इण्डोचायना
(INDO-CHINA)

हिन्दचीन (Indo-China) दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रांस के अधीन वह भू-भाग था जो वर्तमान में स्वतन्त्र देश उत्तर एवं दक्षिण वियतनाम, कम्बोडिया तथा लाओस के नाम से जाना जाता है। फ्रांसीसी आधिपत्य के समय इसे कोचीन चीन का फ्रांसीसी प्रदेश, तोंकिन, अन्नाम, लोओस एवं कम्बोडिया के फ्रांसीसी संरक्षित राज्य के रूप में जाना जाता था। इस भू-भाग में चावल, रबर, चाय, कॉफी, टिन, लोहा, कोयला, आदि का प्रभूत उत्पादन था। **अतः इस क्षेत्र को भी फ्रांसीसी साम्राज्यवाद का शिकार होना पड़ा।**

इण्डोचायना में फ्रांसीसी आधिपत्य

आधुनिक युग में हिन्दचीन में सर्वप्रथम कदम रखने वाले यूरोपियनों में पुर्तगाली थे, जिन्होंने 16वीं शताब्दी में व्यापारिक उद्देश्य से हिन्दचीन में कदम रखे। तदुपरान्त डच, स्पेनी, अंग्रेज एवं फ्रांसीसियों का आगमन हुआ, किन्तु फ्रांसीसियों ने ही हिन्दचीन में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। फ्रांस ने 1747 ई. के पश्चात् हिन्दचीन की राजनीतिक

गतिविधियों में हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया। **व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति एवं व्यापार में साम्राज्यवाद के विस्तार में बाधा बन सकने वाले डच एवं अंग्रेजों का मुकाबला करने के उद्देश्य से फ्रांस ने 'अन्नाम'[1] के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए।** 1787 ई. में कोचीन चीन एवं फ्रांस के मध्य सन्धि हुई। वस्तुतः इसका पूर्ण श्रेय अदरान के पादरी पिगनू डी बेहरान को जाता है। पिगनू डी जो कि धर्म-प्रचारक एवं सैनिक था, ने कोचीन चीन में राजा के विरुद्ध होने वाले विद्रोह को फ्रांसीसी सहायता से दबाने में राजा की सहायता कर राजा को फ्रांस के प्रभाव में ले लिया था। इस प्रकार अन्नाम एवं कोचीन चीन में फ्रांसीसी पादरियों ने मनमानी करना प्रारम्भ कर दिया। यह मनमानी इतनी बढ़ गई कि अन्नाम में पादरियों के विरुद्ध विद्रोह हो गया। ईसाइयों के विरुद्ध आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। अतः फ्रांस ने भी हिन्दचीन के देशी राजाओं से फ्रांस के राजनयिक सैनिक दूतों के हिन्दचीन आगमन का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव को हिन्दचीन के देशी शासकों ने मानने से इन्कार कर दिया। **इसी बीच फ्रांस की गद्दी पर नैपोलियन तृतीय पदासीन हुआ।** उसने स्पेन से सहायता लेकर एक नौसैनिक बेड़ा 1858 ई. अन्नाम भेज दिया। 1862 ई. में अन्नाम को बाध्य होकर एक सन्धि को स्वीकार करना पड़ा। इस सन्धि ने अन्नाम के तीन बन्दरगाह फ्रांसीसी एवं स्पेनी व्यापारियों के लिए अनावृत कर दिए। अन्नाम को कोचीन चीन के अपने अधिकार में लिए हुए कुछ क्षेत्र सौंपने का संकल्प लेना पड़ा। यही नहीं, अन्नाम को 40 लाख डालर युद्ध का हरजाना भी फ्रांस को देना पड़ा। साथ ही ईसाई पादरियों की सुरक्षा का वचन भी दिया गया। इस सन्धि ने हिन्दचीन में फ्रांसीसी प्रभुत्व का श्रीगणेश कर दिया। 1863 ई. में कम्बोडिया को संरक्षित राज्य के रूप में लाने में फ्रांस ने सफलता प्राप्त की। कालान्तर में चीन के शेष प्रान्तों को भी फ्रांस अपने आधिपत्य में ले आया।

1873 ई. में फ्रांसीसी सेना ने तोंकिन पर आक्रमण कर उसे हस्तगत कर लिया। 1874 में अन्नाम के राजा पर दबाव डालकर तोंकिन फ्रांस द्वारा व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त किए गए। **इन विशेषाधिकारों में 'राज्य क्षेत्रातीत सम्बन्धी अधिकार' की प्राप्ति सबसे महत्वपूर्ण थी।** तोंकिन की लाल नदी फ्रांस के व्यापार हेतु खोल दी गई। 1884 में अन्नाम के राजा को बाध्य किया गया कि वह अपनी विदेश नीति का संचालन फ्रांस की सहमति से करेगा। अन्नाम जो कि चीन के प्रभुत्व में था, बिना चीनी साम्राज्य की अनुमति से इस राजनीतिक निर्णय को कैसे कबूल कर सकता था? परन्तु चीन में 'मंचू प्रशासन' इतना निर्बल था कि उसने फ्रांस द्वारा उत्पन्न की गई इस स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लिया। 1893 ई. में थाइलैण्ड से मेकोंग नदी का पूर्व का भीतरी प्रदेश प्राप्त कर लिया गया। यह प्रदेश कालान्तर में लाओस के रूप में नया फ्रांसीसी संरक्षित प्रदेश बना। 1904 ई. में थाइलैण्ड के कुछ अन्य क्षेत्रों को कम्बोडिया एवं लाओस के अधीन लाने में फ्रांसीसी सफल हुए। **वियतनाम (अन्नाम), लाओस एवं कम्बोडिया तीनों को मिलाकर 'इण्डोचायना संघ' की स्थापना की गई।** इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक सम्पूर्ण इण्डोचायना (हिन्दचीन) में फ्रांसीसी प्रभुत्व स्थापित हो गया।

---

1 अन्नाम नाम मध्य एवं पूरे वियतनाम के लिए प्रयुक्त होता था। वियतनामी लोग सामान्यतः अन्नमी कहलाते थे।

औपनिवेशिक शासन
(COLONIAL RULE)

हिन्दचीन (इण्डोचायना) पर फ्रांसीसी प्रभुत्व स्थापित कर फ्रांस ने वहां की शासन व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि फ्रांस हिन्दचीन को फ्रांसीसी साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था, जिससे हिन्दचीन का फ्रांस के हित में अधिक से अधिक शोषण किया जा सके। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए फ्रांस ने हिन्दचीन में दो प्रकार की शासन व्यवस्था लागू की। कोचीन-चीन पर प्रत्यक्ष शासन स्थापित किया। शासन संचालन का नेतृत्व फ्रांसीसी गवर्नर जनरल को सौंपा गया। प्रशासन में गवर्नर जनरल की सहायता के लिए **एक सिविल सर्विस का गठन किया गया। इसमें अधिकांशतः फ्रांसीसी ही नियुक्त होते थे।**

तोंकिन, अन्नाम (वियतनाम), कम्बोडिया एवं लाओस में सत्ता को प्राचीन राजवंशों के ही हाथ में रहने दिया, परन्तु फ्रांस ने उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। एक प्रकार से अप्रत्यक्ष शासन लागू किया। इन राज्यों में **एक फ्रांसीसी रेजीडेण्ट नियुक्त किया गया, जिसका मुख्य कार्य इन क्षेत्रों का फ्रांसीसीकरण करना था।**

इस प्रशासनिक व्यवस्था के मूल में इण्डोचायना का आर्थिक शोषण प्रमुख लक्ष्य था। अतः वियतनाम फ्रांस के उद्योगों के लिए बाजार एवं कच्चे माल की प्राप्ति का प्रमुख स्रोत बन गया। चावल, कोयला, लोहा एवं रबर का निर्यात किया जाने लगा। शराब, चीनी, कांच एवं सीमेण्ट के कारखाने खोले गए। जमींदारों का एक ऐसा वर्ग पैदा किया गया जो कि फ्रांसीसियों का पिछलग्गू था। छोटे किसानों को जमींदारों के खेतों में बेगार करनी पड़ती थी। कुल मिलाकर **कृषक वर्ग की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं थी।**

इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी सरकार वियतनाम की जनता से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर भी वसूल करती थी, जिसमें 'नमक कर' अत्यन्त निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था। **नमक के उत्पादन का एकाधिकार फ्रांसीसी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था।**

शिक्षा के प्रसार की कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गई। इसका अन्दाजा इस बात से लग जाता है कि 1939 ई. में स्कूल जाने वाले बच्चों में 15 प्रतिशत ऐसे बच्चे थे जिन्हें स्कूल जाने की सुविधा प्राप्त नहीं थी। 18% से अधिक लोग निरक्षर थे। चिकित्सा व्यवस्था भी अत्यन्त सीमित थी जो कि शहरों में ही थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दचीन में फ्रांसीसी प्रशासन में हिन्दचीन की जनता का प्रत्येक क्षेत्र में भरपूर शोषण किया गया। हाल ने ठीक ही लिखा है, **"हिन्दचीन के फ्रांसीसी आधिपत्य वाले प्रदेशों में बराबर अशान्ति एवं अव्यवस्था बनी रही।"**[1]

हिन्दचीन में स्वतन्त्रता संघर्ष (हो-ची-मिन्ह के विशेष सन्दर्भ में)
(FREEDOM STRUGGLE IN INDO-CHINA WITH SPECIAL REFERENCE TO HO-CHI-MINH)

हिन्दचीन में राष्ट्रीयता के लक्षण बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही दृष्टिगोचर होने लगे। 1904-05 के रूस-जापान युद्ध एवं चीन की क्रान्ति ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था, परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसे बुद्धिजीवी वर्ग का

1 "Every where indeed the new French Empire unrest and rebellion were constant factors for many years." —Hall, *A History of South-East Asia*, p. 547.

कोई सहयोग था ही नहीं। वास्तव में, अन्नाम के बुद्धिजीवी वर्ग को फ्रांसीसी लेखकों ने अत्यन्त प्रभावित किया था। रूसो एवं वाल्टेयर के विचार उनकी प्रेरणा के स्रोत बन गए। कहा भी जाता है कि **हिन्दचीन में फ्रेंच शासन के सबसे बड़े शत्रु फ्रेंच भाषाविद् ही थे।** हिन्दचीन का जिस प्रकार शोषण किया जा रहा था उसके प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में उक्त तत्वों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि **हिन्दचीन में राष्ट्रीय आन्दोलन वियतनामियों तक ही सीमित था।** यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ यद्यपि बीसवीं सदी से आरम्भ हो गया था, परन्तु वह द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व हिन्दचीन में शक्ति को प्राप्त न कर सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि **हिन्दचीन की जनता में एकरूपता का अभाव था। कम्बोडिया एवं लाओस के लोग भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे, तो कोचीन-चीन का उपनिवेश था जिस पर फ्रांसीसी प्रभाव अधिक था।** जनसंख्या की दृष्टि से वियतनाम (अन्नाम) का विशेष स्थान था। यहां की संख्या हिन्दचीन की कुल जनसंख्या के 50 प्रतिशत से अधिक थी। इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व का हिन्दचीन का राष्ट्रवादी आन्दोलन ठोस रचनात्मक रूपरेखा पर आधारित नहीं था। इसमें जनसेवा की भावना भी नहीं थी। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व का राष्ट्रवादी आन्दोलन फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरोध में कोई विशेष सफलता प्राप्त न कर सका।

यह ठीक है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व का हिन्दचीन का राष्ट्रवादी आन्दोलन विशेष उपलब्धियों से रहित था, परन्तु इस काल में राष्ट्रवादी आन्दोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना अवश्य घटी। **यह घटना थी आन्दोलन के नेता के रूप में हो-ची-मिन्ह का पदार्पण।**

एशिया के महान युग पुरुष हो-ची-मिन्ह (Ho-chi-Minh) का जन्म 1890 ई. में उत्तरी अन्नाम में हुआ था। वियतनाम की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हो-ची-मिन्ह के विचारों के विषय में उसकी पुस्तक *'Le Proces de la Colanisation Francaise'* से पता चलता है कि **"वह लोकतान्त्रिक मध्यम वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता का पक्षपाती था और साम्यवाद की स्थापना करना चाहता था। वह बुद्धिजीवियों एवं कृषकों का समर्थन प्राप्त करना चाहता था।"** 1918 ई. में हो-ची-मिन्ह ने पेरिस में वियतनामी जन समिति (Association of Vietnamese Pepoples) की स्थापना की। 1930 में उसने हांगकांग में इसे वियतनाम साम्यवादी दल (Vietnam Communist Party) के नाम से पुनर्जीवन प्रदान किया। 1930 में इस दल का मुख्यालय हैफोंग कर दिया गया। **द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिन्दचीन में इस पार्टी को हो-ची-मिन्ह ने 'वियतमिन्ह' नाम से एक राष्ट्रवादी पार्टी के रूप में संगठित किया।** इस पार्टी का प्रमुख उद्देश्य हिन्दचीन से साम्राज्यवादियों को निष्कासित कर साम्यवादी गणराज्य की स्थापना था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में जापान ने हिन्दचीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, किन्तु प्रशासन अभी भी फ्रांस के हाथ में था, अतः **'वियतमिन्ह' ने हो-ची-मिन्ह के नेतृत्व में फ्रांसीसियों एवं जापानियों के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया।** युद्ध के अन्तिम दौर में जब जापान की हार निश्चित-सी लग रही थी, जापान ने फ्रांसीसियों का साथ छोड़ 1945 ई. में अन्नाम के राजा (बाओदाई) को शासनाधिकार सौंप दिए, अतः अब वियतमिन्ह का संघर्ष बाओदाई सरकार के विरोध में हो गया। 25 अगस्त, 1947 को बाओदाई को अपना पद त्यागना पड़ा और 2 सितम्बर, 1947 को लगभग सम्पूर्ण वियतनाम (टोंकिंग, अन्नाम एवं

कोचीन-चीन के क्षेत्र) पर साम्यवादियों का आधिपत्य स्थापित हो गया और राष्ट्रवादियों ने वियतनामी गणराज्य की स्थापना कर ली।

फ्रांस के लिए यह रुचिकर न था। वह तो हिन्दचीन में अपने प्रभुत्व को पूर्ववत् कायम रखना चाहता था। अतः फ्रांस ने हिन्दचीन को फ्रांसीसी महासंघ की योजना में लाने का प्रयत्न किया। इस योजना के अनुसार फ्रांस के विशाल साम्राज्य को एक संघ के रूप में परिवर्तित किया जाना निश्चित था। इस संघ में फ्रांस सहित उसके सभी उपनिवेश होने थे। कोचीन-चीन तथा चार संरक्षित राज्यों को मिलाकर हिन्दचीन में एक संघ बनाया जाना था जिसकी विदेश नीति फ्रांस के अधीन रहना निश्चित था। साम्राज्यवादी फ्रांस की इस योजना को हो-ची-मिन्ह ने मानने से इन्कार कर दिया। अब फ्रांस के लिए दो ही विकल्प थे या तो युद्ध करे या फिर कोई बीच का रास्ता निकाले। प्रथम विकल्प युद्ध की अपेक्षा फ्रांस ने फिलहाल समझौता करना श्रेयस्कर समझा और मार्च 1946 को **फ्रांस एवं वियतनाम की गणराज्यीय सरकार के मध्य 'हेनोई' नामक समझौता हो गया।** इस समझौते के अनुसार टोंकिन एवं अन्नाम को मिलाकर वियतनामी गणराज्य की स्थापना होगी। यह गणराज्य सेना, संसद एवं अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र होगा। फ्रांस इस गणराज्य को मान्यता प्रदान करेगा एवं कोचीन-चीन के भविष्य का निर्धारण लोकमत के आधार पर होगा।

समझौते के अनुरूप वियतनामी गणराज्य की स्थापना तो हो-ची-मिन्ह ने कर ली, परन्तु फ्रांस ने हवाई समझौते का पालन नहीं किया। कोचीन-चीन में लोकमत संग्रह नहीं कराया। इसके स्थान पर वहां अपने नियन्त्रण में एक कठपुतली सरकार स्थापित कर दी। कम्बोडिया एवं लाओस पर पहले से ही फ्रांसीसी आधिपत्य होने से अब पांच में से तीन स्थानों पर फ्रांस का आधिपत्य हो गया। साम्राज्यवादी पिपासा शान्त नहीं हुई। फ्रांस ने वियतनामी गणराज्य को सामरिक चुनौती दी। हो-ची-मिन्ह एवं उसके सहयोगियों ने गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ किया। दिसम्बर 1946 में फ्रांस व वियतनामी गणराज्य के मध्य पुनः यह आरम्भ हो गया। 24 मार्च, 1947 को हो-ची-मिन्ह ने स्पष्ट रूप से कहा, **"फ्रांस वियतनाम को उसी प्रकार खाली कर दे जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका ने फिलीपीन और ब्रिटेन ने भारत को आजाद किया है। ऐसा करने पर ही वियतनामी जनता का सहयोग प्राप्त होगा। अन्यथा वियतनामी विरोध करते रहेंगे।"** इस पर बोलार्त (Bollaert) ने स्पष्ट रूप से कहा, **"हम लोग डटे रहेंगे, संविधान में फ्रैंच यूनियन का प्रावधान है, जिसमें हिन्दचीन एक अभिन्न अंग है, जो गणतन्त्र की एक संस्था है।"**[1]

फ्रांस इतने से ही शान्त नहीं हुआ। लन्दन स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने बाओदाई जो कि 1945 में वियतनाम गणराज्य स्थापित होने पर 25 अगस्त, 1945 को राज्य सिंहासन छोड़कर लन्दन बस गया था, से भेंट की और मार्च 1949 में फ्रांस के राष्ट्रपति एवं बाओदाई के बीच एक सन्धि हो गई। सन्धि के अनुसार फ्रांस ने बाओदाई को वियतनाम का राजा मान लिया। बांओदाई के नेतृत्व में वियतनाम की 'अस्थायी सरकार' बना दी गई, परन्तु वियतनामी गणराज्य के रहते बाओदाई कैसे वियतनाम में शासन कर सकता था? अतः वियतनाम में फ्रांसीसी सेनाएं घुसने लगीं। वियतनाम की जनता ने हो-ची-मिन्ह के नेतृत्व में आक्रमणकारियों

1 **"We shall remain. The Constitution makes the French union, while Indo-China is an integral part, an institution of the republic."**

—Hall, *A History of South-East Asia*, p. 849.

का जमकर मुक़ाबला किया। फ्रांस युद्ध की स्थिति से थक चुका था। वह अब समझौते का इच्छुक था, परन्तु इसी बीच संयुक्त राज्य अमेरिका हिन्दचीन को साम्यवादियों का गढ़ नहीं बनने देना चाहता था, अमेरिका के युद्ध में कूदने का तात्पर्य था तृतीय विश्वयुद्ध का आरम्भ, क्योंकि सोवियत संघ साम्यवादियों का पहले से ही समर्थन कर रहा था। अतः **स्थिति की भयंकरता को देख ब्रिटेन व फ्रांस ने युद्ध का विरोध किया और हिन्दचीन की समस्या को सुलझाने के लिए मई 1954 ई. में जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। 21 जुलाई, 1954 को समझौते के मसविदे पर 19 देशों ने हस्ताक्षर कर दिए।**

इस समझौते द्वारा वियतनाम को दो भागों में बांट दिया गया। उत्तरी वियतनाम एवं दक्षिणी वियतनाम। हनोई नदी के उत्तर के सारे प्रदेश उत्तरी वियतनाम और दक्षिण के सारे प्रदेश दक्षिणी वियतनाम कहलाए। विभाजन की यह व्यवस्था अस्थायी रखी गई। यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि जुलाई 1956 से पहले सम्पूर्ण वियतनाम में चुनाव कराकर लोकमत की सहमति के अनुसार वियतनाम का एकीकरण कर दिया जाएगा। लाओस एवं कम्बोडिया को स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया जाए। समझौते का अनुपालन करते हुए उत्तरी वियतनाम में हो-ची-मिन्ह की साम्यवादी सरकार का गठन हुआ। हो-ची-मिन्ह गणराज्य का राष्ट्रपति बना। दक्षिणी वियतनाम पर बाओदाई का शासन स्थापित हुआ, परन्तु समझौते के पश्चात् बाओदाई के फ्रांस में रहने के कारण शासन संचालन प्रधानमन्त्री न्यो दिन्ह दियम के हाथ में आ गया। **दियम पर अमेरिका का व्यापक प्रभाव था। 1955 में दक्षिणी वियतनाम में लोकमत को देखते हुए गणतान्त्रिक सरकार का गठन हुआ और 'दियम' राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री बन गया।**

समस्या का अन्त यहीं पर नहीं हो गया। अमेरिका ने जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर तो किए ही नहीं थे। दक्षिणी वियतनाम का राष्ट्रपति 'दियम' अमेरिका के प्रभाव में था। इधर समझौते के अनुसार 1956 से पूर्व वियतनाम के एकीकरण के लिए जनमत संग्रह होना था। हो-ची-मिन्ह इस एकीकरण का पक्षपाती था, परन्तु 'दियम' ने अमरीकी प्रभाव में आकर हो-ची-मिन्ह द्वारा वियतनाम के एकीकरण के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फलस्वरूप 1957 ई. में द्वितीय वियतनामी युद्ध आरम्भ हो गया। 1968 में अमेरिका युद्ध में खुलकर सामने आ गया। अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम पर भयंकर बमबारी की। हो-ची-मिन्ह के नेतृत्व में संघर्ष जारी रहा। इसी बीच 1 सितम्बर, 1969 को हो-ची-मिन्ह का देहान्त हो गया। हो-ची-मिन्ह ने अपने वसीयतनामे में **यही इच्छा व्यक्त की थी कि साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष तब तक जारी रहे, जब तक कि दक्षिणी वियतनाम को भी मुक्ति नहीं मिल जाती।"**

हो-ची-मिन्ह की मृत्यु साम्यवादियों एवं हिन्दचीन के स्वतन्त्रता आन्दोलन में एक कड़ी का अन्त होना था, परन्तु साम्यवादियों ने हिम्मत से काम लेते हुए संघर्ष जारी रखा। वियतनाम के मनोबल को देखकर अमेरिका को सन्धि वार्ता के लिए बाध्य होना पड़ा। अन्ततः 1973 में पेरिस के समझौते के तहत युद्ध का अन्त हो गया। पेरिस के समझौते के अनुसार उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम के एकीकरण के लिए जनमत संग्रह की बात को मान लिया गया, परन्तु जब तक जनमत संग्रह नहीं हो जाता दक्षिणी वियतनाम में 'थियू' राष्ट्रपति के पद पर रहेगा। अमेरिका की सेना वियतनाम से वापस चली गई।

पेरिस के शान्ति समझौते से स्थायी शान्ति स्थापित न हो सकी। थियू दक्षिणी वियतनाम पर अपना अधिकार बनाए रखना चाहता था। इधर साम्यवादी शीघ्र जनमत संग्रह के पक्षपाती

थे। अतः 1975 ई. में उत्तर वियतनाम ने दक्षिण वियतनाम पर आक्रमण कर उसे युद्ध में शिकस्त दी। 30 अप्रैल, 1975 को दक्षिणी वियतनाम के सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। **इस प्रकार 1975 में दोनों क्षेत्रों का एकीकरण सम्भव हो पाया। शीघ्र ही लाओस एवं कम्बोडिया में भी साम्यवादी शासन स्थापित हो गया।**

फिलिपीन
(PHILLIPINES)

दक्षिणी प्रशान्त महासागर में स्थित 3,141 छोटे-बड़े द्वीपों का समूह फिलिपीन एशिया के दक्षिण-पूर्वी तट से 500 मील दूर स्थित है। फिलिपीन के प्राचीन इतिहास के विषय में कोई विशेष जानकारी उलपब्ध नहीं हो पाती है। 15वीं शताब्दी में फिलीपीन में इस्लाम ने प्रवेश किया और 16वीं शताब्दी के मध्य तक वहां इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार भी काफी हो गया था। जिस समय फिलीपीन में इस्लाम का प्रसार हो रहा था इसी समय पश्चिमी देशों ने फिलिपीन में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था।

स्पेन का प्रभुत्व

फ़िलिपीन में सबसे पहले प्रवेश करने वाली पश्चिमी जातियों में पुर्तगाली थे। पुर्तगाली व्यापार को माध्यम बनाकर यहां राजनीतिक प्रभुत्व कायम करना चाहते थे, परन्तु उनके इस स्वप्न को फिलिपीन में स्पेनी आगमन ने पूर्ण न होने दिया। 1521 ई. में स्पेनी यात्री फर्डिनण्ड मैगेल्लन फिलिपीन पहुंचा। उसने फिलिपीन पर प्रभुत्व कायम करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह असफल रहा। स्पेन के प्रभुत्व को कायम करने के इस प्रयत्न में उसकी मृत्यु हो गई। स्पेन ने मैगेल्लन की मृत्यु का बहाना बनाते हुए फिलिपीन पर आधिपत्य स्थापित करने का दृढ़ संकल्प लें लिया। स्पेन के सम्राट फिलिप द्वितीय द्वारा **'माइगूल लोपेज डी लोग्याजी'** (Migguel Lopez de Legazhi) को फिलीपीन द्वीप समूह पर आधिपत्य स्थापित करने से पूर्व दो स्पेनी अभियान असफल हो चुके थे, परन्तु माइगूल ने 1565 ई. में कैबू (Cebu) में एक़ स्पेनी बस्ती कायम करने में सफलता प्राप्त कर ली। 1571 में मनीला नगर की स्थापना की गई। मनीला एक समृद्ध बन्दरगाह था। हाल के शब्दों में, **"मनीला के जहाज वहां के आर्थिक जीवन के मुख्य अंग बन गए। मध्य ल्यूजोन में उत्पन्न होने वाले चावल का निर्यात इसी बन्दरगाह से होता था। अतः यह द्वीप समूह का केन्द्र बन गया।"**[1] स्पेन ने मनीला को राजधानी बनाया और सम्पूर्ण फिलिपीन पर प्रभुत्व कायम करने की ओर कदम बढ़ाए।

मनीला को केन्द्र बनाने तक स्पेनियों को पुर्तगालियों से मुकाबला भी करना पड़ा था, परन्तु पुर्तगाली उनके सामने टिक न सके। 16वीं शताब्दी के अन्त तक लूजोन (Luzon) से लेकर उत्तर में मिंडानाओ (Mindanao) तक पूरा तटवर्ती प्रदेश एवं निचले क्षेत्रों पर स्पेन ने प्रभुत्व कायम कर लिया, परन्तु 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्पेन को डचों के विरोध का सामना करना पड़ा। वे स्पेनी सत्ता को फिलिपीन से समाप्त करना चाहते थे। डचों ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक अभियान भी किए, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। 1648 ई. के पश्चात् फिलिपीन में डच आक्रमण भी बन्द हो गए, परन्तु स्पानियों ने अपना प्रभुत्व

1 **"The Manila galleon became the economic life line of the colony. It enabled Manila to maintain its position as the metropolis of the archipelago."**
—**Hall, *A History of South-East Asia*, p. 850.**

स्पेन में बनाए रखा। **स्पानियों की इस सफलता को हाल महोदय दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना मानते हैं।**

इस प्रकार सभी प्रतिरोधों का सामना करते हुए स्पेन ने फिलिपीन को अपने प्रभुत्व में ले लिया और फिलीपीन का मनमाने ढंग से पश्चिमीकरण किया और अपने हित में शोषण किया। **सर्वप्रथम अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप फिलिपीन में ईसाई धर्म का व्यापक प्रसार किया।** फिलिपीनियों को पकड़-पकड़ कर ईसाई धर्म अपनाने पर बाध्य किया गया। केवल दक्षिण फिलिपीन में जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी, ईसाई धर्म का प्रसार करने में वे असफल रहे, अन्यथा शेष फिलिपीन में ईसाई धर्म की तूती बोलने लगी। यही कारण है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देशों में फिलिपीन ही ऐसा देश है जहां ईसाई सबसे अधिक हैं। स्पेन की विजय से पूर्व (सोलहवीं शताब्दी में) फिलिपीन में कोई सशक्त राजनीतिक ढांचा नहीं था। स्पेन ने फिलीपीन में एक नियन्त्रण व्यवस्था लागू की। **मनीला में एक केन्द्रीय सरकार का गठन किया गया।** शासन का प्रमुख गवर्नर जनरल को बनाया गया। वही सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और उच्च न्यायालय पर उसका नियन्त्रण स्थापित किया गया। न्यायिक तौर पर गुलाम प्रथा निषिद्ध घोषित कर दी गई। कृषि व्यवस्था के सम्बन्ध में स्थायी कृषि अस्तित्व में आई। जमींदारों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया। यही नहीं, फिलिपीन में पश्चिमी कानून, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार एवं संस्थाओं को लाने का प्रयत्न किया गया। इसके लिए गिरजाघरों की स्थापना की गई। स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा को विशेष बल दिया गया। उच्च शिक्षा सीमित थी, उस पर पादरियों का नियन्त्रण स्थापित किया गया। 1880 ई. तक कुछ अध्ययनकर्ताओं को यूरोप भी भेजा गया। **यूरोप में शिक्षा के लिए जाने वाले इस वर्ग में राष्ट्रवादिता की भावना उत्पन्न हो गई। इस वर्ग ने फिलीपीन में स्पेन के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। यह छात्र आन्दोलन इतिहास में 'प्रचार आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है।** इस आन्दोलन का नेतृत्व 'जोने रिसाल' ने किया। उसने 'सामाजिक कैंसर' नामक उपन्यास भी लिखा। 1892 में रिजाल ने लीगा फिलिपीना नामक संस्था का गठन किया। यद्यपि रिजाल ने कहीं भी स्वतन्त्रता की बात नहीं कही थी, परन्तु उसे 1846 ई. में गिरफ्तार कर फांसी पर लटका दिया गया।

रिजाल को फांसी दिए जाने से फिलीपीन की जनता क्रोधित हो उठी। **'आन्द्रे बोनीफोरियो' (Andre Boniforeio) नामक महिला ने 'कटीपुर्नम' (Katipuram) नामक राष्ट्रवादी संस्था गठित की** और अब स्पानियों को फिलीपीन से बाहर निकालने के लिए विद्रोह कर दिया। 1896 में विद्रोह की अग्नि मनीला के अनेक प्रान्तों में फैल गई, परन्तु स्पेनी सेना ने क्रूरता से विद्रोहियों का दमन किया। 1897 में स्पेनी सरकार एवं क्रान्तिकारियों के बीच युद्ध विराम हो गया। एग्वीनाल्डो व अन्य क्रान्तिकारी नेताओं ने हांगकांग जाकर शरण ली। स्पेनी सरकार ने भी अब समझ लिया कि फिलिपीन में कतिपय सुधार अपेक्षित है, परन्तु इसी बीच 1898 ई. में अमेरिका एवं स्पेन के बीच युद्ध छिड़ जाने से एग्वीनाल्डो पुनः फिलिपीन आ गया और अमेरिका की सहायता से स्पानियों को फिलिपीन से बाहर निकालने के प्रयत्न में जुट गया। अमरीकी एडमिरल डीवी की सहायता से उसने मनीला के अनेक दक्षिणी प्रान्तों को स्पेन के चंगुल से छुड़ा लिया और 12 जून, 1898 को फिलिपीन की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। जनवरी 1899 तक तैयार किए गए संविधान के अनुसार सरकार गठित की गई

जिसका अध्यक्ष स्वयं एग्बीनाल्डो निर्वाचित हुआ, परन्तु इसी बीच अमेरिका एवं स्पेन में सन्धि हो गई जिसके अनुसार फिलिपीन पर अमेरिका का प्रभुत्व मान लिया गया। फरवरी 1899 में अमेरिकी कांग्रेस ने सन्धि का समर्थन कर दिया। इस प्रकार अब एग्बीनाल्डो सरकार व अमेरिका के बीच युद्ध प्रारम्भ हो गया। **दो वर्ष के भीतर ही अमेरिका ने फिलिपीन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार 1901 ई. तक पूरा फिलिपीन स्पेन के आधिपत्य से मुक्त तो हो गया, परन्तु उस पर अब अमेरिका का आधिपत्य स्थापित हो गया।**

अमेरिका के शासन में फिलिपीन
(PHILLIPINES UNDER THE AMERICAN RULE)

फिलिपीन्स पर अमेरिका का आधिपत्य स्थापित होना अमेरिका के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। स्वयं अमेरिका के राष्ट्रपति ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा था, **"इस अपूर्व उपलब्धि के समय हमारे देश के महान हृदय में घमण्ड या विजय के प्रलोभन का स्पन्दन नहीं, बल्कि यह सन्तोष है कि यह विजय न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिए हुई है।"** न्यायपूर्ण उद्देश्य की दुहाई देने वाले अमेरिका ने फिलिपीन की स्थिति का अवलोकन करने के लिए एक आयोग का गठन किया। आयोग ने फिलिपीन से वाशिंगटन लौटकर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में कहा गया कि **"फिलीपीन में प्रादेशिक शासन प्रणाली लागू होनी चाहिए। फिलिपीनवासी अभी स्वतन्त्रता के लिए तैयार नहीं हैं। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दी गई तो वे संभाल नहीं पाएंगे।"** इस रिपोर्ट को आधार मानकर अमेरिका ने फिलिपीन पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया।

अमेरिका ने फिलिपीन की शासन-व्यवस्था को संगठित किया। एक अमरीकी गवर्नर जनरल की नियुक्ति की गई। गवर्नर जनरल की मन्त्रिपरिषद् एवं विधायिका के रूप में 1900 ई. से कार्य करते चले आने वाले फिलिपीनी आयोग को 1907 में लागू की गई नई व्यवस्था के अन्तर्गत उच्च सदन का नाम दिया गया। 80 सदस्यों की एक सभा का भी गठन किया गया। इस सभा के सदस्यों का निर्वाचन सीमित मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से करने की व्यवस्था की गई। 1916 **में अमेरिका की संसद में पारित 'जौन्स एक्ट' में यह घोषित किया गया कि फिलिपीन में स्थायी शासन स्थापित होने के पश्चात् उसे स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी।** इस एक्ट के पास होते ही फिलिपीनी आयोग को जो कि उच्च सदन के रूप में कार्यरत था समाप्त कर दिया गया। इस उच्च सदन के स्थान पर एक सीनेट स्थापित की गई। इसके सदस्यों की संख्या 24 रखी गई। सभी साक्षर फिलिपीनी अपने मताधिकार का प्रयोग कर इन 24 सदस्यों को निर्वाचित करते थे। सीनेट सैन्य एवं विदेश नीति के सन्दर्भ में अधिकार विहीन रखी गई। **ये अधिकार अमेरिका के हाथों में ही रखे गए, फिर भी जौन्स एक्ट फिलिपीन को स्वायत्तता प्रदान करने की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कार्य था।**

शिक्षा के क्षेत्र में फिलिपीन के विकास से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु जहां तक **आर्थिक क्षेत्र** का प्रश्न है फिलिपीन का शोषण ही हुआ। जमींदार वर्ग की विशेष उन्नति हुई। कृषकों की स्थिति दयनीय हो गई। इसका स्पष्ट प्रमाण 1920 से 1940 के मध्य लूजोन में होने वाले कृषकों के तीन विद्रोह थे। **व्यापार के क्षेत्र** में अमेरिका को विशेष लाभ हुआ, क्योंकि उस माल को सीमा शुल्क से रहित कर दिया, जोकि अमेरिका से फिलिपीन आता था। अमेरिका की मांग के अनुरूप फिलिपीन में ईख की खेती पर जोर दिया गया, जिससे

अधिक से अधिक 'चीनी' (शक्कर) अमेरिका को निर्यात हो सके। मिलों एवं बागानों की स्थापना हुई, परन्तु इनके मालिक अमरीकी ही थे, अतः विशेष लाभ उनको ही मिलता था।

अमेरिका ने जिस प्रकार फिलिपीन का राजनीतिक एकीकरण करने का प्रयत्न किया एवं शिक्षा का प्रसार किया उससे फिलिपीन में राष्ट्रवादिता का विकास हुआ। अतः पार्टी डो नेकियो-नेपिस्टा (Parti do-Nauonapista) अस्तित्व में आई। इस पार्टी का प्रमुख उद्देश्य फिलिपीन को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कराना था। सैर्गियो ओस्मीना (Sergio Osmena) एवं मेनुअल कुई-ज्यों (Manuel Que-Zon) ने इस पार्टी को महत्वपूर्ण नेतृत्व प्रदान किया। इसके प्रभावपूर्ण नेतृत्व के कारण ही 1907 से फिलिपीन की स्वतन्त्रता प्राप्ति तक फिलिपीनी राजनीति में इस पार्टी ने अपना स्थान बनाए रखा।

अमेरिका इस बात को भली-भांति समझ गया था कि फिलिपीन में उठ रहे राष्ट्रवाद के उफान को रोकना असम्भव है। **अतः 1934 में अमरीकी संसद में Tydings Meduffie Act पारित घोषित किया गया।** इस एक्ट के अनुसार यह दस वर्ष तक कार्यरत रहेगी। इन दस वर्षों में फिलिपीन की सैन्य व विदेशी नीति के क्षेत्र में अमेरिका का नियन्त्रण रहेगा, परन्तु फिलिपीनवासी अपने संविधान का गठन करेंगे और इस संविधान को अमेरिका का राष्ट्रपति अन्तिम स्वीकृति प्रदान करेगा। इस एक्ट को कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक संविधान का निर्माण किया गया। इस संविधान को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने स्वीकृति प्रदान की। **15 नवम्बर, 1935 को कामनवैल्थ का भी उद्घाटन किया गया।** कामनवैल्थ में अध्यक्ष का पद मैनुअल कुइ-जों ने संभाला और उपाध्यक्ष के पद पर सैर्गियो ओस्मीना प्रतिष्ठित हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के फिलिपीन पर आक्रमण करने से स्थिति में परिवर्तन आया। मई 1941 ई. को मनीला सरकार को जापान के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। अब 30 सदस्यों के एक कार्यकारी आयोग का गठन हुआ जो कि सितम्बर 1943 तक कार्यरत रहा। **सितम्बर 1943 के पश्चात् स्वतन्त्र फिलिपीनी गणराज्य की स्थापना की गई। इस गणराज्य के अध्यक्ष पद पर 'जोसे लॉरेल' (Lose Laurel) प्रतिष्ठित हुआ, परन्तु इस व्यवस्था का विरोध कुछ फिलिपीनियों ने किया।** ऐसे फिलिपीनियों ने अमरीकी अधिकारियों का सहयोग प्राप्त कर हुकवलाहप (Hukbalahep) नामक छापामार संगठन का गठन किया। द्वितीय विश्वयुन्द्ध के अन्तिम दौर में जापान की पराजय ने स्थिति को बल दिया। अक्टूबर, 1944 में अमेरिका की सेनाएं फिलिपीन में आईं। जापानियों के प्रभुत्व को समाप्त कर एक वार पुनः अमेरिका ने अपना असैनिक शासन स्थापित कर लिया। फिलिपीन की सरकार के राष्ट्रपति **मैनुअल कई-जों** की 1944 में मृत्यु हो जाने से सैर्गियो ओस्मीना को राष्ट्रपति बनाया गया। यह सरकार पूर्णतः अमरीकी सैन्य शक्ति पर निर्भर थी। **'हुकबलाहप' नामक दल का अस्तित्व अभी भी फिलिपीन में बना था।** वह फिलिपीन के प्रशासन में अमेरिका के हस्तक्षेप का विरोधी था। अतः सरकार व दल के मध्य संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। इसी बीच अमेरिका ने 4 जुलाई, 1946 ई. को फिलिपीन को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित किया, परन्तु अमेरिका ने सैनिक समझौते के तहत फिलिपीन में सैनिक अड्डे प्राप्त कर लिए और फिलिपीन की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया। **फिलिपीन व्यापार कानून जिसे बेल कानून भी कहा जाता है, के तहत फिलिपीन के आर्थिक जीवन पर अमेरिका का प्रभाव बना रहा।** इस प्रकार सैनिक व

आर्थिक क्षेत्र में की गई सन्धि ने फिलिपीन की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया, अमरीकी सहायता से हुकबलाहप दल का दमन किया गया और अप्रैल, 1946 में प्रथम आम चुनाव हुए, इसमें राष्ट्रपति आस्मीना की पराजय हुई और रौक्सास (Roxas) की विजय हुई रौक्सास सरकार ने हुकबलाहप दल से प्रारम्भ में समझौते की नीति का पालन किया, परन्तु असफलता मिलने पर दल का दमन प्रारम्भ कर दिया। 1949 में रौक्सास की मृत्यु के पश्चात् क्वीरीनो राष्ट्रपति बना। उसके रक्षामन्त्री रेमन मैगसायसाय ने उग्रनीति का पालन करते हुए दल का दमन जारी रखा। नवम्बर 1951 में पुनः चुनाव हुए। मैगसायसाय राष्ट्रपति बना, अब उसने पूर्णतः दल का दमन कर दिया। 1954 ई. में फिलिपीन सियाटो का सदस्य बना। अमेरिका से उसने 99-वर्षीय पारस्परिक सहायता सन्धि की है, जिसके तहत् फिलिपीन की भूमि पर अभी अमरीकी सैनिकों का जमाव है।

प्रश्न

1. प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध के कारणों, घटनाओं एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए।
2. द्वितीय आंग्ल-बर्मा के युद्ध कारणों, घटनाओं एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए।
3. तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. बर्मा में राष्ट्रीय जागृति के कारणों व परिणामों का उल्लेख कीजिए।
5. बर्मा के स्वाधीनता संघर्ष का विवरण प्रस्तुत कीजिए।
6. आंग सान के नेतृत्व में बर्मा के स्वाधीनता संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
7. बर्मा के स्वाधीनता संघर्ष में आंग सान के योगदान का परीक्षण कीजिए।
8. बर्मा में ब्रिटिश आधिपत्य कैसे स्थापित हुआ ? आंग सान के नेतृत्व में इस आधिपत्य के विरोध पर प्रकाश डालिए।
9. मलाया में ब्रिटिश आधिपत्य पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
10. द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व मलाया में राष्ट्रवाद के विकास में आने वाली बाधा के कारणों का विवरण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कीजिए कि द्वितीय विश्वयुद्ध का मलाया में राष्ट्रवाद के विकास के सन्दर्भ में प्रभाव पड़ा?
11. मलाया के स्वाधीनता संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
12. इण्डोनेशिया में डच आधिपत्य पर प्रकाश डालिए।
13. इण्डोनेशिया में डच शासन पर एक लेख लिखिए।
14. इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद के विकास के कारणों पर प्रकाश डालिए।
15. इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष का विवरण प्रस्तुत कीजिए। (गोरखपुर, 1990)
16. इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष में सुकर्णो के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
17. इण्डोचायना में फ्रांसीसी आधिपत्य किस प्रकार स्थापित हुआ ? इसके क्या परिणाम हुए ? (गोरखपुर, 1990)
18. इण्डोचायना के स्वतन्त्रता आन्दोलन पर प्रकाश डालिए।
19. इण्डोचायना के स्वतन्त्रता संघर्ष में हो-ची-मिन्ह के योगदान का परीक्षण कीजिए।
20. फिलिपीन में स्पेनी आधिपत्य पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
21. फिलिपीन पर अमेरिका के आधिपत्य पर संक्षिप्त नोट लिखिए।

18

चीन, इण्डोचायना, मिस्र एवं इण्डोनेशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन

[ANTI-IMPERIALIST MOVEMENTS IN CHINA, INDO-CHINA, EGYPT AND INDONESIA]

भूमिका
(INTRODUCTION)

आधुनिक विश्व का इतिहास उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की गाथा एवं उसके परिणामों से रंजित है। विश्व के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक धरातल को इन दोनों प्रवृत्तियों ने अपने-अपने ढंग से प्रभावित किया। विश्व की बड़ी शक्तियों जिनमें फ्रांस, इंगलैण्ड, जापान, रूस एवं अमरीका विशेष उल्लेखनीय हैं, ने अपनी साम्राज्यवादी पिपासा से यूरोप ही नहीं एशिय को भी प्रभावित किया। चीन, इण्डोचायना, मिस्र एवं इण्डोनेशिया भी विश्व की महाशक्तियों की इसी साम्राज्यवादी लिप्सा के शिकार बने। साम्राज्यवादी देशों के अतिशोषण ने शीघ्र ही वहां राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दे दिया। **संक्षेप में चीन, इण्डोचायना, मिस्र एवं इण्डोनेशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन की रूपरेखा निम्नवत् है :**

चीन
(CHINA)

चीन की भौगोलिक स्थिति ने चीन के राजनीतिक इतिहास को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इसके उत्तर में वाहरी मंगोलिया (Outer Mangolia), दक्षिण में भारत, पूर्व में प्रशान्त महासागर एवं पश्चिम में रूस है। प्राचीन चीनी सभ्यता का जन्म एवं विकास यांगत्सी, सिकियांग एवं ह्वांगहो नदी घाटियों में हुआ। विशाल पर्वत शृंखलाओं से युक्त चीन अपनी प्राकृतिक सीमाओं के कारण बहुत दिनों तक बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा, परन्तु यूरोपीय जातियों की औपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप उसे भी यूरोपीय साम्राज्यवादियों का शिकार होना पड़ा। यह ठीक है कि यूरोपीय जातियों ने चीन पर पूर्णतः आधिपत्य स्थापित

नहीं किया, परन्तु वे चीन के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में पूर्ण सफल हुईं।

चीन के इतिहास में उसकी लूट-खसोट का जो युग आरम्भ हुआ था उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना अमरीका की उन्मुक्त द्वार नीति थी। रूस, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान एवं इटली ने अफीम युद्धों के पश्चात् जिस प्रकार चीनी खरबूजे का आपस में बंटवारा प्रारम्भ कर दिया था, उसमें अमरीका ने कोई भाग नहीं लिया था। यह ठीक है कि प्रथम अफीम युद्ध के पश्चात् अमरीका ने चीन में अनेक सुविधाओं को प्राप्त किया था, परन्तु जिस प्रकार अन्य यूरोपीय देशों ने चीन को रौंदना प्रारम्भ किया था अमरीका उससे अलग था। प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जापान के द्वार पश्चिम के लिए खोलने वाला अमरीका इस लूट- खसोट में पीछे कैसे रह गया? वास्तव में उस समय अमरीका स्पेन से गृह युद्ध में व्यस्त था, परन्तु जैसे ही स्पेन युद्ध में अमरीका विजयी हुआ तो उसे प्रशान्त महासागर में फिलीपाइन द्वीप समूह प्राप्त हो गए। इधर अमरीका के औद्योगीकरण ने उसे कच्चे माल की प्राप्ति एवं बाजारों की आवश्यकता को महसूस कराया। **अतः चीन में प्रत्यक्ष रूप से भाग न ले पाने के कारण अमरीका ने अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए एक नीति का अनुपालन किया जिसे इतिहास में उन्मुक्त द्वार नीति के नाम से जाना जाता है।**

अमरीका द्वारा प्रस्तावित उन्मुक्त द्वार नीति के अनुबन्ध

अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमरीका ने 6 सितम्बर, 1899 ई. को जर्मनी, रूस, फ्रांस, इंगलैण्ड, इटली तथा जापान के पास अपनी उन्मुक्त द्वार नीति का प्रस्ताव सहमति हेतु भेजा। इसमें कहा गया कि सभी देश विधिवत् आश्वासन दें तथा **अन्य सम्बन्धित देशों से आश्वासन प्रदान करने में सहयोग प्रदान करें कि—**

(अ) चीन के बन्दरगाहों में सन्धियों के माध्यम से जो व्यापारिक अधिकार विदेशी राज्यों को प्राप्त हैं, वे यथावत् बने रहेंगे चाहे अब वे बन्दरगाह किसी भी विदेशी राज्य के पट्टे पर हों या उसके प्रभाव क्षेत्र में हों।

(ब) अपने पट्टे पर लिए हुए अथवा प्रभाव क्षेत्र के प्रदेश में जो आयात अथवा निर्यात की सीमा शुल्क दरें निर्धारित हैं, उनको स्वीकार किया जाए।

(स) पट्टे पर लिए गए बन्दरगाहों में आने वाले विदेशी जहाजों से अपने जहाजों की अपेक्षा कोई देश अधिक बन्दरगाह खर्च नहीं लेगा।

(द) सभी देशों के लिए तटकर की दरें समान होंगी। इस तटकर की वसूली चीनी सरकार करेगी।

(य) अपने क्षेत्र की रेलों पर अन्य विदेशी व्यापारियों के माल पर उससे अधिक किराया नहीं लेगा जो कि वह अपने देश के नागरिकों से लेता है।

'खुला द्वार' की नीति के उक्त अनुबन्धों का अनुशीलन स्पष्ट करता है कि यह नीति व्यावसायिक स्वार्थ की नीति थी। इसमें कहीं भी चीन की क्षेत्रीय अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात नहीं थी। वास्तव में, इस नीति का उद्देश्य केवल इतना था कि अमरीका को चीन के उन क्षेत्रों में व्यापार की सुविधा प्राप्त हो जाए जो कि अन्य देशों के हित क्षेत्र बन चुके थे। हित क्षेत्र बनाने का मूल उद्देश्य रेल पथों का निर्माण करना एवं आर्थिक शोषण का एकाधिकार प्राप्त करना था। खुला द्वार नीति इस हित क्षेत्र के विरोध में थी, परन्तु इसका

यह अर्थ निकालना कि इससे चीन को लाभ मिलता, हास्यास्पद है। आर. आर. पामर ने ठीक ही लिखा है, **"उन्मुक्त द्वार नीति तो चीनियों के लिए न होकर सभी विदेशियों के लिए चीन के द्वार उन्मुक्त करने की नीति थी।"**[1]

अमरीका द्वारा फेंका गया यह दांव अत्यन्त ठीक निशाने पर लगा। ब्रिटेन ने इसे स्वीकृति दे दी क्योंकि उसके हित चीन के केवल एक हिस्से तक सीमित नहीं थे। ब्रिटेन ने अनुबन्ध को इस शर्त पर मान लिया कि यदि अन्य देश इसकी स्वीकृति का आश्वासन दें तो उसे यह मान्य होगा। फ्रांस, इटली, जर्मनी एवं जापान ने अमरीका की नीति का समर्थन किया। केवल रूस ने इसमें अनमना रुख अपनाया, परन्तु उसने जिस भाषा का प्रयोग किया उससे इस अनुबन्ध की स्वीकृति मान ली गई।

इस प्रकार अमरीका ने उन्मुक्त द्वार की नीति पर यूरोप की अन्य शक्तियों की सहमति की पक्की मुहर लगाकर चीन में अपने हितों को सुरक्षित कर लिया। चीन के विभाजन का जो दौर एकाएक प्रारम्भ हुआ था वह कुछ समय के लिए रुक तो गया, परन्तु चीन का आर्थिक शोषण और अधिक तेजी से होने लगा, इस गति से होने वाले आर्थिक शोषण ने चीन को पतन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। चीन की जनता के एक वर्ग ने इस स्थिति के लिए मंचू प्रशासन एवं विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप को दोषी माना। अतः चीन में मंचू प्रशासन एवं विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप के विरुद्ध या उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध भयंकर प्रतिक्रियाएं सामने आईं।

उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया
(REACTION AGAINST IMPERIALISM AND COLONIALISM)

चीन में मंचू प्रशासन एवं विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप अथवा उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध होने वाली प्रमुख प्रतिक्रियाओं में ताइपिंग विद्रोह, सुधार आन्दोलन, बॉक्सर विद्रोह एवं चीन की क्रान्ति 1911 ई. अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, किन्तु चीन के सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। मंचू राजवंश का पतन हो गया, किन्तु युआन शिकाई ने उसी का अनुसरण कर क्रान्ति को असफल कर दिया। युआन शिकाई के कृत्यों से डॉ. सुनयात सेन जैसे क्रान्तिकारी नेताओं के कान खड़े हो गए और चीन में पुनः संघर्ष का दौर आरम्भ हो गया।

सुनयात सेन के अधीन साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष
(ANTI-IMPERALIST MOVEMENT UNDER SUNYAT SEN)

शिकाई की मृत्यु (6 जून, 1916 ई.) के पश्चात् चीन में अव्यवस्था एवं अराजकता का ताण्डव दृष्टिगोचर होने लगा। शक्ति सिद्धान्तहीन प्रान्तीय राज्यपालों के हाथों चली गई। बीजिंग में थोड़े-थोड़े समय के लिए कठपुतली सरकार (सामन्तों की) बनने लगीं। ऐसी स्थिति में डॉ. सुनयात सेन ने कैण्टन में एक प्रतिद्वन्द्वी सरकार स्थापित कर 1921 ई. में चीनी गणतन्त्र का स्वतः को अध्यक्ष घोषित किया।

1 "The open door policy was a programme, not so much of leaving China to the Chinese, as of assuring that all outsiders should find it literally open."
—R. R. Palmar, *A History of Modern World*, p. 260.

सुनयात सेन का जीवन परिचय
(LIFE SKETCH OF SUNYAT SEN)

चीन की क्रान्ति के जनक डॉ. सुनयात सेन का जन्म 12 नवम्बर, 1866 ई. को दक्षिण चीन के कैंटन डेल्टा के **'हसीयांग शान'** नामक गांव में हुआ था।[1] उसके बचपन का नाम सुन वेन था। बचपन में पिता का देहावसान हो जाने के कारण उसका लालन-पोषण उसके चाचा ने किया। बारह वर्ष की आयु में उसके बड़े भाई ने उसे हवाई बुलाकर **'होनूलूलू'** में एक ईसाई स्कूल में प्रवेश दिला दिया जहां पर उसकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा हुई। 1879 ई. से 1882 ई. तक सुनयात सेन ने पश्चिमी ढंग की शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ ईसाई-धर्म का ज्ञान भी प्राप्त किया। 1882 ई. में सुनयात सेन चीन वापस आ गया और 1884 ई. में उसका विवाह हो गया। पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित होकर डॉ. सेन ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया। 1887 ई. में उसने हांगकांग के मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया एवं पांच वर्ष तक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1892 ई. में चिकित्साशास्त्र की स्नातक की उपाधि अर्जित करने के पश्चात् डॉ. सेन ने मकाओ में डाक्टरी प्रारम्भ की, किन्तु क्रान्तिकारी विचारों से ओत-प्रोत डॉ. सेन के लिए यह असह्य हो उठा कि विदेशी शक्तियां चीनी खरबूजे का अपने हितों में शोषण करें। चीन का जिस प्रकार शोषण किया जा रहा था उसके लिए डॉ. सेन ने मंचू राजवंश को उत्तरदायी माना और मंचू शासन को अपदस्थ करने के लिए क्रान्ति की योजना पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया। अतः उसने कुछ साथियों को संगठित कर मंचू प्रशासन का विरोध प्रारम्भ कर दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने **'सोसाइटी फार दी रीजनेरेशन ऑफ चायना'** (Hsing-Chung Hui—हिसंग-चुंग-हुई) का गठन किया। लाइने-बारगर के शब्दों में, **"1894-95 के चीन-जापान युद्ध के समय तक सुनयात सेन का क्रान्तिकारी संगठन आधुनिकतावादी, राष्ट्रवादी और राजतन्त्र विरोधी हो गया था, जबकि आरम्भ में केवल देशभक्त एवं राजवंश विरोधी था।"**[2] 1894 में इस संस्था का मुख्य कार्यालय हांगकांग में खोला गया। चीन में बढ़ते विदेशी प्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से डॉ. सेन ने एक क्रान्तिकारी सेना का गठन कर कैंटन पर अधिकार करने की योजना बनाई, परन्तु योजना के विषय में चीनी सरकार को पता चल जाने से योजना असफल रही और डॉ. सेन को चीन से पलायन करना पड़ा। 1895 ई. सेन हांगकांग पहुंचा और वहां से फिर जापान जाने में सफल रहा।

जापान से निकलकर डॉ. सेन ने यूरोपीय देशों का भ्रमण किया और अमेरिका होते हुए इंग्लैण्ड पहुंचा, जहां उसे चीनी दूतावास में अवैध तरीके से कैद कर लिया गया। पश्चात् में ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय के हस्तक्षेप के कारण इंग्लैण्ड स्थित चीनी दूतावास को डॉ. सेन को छोड़ना पड़ा। डॉ. सेन का यह यूरोप भ्रमण व्यर्थ नहीं गया। इस दौरानं वह यूरोप में साम्राज्यवादी आन्दोलनों के सम्पर्क में आया और उसने कार्ल मार्क्स के **'दास कैपीटल'** का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा, जिससे उसके विचारों में समाजवादी विचारधारा का समावेश हुआ। 1899 ई. में वह योकोहामा की चीनी बस्ती में बस गया और वहीं से अपने विचारों का प्रसार करने लगा। 1899 ई. में चीन में होने वाले बॉक्सर विद्रोह का लाभ उठाते हुए उसने

1 माइकेल एण्ड टेलर, **दि फार-ईस्ट इन दी माडर्न वर्ल्ड**, पृ. 212-213।
2 पी. एम. ए. लाइने बारगर, **गवर्नमेण्ट इन रिपब्लिक चायना**, पृ. 34।

विदेशों में रहने वाले चीनियों को अपनी ओर आकर्षित करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। उसने अपनी 'आत्मकथा' में इस सफलता के विषय में लिखा है, **"1895 ई. की मेरी असफलता के पश्चात् लोग मुझे विद्रोही तथा डाकू समझते थे, लेकिन 1900 ई. की असफलता के पश्चात् (बॉक्सर विद्रोह की असफलता) लोगों ने न केवल मुझे गाली देना बन्द कर दिया, अपितु उनमें जो प्रगतिवादी विचारों के व्यक्ति थे, वे मुझे मुसीबतों में फंसा देखकर मेरे प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने लगे।"**[1]

डॉ. सेन ने अपनी लोकप्रियता का लाभ उठाते हुए चीन में अनेक गुप्त क्रान्तिकारी समितियों को अगस्त 1905 ई. **'तुंग मेंग हुई'** (Tung-Meng Hui) नामक संस्था के रूप में एक सूत्र में बांधने का सफल प्रयास किया। इस संगठन ने **'मिन पाओ'** नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। इस दल के छः प्रमुख उद्देश्य थे। **प्रथम**, मंचू वंश का पतन। **द्वितीय**, चीन में गणतन्त्र की स्थापना। **तृतीय**, विश्वशान्ति की स्थापना। **चतुर्थ**, राष्ट्रीयता का विकास। **पंचम**, जापान के साथ सहयोग एवं **षष्ठ**, चीन की क्रान्ति के लिए दूसरे देशों से सहयोग प्राप्त करना। यह दल गुप्त रूप से कार्यरत रहा। विनाकी महोदय ने इसकी महत्वपूर्ण भूमिका के विषय में लिखा है, **"विद्रोहियों का नेतृत्व डॉ. सुनयात सेन ने किया था तथा उनके उद्देश्य स्पष्टतः मंचू वंश विरोधी थे, ये विद्रोही ही 1906, 1907 एवं 1901 में बारम्बार हुए, ये विद्रोहों के लिए उत्तरदायी थे तथा 1901 के विद्रोह को क्रान्ति में परिवर्तित करने के लिए उन्होंने ही पहल की थी।"**[2]

1911 ई. की चीनी क्रान्ति के समय डॉ. सेन अमेरिका से तुरन्त चीन लौटकर आया और जनवरी, 1912 ई. में उसे क्रान्तिकारियों द्वारा नए गणतन्त्र का राष्ट्रपति चुना गया। इसी बीच युआन-शिकाई द्वारा चीन की एकता एवं वहां पर गणतन्त्र की स्थापना का वचन दिए जाने पर डॉ. सेन ने राष्ट्रपति के पद से त्यागपत्र दे दिया और युआन-शिकाई का राष्ट्रपति बनना स्वीकार कर लिया, परन्तु डॉ. सेन ने चीन में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार करने का गुरुतर प्रयास जारी रखा। यही कारण है कि डॉ. सेन को, **"एक व्यावहारिक प्रशासक की अपेक्षा तीव्र प्रचारक एवं प्रेरणास्रोत कहा जाता है।"**[3] यही नहीं, युआन-शिकाई द्वारा अपनी वचनबद्धता का उल्लंघन कर चीन में तानाशाही शासन की स्थापना करने के प्रयास का डॉ. सेन ने जोरदार विरोध किया। उसने **'कुओमिनतांग दल'** (Kuomintang party) का गठन किया और इस दल के माध्यम से युआन-शिकाई की नीतियों का प्रबल विरोध किया। अतः युआन-शिकाई ने कुनोमिनतांग दल को अवैध घोषित कर इसके अनेक सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया, लेकिन कुओमिनतांग दल भूमिगत हो गया। 6 जून, 1916 ई. को युआन-शिकाई की मृत्यु के पश्चात् इस दल ने अपनी शक्ति में वृद्धि की और कैंटन में डॉ. सेन के अधीन एक सरकार स्थापित हुई। अब डॉ. सेन ने शनैः-शनैः सम्पूर्ण चीन में अपना प्रभाव बढ़ाया और शीघ्र ही पीकिंग की सरकार का शासन सूत्र अपने हाथों में ले लिया। शासन सूत्र अपने

---

1 दीनानाथ वर्मा, एशिया का आधुनिक इतिहास, पृ. 101।

2 "The Revolutionaries were led by Dr. Sen and had frankly anti-dynastic aims."
—Vinacke, *A History of the Far-East in Modern Times*, p. 216.

3 "Sun Yat Sen was always more of the propagandist and inspirer than the practical administrator."
—*Encyclopaedia Britanica*, Vol. 21, p. 572.

हाथ में लेते ही डॉ. सेन ने सर्वप्रथम चीन में शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से **'कुओमिनतांग'** का सुदृढ़ संगठन किया।

कुओमिनतांग का संगठन
(ORGANISATION OF KUOMINTANG)

कुओमिनतांग तीन शब्दों से मिलकर बना है। **चीनी भाषा में कुओ का अर्थ देश, मिन का अर्थ जनता एवं तांग का अर्थ दल से है।** इस प्रकार कुओमिनतांग का शाब्दिक अर्थ **'देश की जनता का दल'** है। वास्तव में डॉ. सेन देश की जनता के एक ऐसे दल का सुदृढ़ संगठन चाहता था जो कि चीन की राष्ट्रीय एकता का पक्षपाती हो। उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में इस दल के सदस्य केवल डॉ. सेन के अनुयायी ही थे। अतः इसे सम्पूर्ण चीन की जनता का दल नहीं माना जाता था। दक्षिणी चीन के अनेक लोग इस दल के विरोधी थे। **अतः डॉ. सेन ने सत्ता हाथ में आते ही इस दल को राष्ट्रीय दल के रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया।** उसने सोवियत दूत जोफे (Joffe) की सहायता से कुओमिनतांग के संगठन की विधिवत् घोषणा की और 1923 ई. में रूस से माइकेल बोरोडिन (Michael Borodin) को दल का संगठन करने के उद्देश्य से आमन्त्रित किया गया। सितम्बर, 1923 ई. बोरोडिन कैण्टन पहुंचा और उसने कुओमिनतांग को इस प्रकार संगठित करने का प्रयास किया कि उनके सदस्य चीन की जनता से अधिक जुड़ जाएं न कि डॉ. सेन के व्यक्तित्व से। अतः दल की अनेक शाखाएं चीन के विभिन्न भागों में स्थापित की गयीं। स्थानीय शाखाओं के सदस्य एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करते थे। इस प्रतिज्ञा-पत्र में वे दल के सिद्धान्तों के अनुपालन की प्रतिज्ञा करते थे। प्रत्येक स्थानीयं शाखा के सदस्य एक प्रधान संचालक का चयन करते थे। **स्थानीय शाखाओं की बैठक माह में दो बार निश्चित की गई।** इस बैठक में दल के संगठन, प्रसार आदि पर विचार-विमर्श किया जाता था। स्थानीय शाखाओं के आय-व्यय पर भी नियन्त्रण स्थापित किया गया।

स्थानीय क्षेत्रों में दल के विकास के लिए **निरीक्षण समितियों** (Supervisory Committees) की स्थापना की गई। निरीक्षण समितियां स्थानीय शाखाओं के आय-व्यय का निरीक्षण करतीं तथा शाखाओं के सदस्यों की शिष्टता की छानबीन करती थीं। स्थानीय शाखाओं के अतिरिक्त **तहसील समितियां** भी गठित की गयीं। तहसील समितियों से ऊपर **जिला समितियों** का गठन किया गया। जिला समितियों के ऊपर **प्रान्त की समितियां** गठित की गयीं। सबसे ऊपर **अखिल चीन कुओमिनतांग** का गठन किया गया। कुओमिनतांग की सभी समितियां इसके अधीन थीं। 'अखिल चीन कुओमिनतांग' के सदस्य प्रान्तीय समितियों द्वारा चयनित किए जाते थे। 'अखिल चीन कुओमिनतांग' की सहायता के लिए केन्द्र में एक **केन्द्रीय कार्यकारी समिति** (Central Executive Committee) और एक **निरीक्षण समिति** (Supervisory Committee) गठित की गई। वर्ष में एक बार 'अखिल चीन कुओमिनतांग' की बैठक अनिवार्य कर दी गई। दल के विधान का भी निर्माण किया गया और डॉ. सेन को दल का **आजीवन अध्यक्ष** नियुक्त किया गया। अध्यक्ष को दल के प्रस्तावों को अमान्य घोषित करने का अधिकार प्रदान किया गया। 28 जनवरी, 1924 ई. को दल की प्रथम बैठक में उक्त व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया, परन्तु बोरोडिन ने बैठक में स्पष्ट घोषित किया

आधुनिक चीन का उदय
(EMERGENCE OF MODERN CHINA)
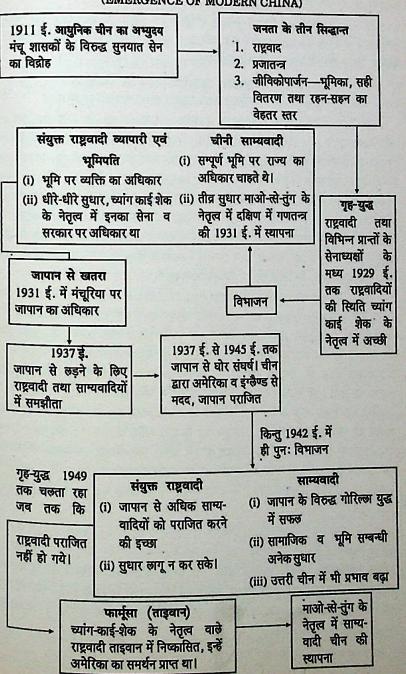
कि **"दल का पुनर्गठन अभी भी आवश्यक है और इसके लिए डॉ. सेन के कर्मठ निर्देशन की नितान्त आवश्यकता है।"**[1]

इस प्रकार कुओमिनतांग का संगठन बोरोडिन की सलाह पर कर दिया गया, परन्तु अभी दल के सिद्धान्तों का निरूपण शेष था। अतः दल के संगठन के पश्चात् डॉ. सेन ने दल के सिद्धान्तों को स्वयं ही निरूपित किया।

सुनयात सेन अथवा कुओमिनतांग के सिद्धान्त (PRINCIPLES OF SUNYAT SEN OR KUOMINTANG)

डॉ. सेन के प्रयासों से जिस समय कुओमिनतांग के संगठन का कार्य चल रहा था उसी समय उसने (डॉ. सेन ने) दल को निश्चित सिद्धान्तों के अनुरूप ढालने पर भी विचार किया। डॉ. सेन की यह विचारधारा उसके कई प्रलेखों में स्पष्ट मुखरित हुई। उसकी इस विचारधारा को 'सान मिन चू' (जनता के तीन सिद्धान्त) के नाम से जाना जाता है। **'सान मिन चू' के नाम से प्रख्यात डॉ. सेन के सिद्धान्त कुओमिनतांग के उद्देश्य के प्रमुख आधार-स्तम्भ बने।** डा. सेन ने अपने 'सान मिन चू' का उल्लेख स्पष्ट रूप से 1905 ई. में ब्रसेल्स के विद्यार्थियों की एक सभा में किया, परन्तु 1924 में कैण्टन आकर उसने इस सन्दर्भ में ठोस कदम उठाए। **वस्तुतः डॉ. सेन के सान मिन चू (जनता के तीन सिद्धान्त—राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र एवं सामाजिक न्याय) के सिद्धान्तों का विवरण निम्नवत् है :**

(अ) राष्ट्रवाद का सिद्धान्त (Principle of Nationality)—डॉ. सेन के 'सान मिन चू' में पहला सिद्धान्त राष्ट्रीयता का था। उसकी धारणा में चीन में सांस्कृतिक एकता तो थी, परन्तु राष्ट्रीय एकता का अभाव था। यही कारण था कि उसने चीनी समाज की तुलना बालू की परत से की थी जिसे सुदृढ़ करने के लिए सीमेण्ट की आवश्यकता थी। इतिहासकार पामर ने लिखा है कि **"डॉ. सेन के अनुसार यह सीमेण्ट राष्ट्रीयता का था जो चीन के सांस्कृतिक समाज को सत्ता वृद्धि के साथ-साथ राजनीतिक समाज में परिवर्तित कर सकने में सक्षम था।"**[2] डॉ. सेन की विचारधारा थी कि चीनी समाज को आवश्यकता इस बात की है कि वह अपने कबीले या गांव के प्रति भक्ति कों सम्पूर्ण देश के प्रति भक्ति के रूप में प्रकट करे। देश के प्रति राष्ट्रीयता की भावना का विकास **देश के प्रति भक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, परोपकार, शान्तिप्रियता एवं ईमानदारी**—इन पांच गुणों के माध्यम से हो सकने की बात भी डॉ. सेन ने स्पष्ट की। वास्तव में, डॉ. सेन का मूल उद्देश्य चीन की जनता के मानसिक धरातल में परिवर्तन करना था।

(ब) प्रजातन्त्र (लोकतन्त्र) का सिद्धान्त (Principle of Democracy)—डॉ. सेन का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रजातन्त्र का सिद्धान्त था। डॉ. सेन के शब्दों में, **"लोकतन्त्र से तात्पर्य मताधिकार, उपक्रम, जनमत संग्रह और वापस बुलाने का अधिकार है। ये अधिकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, परीक्षा एवं नियन्त्रण पर आधारित हैं। हम जिस लोकतन्त्र की स्थापना चाहते हैं वह जनता का होगा। इस पर कुछ ही विशेषाधिकार प्राप्त लोगों का अधिकार**

---

1 "......The reorganization was still in its transitional period and was in need of the active guidance of Dr. Sun Yat Sen."

—Tang Leang Li, *Inner History of the Chinese Revolution*, p. 139.

2 R. R. Palmer, *A History of the Modern World.*

नहीं होगा। केवल उन्हीं लोगों को राजनीतिक अधिकार दिया जाना चाहिए जो गणतन्त्र के प्रति भक्तिभाव रखते हों।"

वस्तुतः डॉ. सेन ने इस सिद्धान्त पर स्विट्जरलैण्ड की प्रजातन्त्रात्मक पद्धति का प्रभाव स्पष्ट किया कि जनता की सम्प्रभुता शक्ति और सरकार की शासन शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। सरकार तभी ठीक से कार्य कर सकती है, जबकि सरकार शासन संचालन योग्य व्यक्तियों के हाथ में हो। अतः डॉ. सेन सच्ची प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की तीन अवधियों को पार करने के पश्चात् प्राप्त करने की बात करते हैं।

इस प्रकार डॉ. सेन का प्रजातन्त्र का सिद्धान्त **'प्रजातन्त्र पर सरकार की शक्ति का अध्यारोपण'** (Super imposition of State authority on democracy) कहा जा सकता है।

(स) सामाजिक न्याय का सिद्धान्त (Principle of Social Justice)—डॉ. सेन का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। डॉ. सेन का विश्वास था कि भूमि का समान वितरण होना चाहिए। उसकी धारणा थी कि इसके बिना चीन की खाद्य समस्या का निदान नहीं हो सकता, क्योंकि चीन में समस्या उत्पादन की है न कि वितरण की। डॉ. सेन के शब्दों में, **"चीन की जनता निर्धनता से पीड़ित है। धन के असमान वितरण का प्रश्न बाद का है।"** यही कारण था कि डॉ. सेन ने मार्क्स के भौतिकवादी सिद्धान्त की आलोचना की। अतः चीन की जनता को सामाजिक न्याय देने के लिए डॉ. सेन ने विदेशी पूंजीपतियों का जोरदार विरोध किया। स्पष्ट है कि उसका यह सिद्धान्त समाजवादी विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित है। यही कारण है कि डॉ. सेन के विषय में कहा जाता है कि **"डॉ. सेन एक समाज सुधारक थे जो सामाजिक साधनों के पक्षपाती थे और यह कहना और भी अधिक उचित प्रतीत होता है कि वह एक ऐसे सामाजिक क्रान्तिकारी थे जो पूंजीवाद से समझौते के पक्षपाती थे।"**[1]

इस प्रकार डॉ. सेन के प्रयत्नों ने कुओमिनतांग को अपने तीन प्रमुख सिद्धान्तों से एक नई दिशा प्रदान की। दल को ही नहीं उसके इन तीनों सिद्धान्तों ने चीन में राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्र एवं न्याय की महत्ता को स्पष्ट कर दिया। विनाकी ने ठीक ही लिखा है, **"डॉ. सेन दल के पवित्र नेता तथा उनके तीन सिद्धान्त राष्ट्रीय बाइबिल बन गए।"**[2]

राष्ट्रीय एकता के लिए सुनयात सेन के प्रयास
(EFFORTS OF NATIONAL INTEGRATION)

सुनयात सेन चीन में राष्ट्रीय एकता का पक्षपाती था। यह उसके राष्ट्रवाद के सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। उसने प्रारम्भ से ही कुओमिनतांग में राष्ट्रीय एकता पर विशेष बल दिया था। दल में एकता स्थापित करने का प्रयास डॉ. सेन ने इसलिए किया, क्योंकि दल में दो प्रकार की विचारधारा वाले लोग थे। **डॉ. सेन के विचारों से समानता रखने वाले लोग राष्ट्रीय एकता के लिए कृषक एवं मजदूर वर्ग का सहयोग आवश्यक मानते थे, जबकि कैण्टन के कतिपय**

1 **"Dr. Sun Yat Sen should be described as a social reformer with disposition to favour socialistic measures, or better as a social revolutionist with a disposition to temporise capitalism."**

2 **"Dr. Sen will become the sacred cannon of the party and his three principles of the people, the nationalist Bible."**

—**Vinacke, *A History of the Far-East in Modern Times*, p. 443.**

पूंजीवादियों के लिए यह हानिकारक था। अतः पूंजीवादी वर्ग ने विदेशों से अस्त्र-शस्त्र मंगाकर अपने हितों की पूर्ति हेतु सेना का गठन आरम्भ कर दिया। डॉ. सेन ने इस स्थिति से निपटने के लिए कैण्टन के पूंजीवादी सेना के अभियान को कुचलने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उसने केन्द्रीय सेना को आदेश दे दिया कि वह कैण्टन में पूंजीवादियों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करे। पूंजीवादियों का दमन कर दिया गया।

समस्या का अन्त यहीं नहीं हो गया। राष्ट्रीय एकता के मार्ग में पीकिंग के सूबेदार **'वू पेई फू'** ने पीकिंग पर अधिकार कर भयंकर बाधा खड़ी कर दी। डॉ. सेन इस बात के पक्षपाती थे कि पीकिंग के साथ कोई समझौता हो जाए जिससे **चीन के एकीकरण** में आसानी हो सके और राष्ट्रीय भावना का विकास सम्भव हो सके। अतः उसने **'वू पेई फू'** के विरुद्ध तुआन, चांग एवं फैग नामक सूबेदारों के साथ समझौते का प्रस्ताव रखा। डॉ. सेन को चीन के एकीकरण पर प्रस्ताव वार्ता करने के लिए तीनों सूबेदारों ने पीकिंग आमन्त्रित किया। दिसम्बर 1924 ई. में डॉ. सेन के पीकिंग पहुंचने तक महत्वपूर्ण निर्णय लिए जा चुके थे। इससे डॉ. सेन अत्यन्त निराश हुए और लगातार अस्वस्थता के कारण पीकिंग में 12 मार्च, 1925 को इसका निधन हो गया। मृत्यु के समय उसने अपने अनुयायियों को अपने अधूरे कार्य को पूर्ण करने का सन्देश दिया। क्लाइड के शब्दों में, **"निधन के पश्चात् डॉ. सेन राष्ट्रवादी आन्दोलन के सम्पूर्ण आदर्शवाद का प्रतीक बन गया, पुनर्गठित कुओमिनतांग का सारा क्रान्तिकारी उत्साह उसमें मूर्तिमान हो उठा।"**[1]

डॉ. सुनयात सेन का इतिहास में स्थान
(PLACE OF DR. SUNYAT SEN IN HISTORY)

चीन में क्रान्ति के जनक के नाम से विश्व के महानतम व्यक्तियों में डॉ. सुनयात सेन का स्थान है। वह एक ऐसा मानव था जिसने सोए हुए चीन में राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न करने का अभूतपूर्व प्रयास किया। डॉ. **सेन का चीन के इतिहास में स्थान निम्नवत् इंगित किया जा सकता है :**

(अ) महामानव के रूप में—चीन के इतिहास में डॉ. सेन को वही स्थान प्राप्त है जो कि अमेरिका में लिंकन को, इटली में मेजिनी, गैरीबाल्डी एवं कैवूर को तथा भारत में महात्मा गांधी को। इसका बड़ा कारण यह है कि डॉ. सेन के सन्देशों पर चलकर ही कालान्तर में चीन ने अपना मार्ग प्रशस्त किया। चीन के विद्यालयों एवं कार्यालयों में आज भी डॉ. सेन के चित्र देखे जा सकते हैं।

(ब) देशभक्त के रूप में—डॉ. सेन का नाम चीन के इतिहास में महान देशभक्त के रूप में इंगित किया जाता है। उसने 'सोए हुए अजगर' (चीन) को जगाकर राष्ट्रवाद की भावना भरने का जो प्रयास किया वह अतुलनीय है। उसने चीन को विदेशी आधिपत्य के प्रभाव से मुक्त कराने का जो स्वप्न देखा था उसके लिए जीवन-पर्यन्त संघर्ष किया। चीन की एकता के लिए उसने अभूतपूर्व बलिदान किया था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि चीन की एकता का प्रश्न उठने पर उसने बेहिचक कैण्टन सरकार के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया था। यह उसके असीम धैर्य एवं त्याग का ज्वलन्त उदाहरण है।

---

1 **क्लाइड, सुदूरपूर्व, पृ. 466।**

(स) संगठनकर्ता के रूप में—डॉ. सुनयात सेन एक महान संगठनकर्ता थे। उसमें संगठन की अभूतपूर्व क्षमता थी। उसने प्रवासी का जीवन व्यतीत करते हुए भी '**थुंग मेंग हुई**' नामक संस्था का संगठन किया था। पश्चात् में उसने रूस की सहायता से 'कुओमिनतांग' को संगठित करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। यह उसके प्रयासों का ही परिणाम था कि उसकी मृत्यु के दो वर्ष के भीतर ही कुओमिनतांग सेना से सैनिक सामन्तों की शक्ति को कुचलकर रख दिया था और एक हद तक देश में एकता कायम रखने में सफलता भी प्राप्त की थी।

(द) उपदेशक के रूप में—डॉ. सेन के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए इतिहासकार जान गुन्थर ने उनकी तुलना मुहम्मद साहब से की है। जान गुन्थर के शब्दों में, "**डॉ. सेन एक पैगम्बर थे। वह एक क्रियाशील व्यक्ति थे, किन्तु उनकी विशाल दृष्टि थी, उनके द्वारा कुओमिनतांग को क्रान्ति का प्रमुख आधार बनाए जाने की तुलना मुहम्मद के द्वारा इस्लाम की स्थापना से की जा सकती है।**"[1]

(य) सिद्धान्तवादी के रूप में—डॉ. सुनयात सेन ने 'कुओमिनतांग' एवं चीन को राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्र एवं सामाजिक न्याय सम्बन्धी जो सिद्धान्त दिए वे राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। उसकी मृत्यु से पूर्व लोगों ने उसे स्वप्नदृष्टा की संज्ञा दी, परन्तु कालान्तर में उसके सिद्धान्त चीन की जनता के लिए ज्ञान एवं विवेक के स्रोत बन गए। उसके सिद्धान्त '**सुनयात सेनवाद**' के नाम से जाने गए। उसके सिद्धान्त राष्ट्रवादियों का धर्मग्रन्थ बन गए।

इस प्रकार चीन के निर्माता के रूप में डॉ. सुनयात सेन को आज भी स्मरण किया जाता है। **चीन में कन्फ्यूशियस के पश्चात् आज तक जितना सम्मान डॉ. सेन को प्राप्त है उतना अन्य किसी को नहीं।** इसका सबसे बड़ा उदाहरण उनकी वह कब्र है जिसे आज भी राष्ट्रीय स्मारक के नाम से सम्मान दिया जाता है।

च्यांग काई शेक के नेतृत्व में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष
(ANTI-IMPERIALIST MOVEMENT UNDER CHANG KAI SHEK)

डॉ. सुनयात सेन के समय में ही कुओमिनतांग दो भागों में विभक्त हो गया। **एक पक्ष वामपंथियों का था तो दूसरा पक्ष दक्षिणपंथियों का था।** वामपंथी पक्ष साम्यवादियों के प्रभाव से प्रभावित था जिसका नेतृत्व वांग चिंग वी (Wang Ching Wei) कर रहा था। कुओमिनतांग दल की कार्यकारिणी में उसका जबरदस्त प्रभाव था। दक्षिण पंथी दल ने हमेशा ही वामपंथी दल को सन्देह की दृष्टि से देखा। डॉ. सुनयात सेन की मृत्यु के पश्चात् ये मतभेद उभरकर सामने तो आए, परन्तु डॉ. सुनयात सेन के मृत्यु के समय के संदेश ने उन्हें एक नई प्रेरणा दी। अतः कैंटन सरकार को औपचारिक रूप से राष्ट्रवादी सरकार घोषित करते हुए इसका अध्यक्ष कुओमिनतांग सेना के सेनापति च्यांग काई शेक को बनाया गया।

च्यांग काई शेक का जीवन परिचय
(LIFE SKETCH OF CHANG KAI SHEK)

च्यांग काई शेक का जन्म 30 अक्टूबर, 1888 ई. में पेकियांग प्रान्त स्थित फेंगुआ जिले के चिको नामक ग्राम में एक साधारण राज्याधिकारी के घर हुआ था। बाल्यावस्था में ही

1 Dr. Sen.....was a prophet. He was not a man of action. His vision, however was tremendous, his creation of the Kuomintang as a modern instrument of revolution in decadence and medieval China, has historical rank with, one might say, the invention of Islam by Mohammad." —John Gunther, *Inside Asia*, p. 152.

उसे पिता की स्नेहिल संरक्षरता से वंचित होना पड़ा। पिता की मृत्यु के कारण च्यांग को अपने प्रारम्भिक जीवन में अनके कष्टों का सामना करना पड़ा। **बचपन से ही च्यांग पर उसकी मां का व्यापक प्रभाव पड़ा। वह बचपन से ही क्रान्तिकारी विचारों का पक्षपाती बन गया।** कैंटन के सैनिक विद्यालय में सैन्य शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उसने 1907 से 1911 ई. तक जापान में सैन्य विज्ञान की शिक्षा अर्जित की। इसी समय डॉ. सेन के विचारों का प्रबल समर्थक बन गया और 1911 में क्रान्ति के समय सेना में भर्ती हो गया। शंघाई युद्ध में उसकी वीरता ने सभी को आश्चर्यचकित कर दिया, परन्तु शीघ्र ही उसने जापान के सैन्य विभाग की सेवा का त्याग कर दिया और 1911 ई. से शंघाई में व्यापार प्रारम्भ किया। इस परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण यह था कि अब वह यह विचार करने लगा कि सफल राजनीतिज्ञ के लिए धन की आवश्यकता एक महत्वपूर्ण पहलू है। व्यापार करने की इस प्रवृत्ति के दौर में उसका पश्चिमी व्यापारियों के माध्यम से पश्चिमी राजनीतिज्ञों से सम्पर्क हुआ। इसका सबसे बड़ा परिणाम यह निकला कि अब उसने पुनः सैनिक जीवन प्रारम्भ करते हुए राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। रूस की साम्यवादी क्रान्ति से प्रभावित होकर वह रूस गया और वहां की सैन्य प्रणाली का अध्ययन किया। **चीन की क्रान्ति के विषय में उसने ही रूस का प्रथम परिचय दिया।** 1924 ई. में उसने कैण्टन स्थित व्हामपूवा सैनिक विद्यालय (Whampoa Military Academy) के अध्यक्ष पद को संभाला। 1925 ई. में वह कुओमिनतांग की स्थायी समिति (Standing Committee) का सदस्य बना और 1926 ई. में डॉ. सेन के पश्चात् उसने राष्ट्रीय सेना के सेनापति के पद को संभाला।

राष्ट्रीय एकता की ओर (Towards National Integration)

राष्ट्रीय सेना के सेनापति के पद पर आसीन होने के पश्चात् च्यांग काई शेक को डॉ. सुनयात सेन के स्वप्न को साकार करने का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व निर्वाह करना था। च्यांग काई शेक ने प्रारम्भ से ही इस गुरुतर भार को कठिन नहीं माना। स्वयं उसी के शब्दों में, "**चीन को स्वतन्त्र करो। यह कठिन नहीं है। एक या दो, अधिक से अधिक तीन वर्ष में यह कार्य पूर्ण हो जाएगा।**"[1] अतः सेनापतित्व का पद संभालते ही वह सैन्य बल के साथ दक्षिण चीन से उत्तर की ओर बढ़ता चला गया। आक्रमण के इस दौर में उसे पर्याप्त सफलता मिली। अक्टूबर, 1926 ई. में उसने वूचांग प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित कर दिया। फरवरी 1927 में **हांको** (Hanko) पर विजय प्राप्त की। मार्च 1927 ई. में शंघाई एवं नानकिंग का पतन हुआ। नानकिंग पर च्यांग काई शेक के आधिपत्य ने विदेशी शक्तियों के कान खड़े कर दिए। उन्होंने शेक पर दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया कि वह कम्युनिस्टों को दण्डित करे। च्यांग ने विदेशी शक्तियों को आश्वस्त किया कि "**वह साम्यवादियों को अपने नियन्त्रण में रखने का भरसक प्रयत्न करेगा।**"

अब च्यांग काई शेक ने नानकिंग को अपनी राजधानी बनाकर हांको तथा उसके निकटवर्ती भू-भागों में निवास करने वाले कम्युनिस्टों का दमन प्रारम्भ कर दिया। रूसी साम्यवादियों को चीन से निष्कासित किया गया। साम्यवादियों को जेल में डाल दिया। च्यांग के रुख को देखते हुए रूसी परामर्शदाता **योरोडीन** को भी अब यह कहना पड़ा कि, "चीन

1 **"Set China free. It will not be difficult. In one, two, at most three years will be done."**
—John Guntner, *Inside Asia*, p. 217.

की तत्कालीन परिस्थितियों में मार्क्स के सिद्धान्त सार्थक नहीं होंगे।" इसी समय **माओत्से तुंग** (Mao-Tse-Tung) ने कृषकों को संगठित कर हांको में आन्दोलन कर दिया। च्यांग काई शेक ने इस साम्यवादी आन्दोलन के दमन हेतु सम्पूर्ण दक्षिणी चीन में सेना का जाल फैला दिया। 1927 **की ग्रीष्म ऋतु में कुओमिनतांग के समाजवादी दल को अवैध घोषित करते हुए च्यांग काई ने बोरोडीन एवं उसके साथियों को चीन से चले जाने के आदेश दे दिए और कृषक आन्दोलन को कुचल दिया।**

इस प्रकार साम्यवादियों की शक्ति को दबाने के पश्चात् च्यांग काई शेक ने 1928 ई. में पीकिंग पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् च्यांग ने मंचूरिया पर कुओमिनतांग शासन स्थापित करने पर विचार किया, परन्तु जापान के विरोध के कारण वह ऐसा न कर सका। इसी बीच मंचूरिया के सेनाध्यक्ष लियांग ने कुओमिनतांग सरकार से एक समझौता कर लिया, फलतः मंचूरिया पर भी कुओमिनतांग का प्रभाव स्थापित हो गया। इस प्रकार 1928 ई. तक प्रायः सभी सैन्य शासक चीन की नवस्थापित **नानकिंग सरकार** के अधीन आ गए तथा चीन की राजनीतिक एकता सिद्धान्ततः पूर्ण हुई।

च्यांग काई शेक अथवा नानकिंग सरकार की गृह-नीति
(HOME POLICY OF CHANG KAI SHEK OR NANKING GOVERNMENT)

1928 ई. तक डॉ. सुनयात सेन के राष्ट्रीय एकता के स्वप्न को सिद्धान्ततः पूर्ण करने के पश्चात् च्यांग काई शेक के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या चीन की प्रशासनिक व्यवस्था को सुसंगठित करने, साम्यवादियों में संघर्ष एवं चीन से विदेशी प्रभाव को समाप्त करने की थी। अतः अब च्यांग काई शेक ने क्रान्ति की अपेक्षा सुधार योजनाओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया। विनाकी के अनुसार, **"यही कारण था कि च्यांग काई शेक की नानकिंग सरकार की योजना इस समय सुधार लाने की थी न कि क्रान्ति को आगे बढ़ाने की।"**[1] अतः अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए च्यांग की नानकिंग सरकार ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य किए :

(1) **राजनीतिक संगठन**—नानकिंग को राजधानी बनाने के पश्चात् च्यांग काई शेक के आदेशानुसार कैण्टन तथा पीकिंग स्थित अनेक कार्यालयों एवं राजदूतों को नानकिंग स्थानान्तरित किया गया। अगस्त, 1928 ई. में कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति बुलाई गई। कार्यकारिणी समिति ने खुले अधिवेशन में नई सरकार की शासन व्यवस्था एवं संगठन के विषय में महत्वपूर्ण कार्य लिए। यह निर्णय लिया गया कि नानकिंग सरकार की सम्पूर्ण शक्ति पर कुओमिनतांग का नियन्त्रण रहेगा। शासन व्यवस्था के निर्देशन हेतु एक केन्द्रीय राजनीतिक सभा (Central Political Council) की व्यवस्था की गई। इस परिषद् (सभा) के सदस्यों का चयन केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति एवं केन्द्रीय राज्य परिषद् के द्वारा होना निश्चित हुआ। **'केन्द्रीय राजनीतिक सभा' को देश की सर्वोच्च संस्था माना गया। यह माना गया कि इसका अध्यक्ष सरकार का अध्यक्ष होगा।** केन्द्रीय शासन को व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, परीक्षा एवं नियन्त्रण—इन पांच विभागों में विभक्त किया गया। इन विभागों को **'युआन'** कहा गया। यही नहीं, केन्द्रीय सरकार के संगठन के ही अनुरूप प्रान्तीय सरकारें भी बनीं। प्रान्तीय सरकारों के शासन हेतु 25 अक्टूबर, 1928 ई. को एक कानून बनाया गया। इस कानून के अनुपालन में प्रान्तों में प्रान्तीय परिषदें स्थापित की गयीं। 12 मई, 1931 ई. को

1 **"....The programme of Nanking was one of social reform and not of revolution."**
—Vinacke, *A History of the Far-East in Modern Times*, p. 465.

एक नया संविधान लागू किया गया जिसे 1934 ई. में संशोधित किया गया। इस संविधान में कहा गया कि **"चीन की सार्वभौम सत्ता जनता में निवास करती है। नस्ल, जाति, रंग, रूप के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जाएगा। सभी कानून की दृष्टि में एक समान होंगे तथा सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होगा।..........सम्पत्ति पर नागरिकों का वैयक्तिक अधिकार होगा, स्थानीय शासन को प्रोत्साहित किया जाएगा।"** इस प्रकार च्यांग काई शेक इस नवगठित सरकार का अधिपति बना।

(2) विरोधियों का दमन—1931 ई. तक च्यांग काई शेक ने चीन में नए राष्ट्रवादी गणराज्य को सुदृढ़ स्वरूप तो प्रदान कर दिया था, परन्तु अभी तक उसके विरोधियों का पूर्णतः दमन नहीं हो पाया था। उसके प्रधानतः **तीन** विरोधी थे। **प्रथम**, विभिन्न प्रान्तों के वे सेनाध्यक्ष जो कि समयानुसार अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो जाते थे। **द्वितीय**, कुओमिनतांग का वामपंथी पक्ष जो कि च्यांग काई शेक का प्रबल विरोधी था। **तृतीय**, कम्युनिस्ट जो कि भूमिगत रूप में अपना प्रसार करने में प्रयत्नशील थे और च्यांग काई शेक की नानकिंग सरकार के लिए सिरदर्द बन गए थे।

च्यांग काई शेक ने **प्रथम समस्या** को सुलझाने के लिए प्रारम्भ में सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया। उसने स्वेच्छाचारी सेनाध्यक्षों से समझौतावादी रुख को अपनाते हुए मिलीजुली सरकार की स्थापना का प्रयास किया, परन्तु अपने इस प्रयास में असफल हो जाने पर उसे स्वेच्छाचारी सेनाध्यक्षों एवं सिपहसालारों से युद्ध करने पड़े। इनमें उसे विशेषतः मंचूरिया के सेनाध्यक्ष च्यांग सूलिफंग एवं शेन्सी प्रान्त के सेनाध्यक्ष चेन सी से कठोर मुकाबला करना पड़ा। मंचूरिया एवं शेन्सी के सेनाध्यक्षों की शक्ति का जिस प्रकार उसने दमन किया उससे भयभीत होकर उत्तरी चीन के शेष सेनाध्यक्षों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

अब च्यांग काई शेक ने **द्वितीय समस्या** को सुलझाने का प्रयत्न किया। कुओमिनतांग के वामपंथी गुट ने वांग चिंग वेई तथा चेंग पू लो के नेतृत्व में कैंटन में अपनी अलग सरकार बनाकर कैंटन को राजधानी बना लिया। इसी बीच मंचूरिया में जापानी संकट के कारण दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया। अतः च्यांग काई शेक को नानकिंग सरकार के संगठन में परिवर्तन कर शासन संचालन का गुरुतर भार वांग चिंग वेई एवं चेंग पू लो को भी सौंपना पड़ा। **अतः शासन संचालन तीन व्यक्तियों के हाथ में विभक्त हो गया।** तीनों **(च्यांग काई शेक, वांग चिंग तथा चेंग पु लो) ने मिलकर एक समिति का भी गठन किया।** इसी बीच वामपंथी नेताओं की आपसी फूट का लाभ उठाकर च्यांग काई शेक ने अपनी स्वतन्त्र शक्ति पुनः स्थापित कर ली। अतः वामपंथी नेताओं ने पुनः कैंटन में अपनी अलग सरकार का गठन कर लिया। इस समय वास्तव में च्यांग काई शेक इस सरकार का विरोध नहीं कर सका, क्योंकि उसके सामने सबसे गम्भीर एवं जटिल **समस्या साम्यवादियों की उमड़कर आ रही थी।**

1933 ई. तक चीन के विभिन्न प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर **साम्यवादियों** ने अपनी सरकार का गठन कर लिया था। साम्यवादियों ने चीन के कुल 3,30,000 वर्ग मील क्षेत्रफल पर आधिपत्य जमा लिया था, जिसकी जनसंख्या लगभग 9,00,00,000 से अधिक थी। अपने आधिपत्य वाले क्षेत्र में साम्यवादियों ने जमींदारों से जमीन छीनकर सर्वसाधारण में बांट दी थी। **जनता को आर्थिक सहायता प्रदान करने हेतु बैंकों की स्थापना की।** अपने अधीनस्थ क्षेत्र में उन्होंने अफीम के स्थान पर अनाज के उत्पादन पर बल दिया। इससे साम्यवादियों

को जनता का समर्थन प्राप्त हुआ साम्यवादियों की बढ़ती हुई इस सफलता ने च्यांग काई शेक की सरकार के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया। अतः शेक ने साम्यवादियों के दमन के लिए दुष्कर उपाय किए और प्रशासन में सुधारों की ओर ध्यान दिया।

(3) **सुधार कार्यक्रम**—सुधार कार्यक्रम निम्नलिखित प्रकार से लागू किये गये :

(अ) **आर्थिक क्षेत्र**—चीन की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए च्यांग काई शेक ने टी. वी. सुंग (T. V. Soong) नामक अर्थशास्त्री की अधीनता में एक अर्थविभाग का पुनर्गठन किया। टी. वी. सुंग ने चीन की राष्ट्रीय आय में वृद्धि का प्रयत्न किया, परन्तु इस बात का भी ध्यान रखा कि चीन की राजकीय आय के स्रोतों पर विदेशी प्रभाव न हो। चीन में रुई, चीनी, चना, चाय, सिल्क, आदि के उत्पादन पर विशेष बल दिया जाने लगा। 1937 तक चीन से चाय, चीनी एवं सिल्क विदेशों को निर्यात किया जाने लगा। लाट्रेट के अनुसार, **"सिल्क के उत्पादन की प्रसिद्धि के कारण ही अमेरिका का एक जीव विज्ञान का विद्वान चीन आकर सिल्क के कीड़ों को अमेरिका ले गया।"**[1] यही नहीं, चीन के औद्योगीकरण की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। 1937 ई. तक शंघाई, कैण्टन, हांको, आदि स्थानों पर पश्चिमी देशों के सदृश कल-कारखाने खुल गए। मुद्रा पद्धति में भी सुधार हेतु प्रयास किए गए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयोग का गठन किया गया। सैण्ट्रल बैंक ऑफ चायना, दि बैंक आफ चायना, फारमर्स बैंक ऑफ चायना एवं दि बैंक ऑफ कम्युनिकेशंन को नोट छापने का अधिकार प्रदान किया गया। अनेक बैंकों की भी स्थापना की गई।

(ब) **न्याय सम्बन्धी सुधार**—न्यायिक क्षेत्र में भी सुधार हेतु चीन में फ्रांस व जर्मनी की कानून पद्धति से प्रभावित एक नया कानून संग्रह निर्मित किया गया। इस कानून संग्रह में मूलतः दीवानी मामलों की व्याख्या थी। औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र से भी सम्बन्धित कानूनों का निर्माण किया गया। नानकिंग में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई तथा चीन में अनेक अदालतें खोली गयीं। इस प्रकार प्राचीन रीति-रिवाज एवं परम्पराओं पर आधारित चीन की कानून व्यवस्था में परिवर्तन किया गया।

(स) **सैन्य सुधार**—च्यांक काई शेक ने चीन के सैन्य पुनर्गठन पर विशेष ध्यान दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विशेष रूप से जर्मन विशेषज्ञों को चीन में आमन्त्रित किया गया। 1931 ई. तो चीन में एक जर्मन सैनिक मण्डल तक स्थापित किया गया। 1935 ई. में इस मण्डल का अध्यक्ष **'फॉन सीम्ट'** था।

(द) **आवागमन की व्यवस्था**—च्यांग काई शेक ने आवागमन की व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने का भरसक प्रयत्न किया। पृथक रेल विभाग की स्थापना की गई। चीन के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय रेलवे को इसी विभाग के नियन्त्रण में कर दिया गया। कैण्टन एवं नूधांग के मध्य अनेक रेलवे लाइनें बिछायी गयीं। हूनान, कियांगसी, क्वांगसी, चिकिचांग, आन्हुई, कानसू, कियाचकाऊ में अनेक सड़कें बनाई गयीं। सड़कों एवं रेलवे लाइनों के इस प्रकार विकास का सबसे बड़ा कारण शान्ति व्यवस्था एवं युद्ध संचालन में आसानी था। यही नहीं, वायुयानों के विकास पर भी विशेष ध्यान दिया गया। नाविक कम्पनियों की भी स्थापना की गई। डाक-तार, टेलीफोन, आदि की समुचित व्यवस्था के लिए पोस्ट आफिस का पुनर्गठन किया गया।

1 K. S. Latourette, *A History of Modern China*, p. 40.

इस प्रकार नानकिंग सरकार ने सुधार कार्यक्रम का जो दौर प्रारम्भ किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था, परन्तु जनसाधारण को कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाया, इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि इस सुधार व्यवस्था में डॉ. सुनयात सेन के या कुओमिनतांग के **'सामाजिक न्याय के सिद्धान्त'** (आजीविका सिद्धान्त) को पृष्ठभूमि में नहीं रखा गया।

च्यांग काई शेक अथवा नानकिंग सरकार की विदेश नीति
(FOREIGN POLICY OF CHANG KAI SHEK OR NANKING GOVERNMENT)

डॉ. सुनयात सेन ने मृत्यु से पूर्व रूस के साथ मधुर सम्बन्ध बनाएं रखने की अपील की थी। प्रारम्भ में च्यांग काई शेक के रूस के साथ मधुर सम्बन्ध बन रहे। डॉ. सेन की मृत्यु के पश्चात् उसने एक सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था, **''हमें विश्वास है कि हम अपने उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य सफल होंगे। इस सफलता का पूरा श्रेय हमारे रूसी साथियों को होगा। यदि चीन की क्रान्ति की विजय होती है तो यह विजय रूसी क्रान्ति की विजय है।''** परन्तु कालान्तर में दोनों के बीच सम्बन्धों में दरार उत्पन्न हो गई। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि च्यांग काई शेक यथाशीघ्र चीन के एकीकरण का पक्षपाती थी। वह उत्तर की ओर से आक्रमण कर सैनिक सरदारों की शक्ति को समूल नष्ट करना चाहता था, परन्तु कुछ रूसी सलाहकार उसकी इस नीति के विरोधी थे। **दूसरा सबसे प्रबल कारण चीन में कम्युनिस्टों का बढ़ता प्रभाव था।** रूस साम्यवादी देश था। इधर इसका लाभ उठाकर पूंजीवादी साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उसे सोवियत संघ के विरुद्ध भड़काना भी शुरू कर दिया। अतः उसने रूसी सलाहकारों को चीन से चले जाने के आदेश दिए। मई, 1929 ई. में नानकिंग की अधीनस्थ मंचूरिया के शासक **'च्यांग स्युह ल्यांग'** ने वहां पर स्थित रूसी कार्यालयों पर अपना कब्जा कर लिया। अनेक रूसियों को बन्दी बना लिया। 1924 ई. में चीन और सोवियत संघ के बीच हुए समझौते का अतिक्रमण कर मंचूरिया के शासक ने जुलाई 1929 को रेलवे, टेलीफोन एवं तार व्यवस्था पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया। 1924 के चीन व रूस के बीच हुए समझौते के अनुसार पूर्वी चीन की रेलवे व्यवस्था पर दोनों देशों का अधिकार माना गया। रूस के लिए यह सब असह्य हो गया। अतः उसने 13 जुलाई, 1929 ई. को नानकिंग सरकार को स्पष्ट रूप से चेतावनी दे दी कि वह तीन दिन के भीतर पूर्ववत् स्थिति कायम करे। तीन दिन पश्चात् रूस ने चीन से सभी राजनयिक सम्बन्ध समाप्त कर दिए। इस पर चीन ने मंचूरिया से रूसी प्रबन्धक एवं कर्मचारियों को निष्कासित कर दिया। नवम्बर 1929 ई. में रूस ने चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अन्ततः 22 दिसम्बर, 1929 ई. को नानकिंग में रूसी-चीनी सन्धि हुई। यह सन्धि इतिहास में **'खाबोरोव्स्क'** के नाम से भी जानी जाती है। इस सन्धि के अनुसार रूस ने चीन में अपने राज्यक्षेत्रातीत सम्बन्धी अधिकारों का परित्याग कर दिया और साथ ही बॉक्सर विद्रोह के पश्चात् चीन पर थोपी गई क्षतिपूर्ति की राशि को भी रूस ने माफ कर दिया। मंचूरिया में अब पुनः रूस के कार्यालय खुल गए और रूसी कर्मचारी कार्य करने लगे।

रूस के साथ चीन के इन बिगड़े हुए सम्बन्धों का चीन की आन्तरिक स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। कुओमिनतांग के कम्युनिस्ट च्यांग काई शेक के कट्टर विरोधी हो गए। फलतः कुओमिनतांग में फूट पड़ गई और एक भयावह संघर्ष का आरम्भ हुआ, जिससे कुओमिनतांग की स्थिति कमजोर हो गई।

विदेशी शक्तियों से की गई असमान सन्धियों को समाप्त करने का प्रयत्न—चीनी खरबूजे के बंटवारे के क्रम में जिस प्रकार विदेशी शक्तियों ने अपने हितों की पूर्ति में चीन से समय-समय पर असमान सन्धियां की थीं, जिनके अनुसार जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड जैसी साम्राज्यवादी शक्तियों को चीन में व्यापारिक एवं राज्यक्षेत्रातीत सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त हो गएं थे। च्यांग काई शेक ने विदेशों के साथ असमानता के आधार पर की गई सन्धियों का विरोध किया। 19 अक्टूबर, 1925 ई. को **चीन और आस्ट्रिया** के बीच सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया के चीन में राज्यक्षेत्रातीत सम्बन्धी अधिकार समाप्त हो गए। च्यांग काई शेक को **बेल्जियम** से सफल सन्धि करने में सफलता मिली। बेल्जियम से हुई सन्धि के अनुसार तिंत्सीन में बेल्जियम अधिकृत प्रदेश पर चीन की सरकार का आधिपत्य मान लिया गया। बेल्जियम ने अपने राज्यक्षेत्रातीत अधिकार त्याग दिए तथा दोनों देशों ने पारस्परिक विचार-विमर्श से पारस्परिक व्यापारिक मतभेदों को हल करने का वचन दिया।

जुलाई, 1928 ई. को **संयुक्त राज्य अमेरिका** से चुंगी की स्वायत्तता के सन्दर्भ में एक सन्धि हुई। 1 फरवरी, 1929 ई. को जापान ने भी चीनी चुंगीं बेहिचक स्वीकार कर ली। ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस ने भी इस सम्बन्ध में चीन के पक्ष में अपने हितों को छोड़ दिया, परन्तु ये विदेशी शक्तियां चीन में राज्यक्षेत्रातीत अधिकार को सहजता से त्यागने की पक्षपाती नहीं थीं।27 अप्रैल, 1929 ई. के एक चीनी पत्र जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस, आदि देशों से अपने राज्यक्षेत्रातीत अधिकार छोड़ने की अपील की गई थी, के उत्तर में इन शक्तियों ने स्पष्ट कर दिया कि "**जब तक चीन की न्याय व्यवस्था पाश्चात्य पद्धति के अनुरूप नहीं हो जाती तब तक राज्यक्षेत्रातीत अधिकार का परित्याग असम्भव है।**" च्यांक काई शेक ने हिम्मत नहीं हारी। उसने सितम्बर, 1929 ई. को पुनः अपनी मांग विदेशी शक्तियों एवं राष्ट्र संघ के समक्ष रखी। यही नहीं, 26 दिसम्बर, 1929 ई. को कुओमिनतांग की केन्द्रीय राजनीतिक समिति ने यह प्रस्ताव परिषद् के सामने रखा कि 1 जनवरी, 1930 के उपरान्त विदेशी शक्तियों के राज्यक्षेत्रातीत अधिकार समाप्त करने के आदेश दे दिए जाएं। चीन की सरकार ने इस पर राज्यक्षेत्रातीत अधिकार की समाप्ति की घोषणा कर दी। इससे विदेशी शक्तियों के कान खड़े हो गए। इसी बीच मंचूरिया संकट उत्पन्न हो गया और चीनी सरकार अपने पारित आदेशों का कठोरता से पालन नहीं कर पाई, लेकिन इससे चीन को इतना लाभ अवश्य मिल गया कि 1930 के बाद दस राष्ट्रों ने अपने राज्यक्षेत्रातीत अधिकार को त्याग दिया।

यही नहीं, **विदेशी शक्तियों को चीन में पट्टे प्राप्त हुए थे।** नानकिंग की सरकार इस पट्टेदारी व्यवस्था का अन्त करना चाहती थी। पट्टेदारी व्यवस्था से तात्पर्य कुछ ऐसे क्षेत्रों की व्यवस्था से था, जो कि राजनीतिक रूप से तो चीन की सरकार के नियन्त्रण में थे, परन्तु उन पर आर्थिक नियन्त्रण विदेशी शक्तियों का था। पट्टेदारी व्यवस्था को समाप्त करने में नानकिंग सरकार को सफलता प्राप्त हुई। ग्रेट ब्रिटेन को हांको, क्याउ चाऊ, चिनकिआंग तथा अमोय में अपने पट्टे त्यागने पड़े। वेई-हाई-वेई का नौसैनिक अड्डा जिस पर ब्रिटेन का अधिकार था चीन को लौटा दिया गया। बेल्जियम ने तिन्तसीन से अपना अधिकार छोड़ दिया। इतना होने पर भी चीन में स्थापित 13 विदेशी पट्टों को नानकिंग सरकार समाप्त न कर सकी।

चीन की इन असफलताओं से जापान अत्यन्त सशंकित हो गया। उसे लगा कि शीघ्र ही कहीं उसे चीन में अपने विशेष हितों को त्यागना न पड़े, अतः जापान ने चीन पर अपने प्रभुत्व को स्पष्ट करने के लिए 1930 ई. में मंचूरिया पर आक्रमण किया।[1] इधर ठीक इसी समय चीन में च्यांग काई शेक की सरकार एवं साम्यवादियों में गृह युद्ध छिड़ा हुआ था। अतः मंचूरिया पर 9 मार्च, 1932 ई. में जापान ने अत्यन्त आसानी से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इससे राष्ट्र संघ की असफलता स्पष्ट हो गई। अब जापान के द्वारा सम्पूर्ण चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से आक्रमण करने की स्थिति स्पष्ट होने लगी, किन्तु चीन अभी भी गृह युद्ध में फंसा था। 7 जुलाई, 1937 ई. को चुकुचिआओ में घटित घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब जापान चीन पर आक्रमण करेगा, अतः च्यांगकाई शेक की कुओमिनतांग सरकार एवं साम्यवादियों में समझौता हो गया।

कुओमिनतांग-साम्यवादी समझौता (10 फरवरी, 1937 ई.)

अब च्यांगकाई शेक ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विवश होकर साम्यवादियों से समझौता कर लिया। **समझौते के प्रमुख अनुबन्ध निम्नवत् थे :**

(अ) उत्तर-पश्चिम के शेन्सी तथा कान्सू के प्रदेशों पर च्यांगकाई शेक ने साम्यवादियों के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

(ब) ये राज्य स्वतन्त्र रूप में साम्यवादियों के अधीन रहेंगे, परन्तु साम्यवादियों द्वारा शासित होने पर भी इन पर चीन का अधिकार माना जाएगा।

(स) साम्यवादियों की सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का एक भाग मान लिया गया।

(द) दोनों ने एक साथ यह तय किया कि वे मिलकर जापानी आक्रमण का विरोध करेंगे।

इस प्रकार समझौते के अनुसार अब चीन में (1937 ई. में चीन-जापान युद्ध के दूसरे दौर में) दो सरकारें विद्यमान थीं। दोनों की अपनी-अपनी अलग सेनाएं थीं तथा दोनों अपनी विचारधारा के अनुरूप अपने शासित क्षेत्र में व्यवस्था कायम करने में संलग्न थे और दोनों ने मिलकर जापानी शक्ति का विरोध किया, परन्तु जापान की अदम्य शक्ति का दमन करने में वे सफल न हो सकीं। नानकिंग पर जापान का अधिकार हो जाने पर च्यांगकाई शेक को **'चुंगकिंग'** को अपनी राजधानी बनाना पड़ा। जापान ने उत्तरी-पूर्वी तथा दक्षिणी राज्य कैण्टन पर भी अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार चीन अब स्पष्टतः दो हिस्सों में विभक्त हो गया। एक जापान अधिकृत चीन था और दूसरा स्वतन्त्र चीन, जिसमें च्यांग एवं साम्यवादियों की अलग-अलग सरकारें थीं। इधर 1937 में **द्वितीय चीन-जापान युद्ध**[2] छिड़ते ही दोनों ने इसका घोर विरोध किया, किन्तु युद्ध का अन्त अगस्त 1945 ई. में द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात जापान के समर्पण के पश्चात् हुआ। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात अक्टूबर 1949 ई. को माओ के नेतृत्व में चीन में साम्यवादी सरकार का गठन हुआ।

---

1 विस्तृत विवरण के लिए देखिए अध्याय 'प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान का अभ्युदय'।

2 द्वितीय चीन-जापान युद्ध के विस्तृत विवरण के लिए देखिए अध्याय **'प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जापान का अभ्युदय'**।

इण्डोचायना तथा इण्डोनेशिया
(INDO-CHINA AND INDONASIA)

इण्डोचायना तथा इण्डोनेशिया पर विस्तृत विवरण के लिए देखिए अध्याया 17 **'यूरोप एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया'**।

मिस्र में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन
(ANTI-IMPERIALIST MOVEMENT IN EGYPT)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी भाग में स्थित मिस्र के पूर्व में लालसागर, पश्चिम में लीबिया की मरुभूमि, उत्तर में भूमध्यसागर एवं दक्षिण में नील नदी के महाप्रपात स्थित हैं। 1517 ई. में मिस्र ओटोमन साम्राज्य का अंग बन गया था, किन्तु मिस्र की सदा ही विशिष्ट स्थिति बनी रही। **उसके अपने शासक होते थे, जिन्हें खदीव कहा जाता था। खदीव ओटोमन सुल्तान की अधीनता स्वीकार करते थे, किन्तु 19वीं शताब्दी में ओटोमन सुल्तान का नियन्त्रण नाममात्र का ही शेष रह गया।** इस स्थिति में 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांस एवं ब्रिटेन में मिस्र की राजनीति में हस्तक्षेप के प्रश्न को लेकर पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया।

1778 ई. में नेपोलियन ने **'मिस्र का अभियान'** प्रारम्भ किया। इस अभियान का मुख्य उद्देश्य यह था कि मिस्र पर अधिकार कर लेने से भारत के लिए फ्रांस का मार्ग प्रशस्त हो सकता था तथा नेपोलियन जानता था कि भारत, इंगलैण्ड का एक महत्वपूर्ण उपनिवेश है। मिस्र पर नेपोलियन का अधिकार करना तो कठिन नहीं था, किन्तु अधिकार को बनाए रखना दुरूह कार्य था। **नेपोलियन ने वहां स्वयं को मुसलमान घोषित किया तथा कुरान के प्रति श्रद्धा व्यक्त की।**[1] नेपोलियन के इन कार्यों से ब्रिटेन, रूस एवं इस्लामी जगत में हलचल मच गई। जनवरी 1799 ई. में ब्रिटेन, रूस एवं ओटोमन राज्य के मध्य एक समझौता हुआ। अगस्त 1799 ई. में अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में नेपोलियन को मिस्र से वापस लौटना पड़ा। इस प्रकार नेपोलियन का मिस्र अभियान असफल रहा। कैटलबी के शब्दों में, **'एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य के रूप में मिस्र का अभियान असफल रहा।'**'[2]

यह ठीक है कि नेपोलियन का मिस्र अभियान असफल हो गया, किन्तु इससे इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य की सुरक्षा के प्रति अत्यन्त चिन्तित हो गया। 1805 ई. में मिस्र का शासक मुहम्मद अली बना जिसने इंग्लैण्ड को आश्वस्त कर दिया कि वह किसी भी यूरोपीय शक्ति को मिस्र में हस्तक्षेप नहीं करने देगा। मुहम्मद अली की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **अब्बास प्रथम** (1850-54) मिस्र का शासक बना। इसी बीच फ्रांस ने **'स्वेज से एक नहर निकालकर भूमध्य सागर एवं लालसागर को बनाने की योजना'** अब्बास प्रथम के सम्मुख रखी। अब्बास प्रथम ने तो इस योजना को अस्वीकार कर दिया, किन्तु उसके उत्तराधिकारी सईद पाशा द्वारा योजना को स्वीकार लेने के बाद 1859 **में खुदाई का कार्य आरम्भ हो गया और 1969 में नहर बनकर तैयार हो गई।** स्वेज नहर के निर्माण में फ्रांस की पूंजी लगी थी, अतः इसमें

1 I was Mohammadan in Egypt, I shall be a Catholic (France) here for the good of people. —*Napoleon*
2 "As a magnificient political enterprise, the Egyptian venture has failed." —Ketelbey, *History of Modern Times*, p. 104.

फ्रांसीसी हिस्सेदारों का नियन्त्रण रहा, किन्तु मिस्र के भूभाग में पड़ने के कारण इसमें मिस्र के शासक का भी हिस्सा स्वीकार किया गया।

स्वेज नहर का निर्माण एक महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इस नहर के कारण मिस्र अब एशिया, अफ्रीका एवं अरब संसार का संगम स्थल बन गया, जो कि यूरोपीय सामरिक दृष्टिकोण से यूरोपीय शक्तियों के बीच स्पर्धा का कारण बन गया। इंग्लैण्ड जिसने अब स्वेज नहर के महत्व को समझा इस पर अपना नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए अत्यन्त चिन्तित हो उठा। 1863 ई. में **इस्माइल पाशा** मिस्र का शासक बना। उसके शासनकाल (1863-74) में मिस्र की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। विदेशी ऋण सिर पर चढ़ा हुआ था। अतः इस्माइल के द्वारा स्वेज के हिस्से बेचने की घोषणा ब्रिटेन के लिए सुनहरा मौका था। इंगलैण्ड के प्रधानमन्त्री **डिजरैली** ने स्वेज नहर को **'ब्रिटिश साम्राज्य की जीवन रेखा'** घोषित करते हुए मिस्र के शासक से हिस्से खरीद लिए। इस प्रकार अब फ्रांस एवं ब्रिटेन दोनों का नियन्त्रण स्वेज नहर पर स्थापित हो गया, अतः नहर के प्रबन्ध हेतु **'स्वेज कैनाल कम्पनी'** का निर्माण हुआ जिसके संचालक फ्रांसीसी एवं अंग्रेज बने।

मिस्र पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना

स्वेज नहर के हिस्से खरीदना इंगलैण्ड जैसे साम्राज्यवादी देश के लिए मिस्र में अपने पांव जमाने के लिए पर्याप्त था। इस्माइल पाशा मिस्र की बिगड़ती आर्थिक स्थिति पर नियन्त्रण न पा सका। अतः अब उसने इंगलैण्ड एवं फ्रांस से करों को जमानत पर रखकर ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया। दोनों साम्राज्यवादी देशों ने करों की जमानत वसूल कराने के बहाने मिस्र में अपने-अपने कर्मचारियों की नियुक्ति आरम्भ कर दी। इस्माइल के विरोध किए जाने पर ओटोमन सुल्तान पर दबाव डालकर इस्माइल के स्थान पर उसके पुत्र तौफीक पाशा को मिस्र का खुदीब बना दिया गया। **यह मिस्रवासियों के लिए एक चिन्ताजनक घटना थी, क्योंकि अब विदेशी हस्तक्षेप से मिस्र के खरीव के चयन की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी।'** अतः तौफीक **पाशा के ख़दीब बनते ही मिस्र में 'अरबी पाशा' के नेतृत्व में संवैधानिक सरकार की मांग को लेकर देशव्यापी आन्दोलन हो गया।** आन्दोलन की व्यापकता को देखकर खरीब तौफीक पाशा ने आन्दोलनकारियों को यह आश्वासन दिया कि वह मिस्र से साम्राज्यवादी देशों के हस्तक्षेप को समाप्त करने का पूर्ण प्रयास करेगा।

मिस्र में **'अरबी पाशा'** की लोकप्रियता साम्राज्यवादियों के लिए खतरा थी। अतः फ्रांस द्वारा मिस्र के मामले में हस्तक्षेप न करने की स्पष्ट नीति के कारण अब इंगलैण्ड ने अकेले ही राष्ट्रवादी आन्दोलन को कुचलना आरम्भ कर दिया। राष्ट्रवादियों के विरोध में युद्ध की घोषणा करते हुए इंगलैण्ड ने सिकन्दरिया में बमबारी की और पोर्ट सईद तथा नहर पर अपना शासन स्थापित कर लिया। अरबी पाशा को **'तेल-अल-कबीर'** के मैदान में पराजित कर अब (1882 ई.) से मिस्र पर इंगलैण्ड की प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो गई। यह बात अलग थी कि तौफीक पाशा अभी भी खदीब बना रहा, किन्तु मिस्र के शासन की वास्तविक शक्ति इंगलैण्ड के हाथ में आ गई। **मिस्र के शासन संचालन की सहायता के लिए लार्ड क्रोमर ने मिस्र की सेना का गठन अपने तरीके से कर उच्च पदों पर अंग्रेज अफसरों को नियुक्त किया।** तीस सदस्यों की एक विधान सभा बनाई गई जिसके 14 सदस्य **'खदीब'** द्वारा मनोनीत होने थे और शेष जनता द्वारा अत्यन्त सीमित मताधिकार से निर्वाचित होने थे, किन्तु

इस सभा को अपनी सलाह देने के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार नहीं था। थोड़े-बहुत आर्थिक सुधार भी किए गए, परन्तु उनका लाभ भी अंग्रेजों को ही मिला। **19वीं शताब्दी के अन्त तक तो सूडान पर भी इंगलैण्ड का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया और अब सूडान व मिस्र के खदीवों की स्थिति केवल नाममात्र के शासक की रह गई।**

मिस्र में राष्ट्रीयता का विकास

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने मिस्र की प्रशासन व्यवस्था में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर मिस्र का अपने हित में भरपूर शोषण किया। शोषण के दौर में मध्यम वर्ग एवं कृषकों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई। इधर ब्रिटिश शासन के प्रभाव से मिस्र में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भी पड़ चुका था एवं नई चिन्तन पद्धति का श्रीगणेश भी हो गया था। फलस्वरूप मिस्रवासी राष्ट्रीय भावनाओं से शनैः-शनैः आन्दोलित होने लगे। 1879 ई. में **'अल-हिब्ज अल-वतनी'** नामक राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई। **'अब्दुल्ला-अन्नदीम'** द्वारा रचित **'अल-वतन'** नामक नाटक राष्ट्रीयता का प्रसार करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। **'मुस्तफा कामिल'** ने तो अपने ग्रन्थ **'अल-शम्स अल मन्शरिका'** (उदीयमान सूर्य) में यह स्पष्ट उल्लेख किया कि जिस प्रकार जापान ने पाश्चात्य साम्राज्यवादी शक्तियों का सामना किया, मिस्र को भी उसी का अनुसरण करना चाहिए। **साद जगलुल** (1857-1927) ने मिस्र की स्वतन्त्रता का नारा दिया। उसने मिस्र की कानून व्यवस्था एवं शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन की मांग बुलन्द की। अपने स्वप्न को साकार करने के लिए **'साद जगलुल'** ने 1912 ई. में **'अल-हिज्ब उल-उल्मा'** नामक राष्ट्रीय दल को संगठित किया। **'मुस्तफा कामिला'** नामक एक अन्य राष्ट्रवादी ने **'अल-हिज्ब अल-वतनी'** नामक दल का पुनर्गठन किया।

इधर इसी बीच 1906 ई. में इंगलैण्ड में उदारवादी दल की सरकार सत्ता में आ गयी। उदारवादी सरकार ने मिस्रवासियों को प्रशासन में स्थान देने का स्पष्ट आदेश दे दिया। 1908 ई. में **'युवा-तुर्क दल'** ने तुर्की में क्रान्ति कर दी। क्रान्ति से प्रभावित होकर सुल्तान अब्दुल हमीद ने संविधान लागू कर दिया तथा साथ ही ओटोमन साम्राज्य में निवास करने वाली सभी जातियों की समानता की घोषणा की। इस घोषणा से मिस्र के राष्ट्रवादियों का उत्साह द्विगुणित हो गया। 1910 ई. में प्रधानमन्त्री वलूस की हत्या कर दी गई। इंगलैण्ड की सरकार ने स्थिति की भयंकरता को देखते हुए 1911 में गोर्स्ट के स्थान पर किचनर को शासन व्यवस्था पर काबू पाने के लिए भेजा। किचनर ने 1913 ई. में मिस्र में वैधानिक कानून लागू करते हुए स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए अत्यन्त कठोर कदम उठाए।

मिस्त्र पर ब्रिटेन की संरक्षकता स्थापित होना

इसी बीच 1914 में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। तुर्की इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों के विरोधी खेमे की ओर शामिल हुआ था। अतः अब इंगलैण्ड ने सुअवसर देखकर मिस्र को तुर्की की अधीनता से मुक्ति की घोषणा कर दी एवं **'मिस्र के खदीव'** को यह मानने पर बाध्य कर दिया कि वह अब इंगलैण्ड की संरक्षकता में रहेगा। अब्बाल हिल्मो के स्थान पर हुसैन कामिल को खदीब बनाया गया। मिस्र में सैनिक कानून की घोषणा कर स्वेज नहर पर ब्रिटिश नियन्त्रण कड़ा कर दिया गया। **इस प्रकार अब मिस्र इंगलैण्ड का संरक्षित राज्य (Protectorate) बन गया।**

स्वाधीनता हेतु संघर्ष का तीव्र होना

मिस्र के राष्ट्रवादी यह समझ रहे थे कि इंगलैण्ड की संरक्षकता केवल युद्ध काल तक ही सीमित रहेगी। अतः इस घटना के घटित होने पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई, किन्तु जैसे-जैसे युद्ध लम्बा खिंचता चला गया और मिस्रवासियों को जबरदस्ती ब्रिटेन की ओर से युद्ध में भाग लेने पर बाध्य किया तो मिस्रवासियों के कष्ट में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। मिस्रवासियों के असन्तोष ने तीव्र आन्दोलन का रूप ले लिया जिसका उद्देश्य ब्रिटिश प्रभुत्व को मिस्र से समाप्त करना था और इसका नेतृत्व महान राष्ट्रवादी नेता **'जगलुल पाशा'** ने किया। जगलुल ने **'बफ्द पार्टी'** का सशस्त्र संगठन कर अंग्रेज अधिकारियों पर हमला कर दिया। **विश्व युद्ध समाप्त होते ही जगलुल पाशा ने मिस्र की पूर्ण स्वतन्त्रता का नारा दिया।** वह मिस्रवासियों की मांग को रखने के लिए पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेना चाहता था, किन्तु अंग्रेजों ने जगलुल व उसके साथियों को गिरफ्तार कर लिया। गिरफ्तारी एवं नजरबन्दी की खबर सुनते ही मिस्रवासी अपने नेताओं की रिहाई के लिए विद्रोह पर उतर पड़े। अंग्रेजों को विद्रोह पर काबू पाना कठिन हो गया। विद्रोह की भयंकरता ने अंग्रेजों को मजबूर कर दिया कि वे गिरफ्तार मिस्र के नेताओं को छोड़ें और उनके साथ समझौता वार्ता करें। ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मिलनर को मिस्र की परिस्थिति का अवलोकन करने भेजा जिसकी रिपोर्ट के आधार पर वे मिस्र के नेताओं से वार्ता कर सकें। दिसम्बर 1919 से मार्च 1920 तक लार्ड मिलनर ने मिस्र की स्थिति का अवलोकन कर एक रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को दी। **इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी कि मिस्र को स्वतन्त्र तो कर दिया जाए, किन्तु वहां पर ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए उचित प्रबन्ध भी किए जाने चाहिए।** मिस्र के राष्ट्रवादी नेता मिस्र की स्वाधीनता के प्रश्न पर किसी भी शर्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः गतिरोध उपस्थित होते ही मिस्र में स्वाधीनता के लिए पुनः आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी कब चुप बैठने वाले थे। दमन चक्र पुनः आरम्भ हो गया, जगलुल पाशा सहित प्रमुख राष्ट्रवादी नेता गिरफ्तार कर लिए गए, किन्तु राष्ट्रवादी संघर्ष और अधिक तीव्र हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि यदि समय रहते कुछ न किया गया तो मिस्र में क्रान्ति हो जाएगी। **अतः ब्रिटिश सरकार ने फरवरी 1922 ई. को मिस्र के साथ एक समझौता कर लिया। समझौते की शर्तें निम्नवत् थीं :**

1. मिस्र को स्वतन्त्र मान लिया गया और उससे ब्रिटिश संरक्षण समाप्त कर दिया गया।
2. मिस्र में अंग्रेजों एवं अन्य विदेशियों की रक्षा का भार ब्रिटेन पर निर्भर रहेगा।
3. मिस्र पर किसी भी विदेशी शक्ति के आक्रमण के समय मिस्र की रक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटेन का होगा।
4. ब्रिटेन का आधिपत्य यथावत रहा।
5. स्वेज नहर की रक्षा के लिए अंग्रेजी सेना वहां रहेगी।

समझौते की शर्तें स्पष्ट करती थीं कि मिस्र की स्वाधीनता की बात तो कही गई थी, किन्तु वास्तव में सन्धि की अन्य शर्तें किसी भी देश की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए पर्याप्त थीं। **मिस्र के राष्ट्रवादी नेता जोकि इस समय साम्राज्यवादी ब्रिटेन की शक्तिशाली सेना का सामना करने की स्थिति में नहीं थे अतः विवश होकर उन्हें सन्धि को अंगीकार करना पड़ा।**

नये शासन विधान के अनुरूप 1923 ई. में मिस्र में आम चुनाव हुए। वफ्द पार्टी को बहुमत मिला और जगलुल पाशा प्रधानमन्त्री बना। जगलुल पाशा ने 1922 की सन्धि की समाप्ति के लिए तुरन्त लन्दन की यात्रा की, किन्तु उसे खाली हाथ लौटना पड़ा। अपने नेता के खाली हाथ लौटने पर मिस्र में पुनः आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। नवम्बर, 1924 ई. को राष्ट्रवादियों ने मिस्र स्थित ब्रिटिश सेना के सेनापति जनरल 'ली स्टैक' की हत्या कर दी। ब्रिटिश दमन चक्र आरम्भ हो गया। **ब्रिटिश सरकार द्वारा मिस्र की सरकार से मांग की गई कि वह इस हत्या के लिए ब्रिटिश सरकार से क्षमा मांगे तथा सूडान के कपास की खेती के इलाके की सिंचाई के लिए अंग्रेजों को नील नदी के पानी के प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता दे। दूसरी मांग अत्यन्त आपत्तिजनक थी। जगलुल पाशा यह मानता था कि यदि यह मांग मान ली गई तो मिस्र सूख जाएगा क्योंकि नील नदी मिस्र के आर्थिक जीवन का आधार थी।** अतः उसने स्थिति सम्भाल पाने में स्वयं को असमर्थ देखकर अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। जगलुल पाशा के त्यागपत्र देते ही राजा फुआद ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली, किन्तु उसके शासनकाल में देश की स्थिति अत्यन्त खराब हो गई और यत्र-तत्र जन आक्रोश दृष्टिगोचर होने लगा। **अतः नये ब्रिटिश हाईकमिश्नर लार्ड लायड के आदेशानुसार फुआद को 1926 में आम चुनाव कराने पड़े।**

आम चुनाव के पश्चात् सरवत पाशा ने वफ्द पार्टी के सहयोग से सरकार बनाई। सरवत पाशा ने ब्रिटिश विदेशमन्त्री चैम्बरलेन से लंन्दन जाकर एक समझौता किया जिसके अनुसार अंग्रेजी सेना केवल स्वेज नहर के रक्षार्थ रहेगी और मिस्र की विदेश नीति इंगलैण्ड के प्रतिकूल नहीं होगी। **इधर 1927 ई. में जगलुल पाशा की मृत्यु हो जाने से वफ्द पार्टी का नेतृत्व उग्रवादी नेता मुस्तफा अन-नहस के हाथों में आ गया।** नहस ने इस समझौते का तीव्र विरोध किया और अंग्रेजों से पूर्णतः मिस्र खाली करने की मांग की। अतः अब सरवत पाशा का बहुमत न बना और उसे त्यागपत्र देना पड़ा और नहस पाशा ने वफ्दी सरकार बनाई। नहस पाशा को भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की ओर से गतिरोध का सामना करना पड़ा। नहस पाशा के पश्चात् सिदकी पाशा मिस्र का प्रधानमन्त्री बना। प्रतिक्रियावादी सिदकी पाशा ने वफ्द पार्टी एवं इस्माइल सिदकी के उदारवादी दल पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए और 1930 में लोकतन्त्र विरोधी नया संविधान लागू कर दिया। 1933 **में स्वास्थ्य खराब होने के कारण सिदकी पाशा ने त्यागपत्र दे दिया।**

इसी मध्य इटली द्वारा 1935 में अबीसीनिया पर आक्रमण ने इंगलैण्ड के कान खड़े कर दिए। इटली के इस प्रकार अफ्रीका में अपना प्रभाव बढ़ाने की योजना का विरोध करने के लिए इंगलैण्ड को मिस्र की सहायता परमावश्यक हो गई। मिस्र के उदारवादी नेताओं ने स्थिति का लाभ उठाने में देर नहीं की। वफ्द पार्टी के नेता नहस पाशा ने स्पष्ट कर दिया कि यदि ब्रिटेन उनकी स्वतन्त्रता लौटा दे तो वे इटली के विरुद्ध ब्रिटेन को सहयोग करने के लिए तैयार हैं। ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने घोषणा कर दी कि इंगलैण्ड मिस्र के साथ समझौते के लिए तैयार है। अब मिस्र में पुनः चुनाव हुए और नहस पाशा प्रधानमन्त्री बना।

नहस पाशा की सरकार एवं इंगलैण्ड की सरकार के मध्य 1937 में एक सन्धि हुई। यह सन्धि 20 वर्षों के लिए थी, किन्तु 10 वर्ष पश्चात् इसे संशोधित कर सकने का प्रावधान था। **इस सन्धि के अनुसार अग्रलिखित बातें तय हुईं :**

1. इंगलैण्ड और मिस्र दोनों युद्ध के समय एक-दूसरे की सहायता करेंगे और दोनों की विदेश नीति सन्धि के विपरीत नहीं होगी।
2. सूडान में मिस्र की सेना, अधिकारी एवं प्रवासियों के जाने से प्रतिबन्ध हटा दिया गया। मिस्र की सरकार सूडान में सहराज्य सिद्धान्त को मान्यता देगी।
3. मिस्र की सरकार विदेशियों की रक्षा के लिए उत्तरदायी होगी।
4. स्वेज नहर के रक्षार्थ वहां ब्रिटेन को 10 हजार पैदल सेना, 400 हवाबाज एवं अन्य सेना रखने का अधिकार होगा।
5. मिस्र में ब्रिटिश प्रतिनिधि राजदूत कहलाएगा।
6. ब्रिटेन इस बात के लिए सहमत हो गया कि वह काहिरा एवं सिकन्दरिया से अपनी सेना हटाकर नहर के क्षेत्र में भेज देगा।

1937 ई. में मिस्र को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो गई तथा मोन्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह निर्णय ले लिया गया कि 1947 तक सभी देश मिस्र में अपने विशेषाधिकार का अन्त कर देंगे। **इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से अब मिस्र स्वतन्त्र देश की कोटि में आ गया, किन्तु अभी भी स्वेज नहर पर ब्रिटेन का नियन्त्रण स्थापित था।** इस प्रकार माना जा सकता है कि 1919 ई. से 1945 तक मिस्र पर किसी-न-किसी रूप में ब्रिटिश नियन्त्रण कायम रहा और उसके साधनों का ब्रिटेन ने अपने हित में पूर्ण प्रयोग किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् मिस्र

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर मिस्र एवं ब्रिटेन के सम्बन्ध 1936 ई. की सन्धि पर आधारित थे, परन्तु अब मिस्र के उग्र राष्ट्रवादी नेता मिस्र से ब्रिटिश सेना की वापसी की मांग करने लगे। ब्रिटेन इस मांग को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था। इधर 1950 में वफ्द पार्टी सत्ता में आई और 1951 में नहस पाशा ने मिस्र की पार्लियामेण्ट के एक आदेशानुसार 1936 की स्वेज नहर प्रदेश में ब्रिटिश सेना के रहने की सन्धि की समाप्ति की घोषणा कर दी। **इस पर ब्रिटेन ने मिस्र की सरकार से समझौता वार्ता आरम्भ की, किन्तु वार्ता असफल हो जाने पर मिस्र की सरकार ने मिस्रवासियों से खुले आन्दोलन का आह्वान कर दिया।** मिस्र की जनता अब खुले आन्दोलन पर उतर आई। स्थिति इतनी भयंकर हो गई कि 1952 तक 4 प्रधानमन्त्री बदल गए, परन्तु स्थिति नियन्त्रित न हो सकी। इस स्थिति में मिस्र की सेना के कतिपय प्रगतिवादी अधिकारियों ने गुप्त रूप से एक **'आजाद अधिकारियों की समिति'** का गठन किया। इस समिति के संचालक **मेजर जनरल नगीब** एवं मुख्य सलाहकार **कर्नल नासिर** थे।26 जुलाई, 1952 को मिस्र की राजधानी काहिरा में सैनिक क्रान्ति हो गई और मिस्र में सैन्य शासन घोषित कर दिया। शीघ्र क्रान्तिकारी नेताओं ने मिस्र को गणराज्य घोषित किया एवं नगीब ने राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एवं क्रान्तिकारी कमान परिषद् के अध्यक्ष पद को संभाला और कर्नल नासिर ने उपप्रधानमन्त्री एवं गृहमन्त्री का पद संभाला।

12 फरवरी, 1953 को इंगलैण्ड, सूडान एवं मिस्र के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सूडान के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। स्वेज नहर से अंग्रेजी सेनाएं हटाए बिना नगीब का ब्रिटिश सरकार से समझौता कर लेना कर्नल नासिर जैसे राष्ट्रवादियों के गले नहीं उतरा। अतः आपस में मतभेद स्पष्ट होने लगे। आपसी शीतयुद्ध के इस क्रम में अन्ततः नगीब को उनके पद से हटा दिया और अप्रेल 1954 के मध्य कर्नल

नासिर ने सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और प्रधानमन्त्री एवं परिषद् के अध्यक्ष का पद संभाल लिया।

कर्नल नासिर का उदय मिस्रवासियों के लिए उत्साह एवं आशा का प्रतिमान बन गया। नासिर ने प्रतिज्ञा की कि, **"जब तक वह मिस्र से विदेशी सेनाएं नहीं निष्कासित कर देता चैन से नहीं बैठेगा।"**[1] कर्नल नासिर की यह स्पष्ट घोषणा राष्ट्रवादियों के लिए उनके उत्साह को द्विगुणित कर देनी वाली सिद्ध हुईं। अतः मिस्र में ब्रिटिश सेनाओं के निष्कासन को लेकर भयंकर आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। ब्रिटेन इस स्थिति से पूर्ण रूप से अवगत था कि अब मिस्र पर अधिकार बनाए रखना कठिन है और दूसरे इधर तुर्की **'उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन'** में प्रवेश कर चुका था। अतः रूस के समीप पाश्चात्य शक्तियों का एक सैनिक अड्डा बन चुका था जिससे स्वेज नहर का सामरिक महत्वं भी कम हो गया। अत 19 **अक्टूबर, 1954 को ब्रिटेन ने मिस्र के साथ एक समझौता कर यह स्वीकार कर लिया कि वह 20 माह के भीतर अपनी सेना मिस्र से हटा लेगा।** मिस्र ने भी यह स्वीकार किया कि यदि मिस्र, तुर्की अथवा लीग के किसी अन्य सदस्य देश पर बाह्य आक्रमण होता है तो इनकी रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक कदम उठाने हेतु मिस्र इंगलैण्ड को इन अड्डों का उपयोग करने की अस्थायी अनुमति देगा।

समझौते के अनुरूप ब्रिटिश सेनाएं मिस्र से हट तो गयीं, किन्तु ब्रिटेन को यह नयी व्यवस्था रास न आयी। इधर अमरीका मिस्र को आंग्ल-अमरीकी गुट में शामिल करने पर विचार कर रहा था जिसके लिए फरवरी 1955 में कुख्यात **'बगदाद संगठन'** की स्थापना एक कदम सिद्ध हुआ, किन्तु कर्नल नासिर ने इस संगठन में शामिल होने से स्पष्ट मना कर दिया और साथ ही 27 फरवरी, 1956 को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। कर्नल नासिर ने स्पष्ट घोषित किया कि, **'नहर के संचालन से जो आर्थिक आय होगी उसका उपयोग आस्वान नदी घाटी योजना कार्यान्वित करने में होगा।"** वास्तव में यह योजना नील नदी पर आस्वान वांध बांधने की योजना थी। नासिर ने कहा, **"स्वेज केनाल कम्पनी को उसका मुआवजा दे दिया जाएगा और सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय के अधीन नहर के संचालन के लिए एक संस्था बनायी जाएगी। स्वेज केनाल कम्पनी का कोई भी कर्मचारी या अधिकारी भागने की कोशिश न करे अन्यथा उसे गिरफ्तार कर लिया जाएगा।"**[2]

फ्रांस, इंगलैण्ड एवं अमरीका में इस खबर ने तहलका मचा दिया। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर पश्चिमी शक्तियों द्वारा पेश की गयी लन्दन सम्मेलन की योजना एवं स्वेज नहर उपभोक्ता संघ की योजना को कर्नल नासिर ने ठुकरा दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को रूस ने मिस्र के पक्ष में वीटो कर रद्द कर दिया। इस पर ब्रिटेन व फ्रांस ने इजरायल को उकसाकर मिस्र पर 26 अक्टूबर, 1956 को आक्रमण करवा दिया और स्वयं भी मिस्र पर आक्रमण कर दिया। 5 नवम्बर, 1956 को रूस ने स्पष्ट घोषित किया, **"यदि एक निश्चित अवधि तक मिस्र पर आक्रमण बन्द न किया गया तो रूस नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा।"**[3] रूस की इस चेतावनी से भयभीत

---

1 दीनानाथ वर्मा, एशिया का आधुनिक इतिहास, पृ. 117।

2 पूर्वोक्त, पृ. 122।

3 पूर्वोक्त, पृ. 123।

होकर ब्रिटेन व फ्रांस ने युद्ध स्थगित कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने प्रस्ताव पास किया कि विदेशी सेनाएं मिस्र से हट जाएं और स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस दल स्थापित हो। **मिस्र ने यह आश्वासन ले लिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना की उपस्थिति में मिस्र की सम्प्रभुता यथावत बनी रहेगी।** 7 मार्च, 1957 तक सभी विदेशी सेनाएं मिस्र से हट गयीं और स्वेज नहर पर मिस्र का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता से स्वेज नहर को साफ करवाकर मिस्र की सरकार ने नहर को सामान्य यातायात के लिए खोल दिया।

प्रश्न

1. चीन में 1919 ई. के पश्चात् होने वाले साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
2. च्यांग काई शेक का संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए उनके नेतृत्व में चलने वाले साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
3. इण्डोनेशिया में राष्ट्रवाद के विकास के क्या कारण थे?
4. इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
5. इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष में सुकार्नो के योगदानों का परीक्षण कीजिए।
6. इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष पर प्रकाश डालिए।
7. इण्डोनेशिया में साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन में हो-ची-मिन्ह के योगदान का परीक्षण कीजिए।
8. मिस्र के साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन पर प्रकाश डालिए।
9. मिस्र में राष्ट्रीयता के विकास पर संक्षिप्त लेख लिखिए।
10. प्रथम महायुद्ध से लेकर 1945 ई. तक आंग्ल-मिस्री सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
11. इण्डो-चायना में साम्राज्यवाद विरोधी संग्राम का वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, 1996)
12. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
    (अ) जगलुल पाशा
    (ब) फरवरी 1922 का आंग्ल-मिस्री समझौता
    (ग) 1936 की आंग्ल-मिस्री सन्धि
    (द) स्वेज संकट एवं कर्नल नासिर।

19

स्पेन का गृह-युद्ध (1936-1939 ई.)

[THE SPANISH CIVIL WAR, 1936-1939]

भूमिका
(INTRODUCTION)

स्पेन में 1936 ई. से 1939 ई. तक गृह-युद्ध हुआ। स्पेन का यह गृह-युद्ध यद्यपि स्पेन का आन्तरिक मामला था, **किन्तु विदेशी शक्तियों के इसमें हस्तक्षेप करने के कारण यह गृह-युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का हो गया।** इस गृह-युद्ध के परिणाम भी दूरगामी हुए तथा इसने द्वितीय विश्व-युद्ध को जन्म देने में भी अहम् भूमिका निभायी।

गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि
(BACKGROUND OF THE SPANISH CIVIL WAR)

19वीं शताब्दी में स्पेन ने यूरोपीय राजनीति में सक्रिय भूमिका नहीं निभायी थी। 19वीं सदी में स्पेन पहले के समान ही स्थानीय, प्रगतिशील और संकुचित दृष्टिकोण वाला ही बना रहा। इस शताब्दी में स्पेन में यदा-कदा उदारवादी आन्दोलन अवश्य हुए, किन्तु उनका दमन किया जाता रहा तथा ये आन्दोलन कोई स्थायी प्रभाव स्पेन पर न छोड़ सके। **स्पेन में दीर्घकाल से राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति थी तथा कुलीन वर्ग व पादरियों का प्रभाव स्पेन की शासन-व्यवस्था पर छाया हुआ था।** चिरकाल से इन लोगों का प्रभाव बना हुआ था और वे बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी अदूरदर्शी व अनुदार बने हुए थे। ये लोग उन परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियों के प्रति उदासीन रुख अपनाये हुए थे जो कि सम्पूर्ण विश्व में अधिकाधिक प्रचलित होती जा रही थी।[1] स्पेन के अनुदार लोग विश्व-युद्ध के समय केन्द्रीय शक्तियों के समर्थक थे तथा उदारवादी लोग मित्र राष्ट्रों के प्रति अपनी निष्ठा रखते थे, **किन्तु स्पेन की सरकार प्रथम विश्व-युद्ध में तटस्थ बनी रही।**

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इंग्लैण्ड की आन्तरिक स्थिति पहले से भी खराब होने लगी। स्पेन की आर्थिक स्थिति भी जो पहले से ही खराब थी अब और अधिक खराब हो गयी। श्रमिकों में असन्तोष की भावना निरन्तर बढ़ती जा रही थी। स्पेन के कैटालोनिया क्षेत्र में आर्थिक कठिनाइयों के कारण निरन्तर विद्रोही भावनाएं प्रबल होती जा रही थीं। कैटालोनिया में स्वतन्त्रता की मांग जोर पकड़ रही थी। **उन लोगों की मांग थी कि उनके राज्य को स्वतन्त्र**

---

1 हेजन, आधुनिक यूरोप का इतिहास, पृ. 650।

कर वहां पृथक् संसद व कार्यपालिका हो जिसमें स्पेन की सरकार का कोई हस्तक्षेप न हो। इन मांगों के लिए कैटालोनिया के निवासी निरन्तर आन्दोलन कर रहे थे।

इसी समय स्पेन को मोरक्को की समस्या का भी सामना करना पड़ा। **मोरक्को ने 1917 ई. में स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।** यह युद्ध लम्बे समय तक चला जिसमें स्पेन को अत्यधिक जन-धन की हानि उठानी पड़ी। 1921 ई. में मोरक्को के विद्रोहियों ने स्पेन के जनरल सिलवैस्ट्रे को पराजित कर दिया। जनरल सिलवैस्ट्रे के 12,000 सैनिक मारे गये। इस पराजय के कारण जनरल सिलवैस्ट्रे ने आत्महत्या कर ली। इस घटना से स्पेन की जनता शासक अलफांसो XIII के विरुद्ध हो गयी क्योंकि जनता का विचार था कि राजा द्वारा सैनिक मामलों में हस्तक्षेप के कारण ही स्पेनी सेना की मोरक्को में पराजय हुई थी।

1923 ई. में एक सैनिक अधिकारी **प्रीमो दि रिवेरा** (Primo de Rivera) ने विद्रोहियों का दमन कर स्पेन की सत्ता पर अधिकार करने का प्रयास किया। स्पेन के राजा अलफांसो ने स्वयं को असुरक्षित पाकर प्रीमो दि रिवेरा को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। **रिवेरा ने स्पेन की संसद व संविधान को समाप्त कर दिया तथा शक्ति के द्वारा अधिनायकवाद की स्थापना की।** उसने सम्पूर्ण शंक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली व 1923 ई. से 1930 ई. तक एक तानाशाह (Dictator) की तरह स्पेन में शासन किया। रिवेरा ने भाषण, प्रेस, आदि के अधिकारों को जनता से छीन लिया। रिवेरा ने स्पेन की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु उसमें वह विशेष सफलता प्राप्त न कर सका। अन्ततः 1930 ई. में उसने अस्वस्थ होने व विपरीत परिस्थितियों को देखते हुए त्यागपत्र दे दिया व स्वयं फ्रांस चला गया।

स्पेन में गणतन्त्र की स्थापना
(ESTABLISHMENT OF REPUBLIC)

रिवेरा के पश्चात् स्पेन में जनरल वेरेंगुअर ने सरकार बनायी। उसने भी रिवेरा के समान तानाशाही तरीके से शासन करना चाहा, किन्तु स्पेन में गणतन्त्र की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। स्पेन की जनता नारे लगा रही थी कि '**राजा तथा राजतन्त्र समाप्त हो।**' राजा के प्रयासों के पश्चात् भी गणतन्त्र की भावनाएं कमजोर न हुईं। अन्ततः 1930 ई. में ही अलफांसो XIII स्पेन छोड़कर फ्रांस भाग गया। **इस प्रकार गणतन्त्रवादियों की विजय हुई।** अलफांसो के पलायन के पश्चात् जमोरा (Zamora) को अस्थायी राष्ट्रपति बनाया गया। 28 जून, 1931 ई. को स्पेन में चुनाव हुए जिसमें गणतन्त्रवादियों की भारी विजय हुई। स्पेन को '**सभी वर्गों के श्रमिकों का लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र**' घोषित किया गया तथा जमोरा को स्थायी राष्ट्रपति नियुक्त किया गया।

इस प्रकार स्थापित गणतन्त्रात्मक सरकार ने स्पेन में अनेक सुधार किये। 1933 ई. में स्पेन में पुनः चुनाव हुए जिसमें गणतन्त्रवादियों की पहले की तुलना में बहुत कम सफलता मिली। अतः कैथोलिक पार्टी के सहयोग से रिपब्लिकन गणतन्त्र दल के नेता लेरू (Lerroux) ने सरकार बनायी। उसने पिछली सरकार द्वारा लागू अध्यादेशों को समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया। अतः लेरू की नीतियों के विरुद्ध जनता में असन्तोष की भावना व्याप्त होने लगी। जनता ने अनेक बार विद्रोह किये जिनका सरकार ने कठोरतापूर्वक दमन कर दिया।

1936 ई. में हुए आम चुनावों में गणराज्य समर्थक विभिन्न दलों ने अजाना के नेतृत्व में सरकार बनायी। इस सरकार ने विरोधियों का दमन करने के लिए कठोर कदम उठाये। अतः सम्पूर्ण स्पेन में अराजकता फैल गयी व गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

गृह-युद्ध का प्रारम्भ
(CIVIL WAR BEGINS)

सन् 1936 ई. के उत्तरार्द्ध की सबसे महत्वपूर्ण घटना एक ऐसे देश में हुई जिसका अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नगण्य स्थान रहा था।[1] 17 जुलाई, 1936 ई. को स्पेनिश मोरक्को में तैनात सेना के सेनापति फ्रांको (General Franco) ने स्पेन की आन्तरिक स्थिति को देखते हुए विद्रोह कर दिया। **इस प्रकार स्पेन में गृह-युद्ध 17 जुलाई, 1936 ई. को प्रारम्भ हो गया।** जनरल फ्रांको सेना के साथ स्पेन में घुस गया व बिना किसी विरोध का सामना किये उसने दक्षिणी स्पेन पर अधिकार कर लिया। नवम्बर के मध्य तक जनरल फ्रांको मेड्रिड के उपनगरों तक पहुंच गया। अतः स्पेनिश सरकार को अपना मुख्यालय वेलिन्शिया (Velencia) में स्थापित करना पड़ा। **जनरल फ्रांको को जर्मनी व इटली की सहायता प्राप्त हो रही थी।**[2] अतः जनरल फ्रांको निरन्तर विजय प्राप्त करता रहा। अन्ततः 28 जनवरी, 1839 ई. को उसने बार्सीलोना पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार सम्पूर्ण स्पेन पर अधिकार करने के पश्चात् जनरल फ्रांको ने स्पेन में अपनी सरकार की घोषणा कर दी। कुछ समय पश्चात् यूरोपीय राष्ट्रों ने भी जनरल फ्रांको की सरकार को मान्यता प्रदान कर दी।

स्पेनिश गृह-युद्ध का महत्व
(SIGNIFICANCE OF THE SPANISH CIVIL WAR)

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है स्पेन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष हस्तक्षेप नहीं था। सामान्य परिस्थितियों में स्पेन में हुए गृह-युद्ध से किसी अन्य देश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए था, लेकिन कुछ विशेष कारणों ने न केवल स्पेन के गृह-युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय घटना बनाया वरन् उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी स्थापित किया। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए ई. एच. कार ने लिखा है, **"वैसे अन्य परिस्थितियों में स्पेन का गृह-युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय घटना न बना होता। जिन कारणों से वह अन्तर्राष्ट्रीय घटना बन सका, वे दो प्रकार के थे। एक तो इटली हाल ही में अबीसीनिया पर विजय प्राप्त कर चुका था। जिससे भूमध्य सागर का सामरिक महत्व सुस्पष्ट हो गया था। अतः उसने पश्चिमी भूमध्य सागर में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के इस अवसर का स्वागत किया। दूसरे, प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से ही यह विचार जोर पकड़ रहा था कि किसी देश विशेष का आन्तरिक संगठन जिस राजनीतिक सिद्धान्त पर आधारित हो, उस देश से अन्य देशों में उस सिद्धान्त की विजय के लिए प्रोत्साहन तथा सहायता अपेक्षित है।"**[3] इसी सिद्धान्त के आधार पर जनरल फ्रांको को इटली व जर्मनी ने इस गृह युद्ध में सहायता की थी, जबकि दूसरी ओर रूस स्पेन की साम्यवादी सरकार को समर्थन दे रहा था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्पेन का गृह-युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय घटना थी। **इस गृह-युद्ध के प्रति यूरोप की विभिन्न शक्तियों का रुख निम्नलिखित था :**

इटली (Italy)—इटली में उस समय मुसोलिनी का शासन था, जिसका विश्वास फासिस्टवाद में था। अतः इटली यूरोप के अन्य देशों में भी फासिस्टवाद की स्थापना करना

1 ई. एच. कार, दो विश्व-युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 225।
2 "From the first day of this revolt, the 'Nationalists', as the insurgents styled, themselves, receieved arms, planes, artillery and military aid from Germany and Italy." —Ferguson and Bruun, *op. cit.*, p. 857.
3 ई. एच. कार, पूर्वोक्त, पृ. 226।

चाहता था। इसी आधार पर उसने आस्ट्रिया में भी फासिस्टवाद की स्थापना पर जोर दिया था।1936 ई. में हुए **स्पेन के इस गृह-युद्ध को इटली ने फासिस्टवाद व कम्यूनिज्म के मध्य संघर्ष माना** और जनरल फ्रांको की सहायता करके परोक्ष रूप से फासिस्टवाद की सहायता की। फ्रांको की सेना को मोरक्को से स्पेन लाने के लिए भी इटली ने अपने वायुयान भेजे थे।

फासिस्टवाद के अतिरिक्त भी इटली इस गृह-युद्ध से लाभ उठाना चाहता था। फ्रांको के शासन की स्थापना से इटली का भूमध्य सागर में प्रभाव बढ़ गया जिससे वह इंग्लैण्ड और फ्रांस को हानि पहुंचा सकता था।

जर्मनी (Germany)—जर्मनी ने भी स्पेनिश गृह-युद्ध में उन्हीं कारणों से जनरल फ्रांको की मदद की जिनकी वजह से इटली ने की थी। जर्मनी में हिटलर की सत्ता थी, जो गणतन्त्र का घोर विरोधी था। **अतः वह स्पेन में भी एकतन्त्रात्मक शासन की स्थापना कराना चाहता था।** इसके अतिरिक्त स्पेन में मित्र-सरकार होने पर जर्मनी अपने पारम्परिक शत्रु फ्रांस के लिए खतरा बन सकता था क्योंकि फ्रांस तीन ओर से घिर जाता। स्पेन में फ्रांको की सरकार बनने से फ्रांस पूर्व में जर्मनी, दक्षिण में इटली व पश्चिम में स्पेन से घिर गया। इसके अतिरिक्त स्पेन के गृह-युद्ध में जनरल फ्रांको की सहायता करके जर्मनी से भूमध्यसागर में भी अपने प्रभाव को बढ़ा लिया जिससे इंग्लैण्ड के उपनिवेशों को खतरा उत्पन्न हो गया।

रूस (Russia)—स्पेन के गृह-युद्ध में रूस ही एक ऐसा देश था जिसकी सहानुभूति स्पेनिश सरकार के प्रति थी तथा जिसने स्पेन की सहायता की। **इस सहानुभूति का कारण रूस का साम्यवादी होना था।** वह स्पेन में गणतन्त्र का समर्थक था। रूस का मानना था कि यदि स्पेन में तानाशाही की स्थापना हो गयी तो विश्व में तानाशाही का महत्व बढ़ जाएगा क्योंकि इटली व जर्मनी में पहले से ही तानाशाही शासन विद्यमान था। रूस के जर्मनी से सम्बन्ध भी कटु थे। अतः वह यूरोप में जर्मनी के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना चाहता था। **रूस का विचार था कि यदि स्पेनी गृह-युद्ध में स्पेनी सरकार की पराजय हो गयी तो जर्मनी का प्रभाव स्पेन पर भी छा जाएगा।** इसी कारण उसने इंगलैण्ड व फ्रांस से भी स्पेनी सरकार की मदद करने का आह्वान किया। रूस ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि स्पेन के विद्रोहियों (जनरल फ्रांको) को इटली व जर्मनी से मिलने वाली सहायता को रोका जा सके, किन्तु रूस अपने इस उद्देश्य में सफल न हो सका।

इंग्लैण्ड (England)—रूस ने इंगलैण्ड से स्पेनिश सरकार की सहायता करने की अपील की थी, किन्तु इंगलैण्ड ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि इंग्लैण्ड इसे स्पेन का आन्तरिक मामला मानते हुए उसमें हस्तक्षेप करने का इच्छुक न था। **इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड ज़नरल फ्रांको को भी नाराज करना नहीं चाहता था क्योंकि इससे उसके जिब्राल्टर नामक उपनिवेश के लिए संकट उत्पन्न हो सकता था।** इंग्लैण्ड द्वारा रूस की अपील को स्वीकार न करने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि इंग्लैण्ड कम्यूनिज्म का विरोधी था व कम्यूनिज्म को फ़ैलने से रोकना चाहता था। यदि स्पेन में रूस की सहायता से स्पेनी सरकार कायम रह जाती तो कम्यूनिज्म को बढ़ावा मिलता।

फ्रांस (France)—फ्रांस व इंग्लैण्ड मित्र थे। **अतः इंग्लैण्ड का अनुकरण करते हुए उसने भी स्वयं को इस गृह-युद्ध से अलग ही रखा।** इसके अतिरिक्त फ्रांस का मुख्य शत्रु जर्मनी था। अतः फ्रांस इटली से अच्छे सम्बन्ध रखना चाहता था। स्पेन के गृह-युद्ध में क्योंकि इटली भी

जनरल फ्रांको की मदद कर रहा था। अतः फ्रांस ने स्पेनिश सरकार की सहायता करके इटली को नाराज करना उचित न समझा।

अमेरिका (America)—अमेरिका ने भी स्पेन के गृह-युद्ध से स्वयं को अलग ही रखा क्योंकि वह भी कम्यूनिज्म का घोर विरोधी था। अमेरिका, फ्रांस व इंग्लैण्ड का विचार था कि कम्यूनिज्म को विश्व में फैलने से रोकने के लिए कुछ देशों में तानाशाहों का रहना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त अमेरिका स्वयं को यूरोपीय राजनीति से अलग रखना चाहता था।

गृह-युद्ध के प्रभाव
(EFFECTS OF THE CIVIL WAR)

स्पेन का गृह-युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय घटना थी। अतः इसके प्रभाव भी अन्तर्राष्ट्रीय ही हुए। इस गृह-युद्ध का प्रभाव केवल इतना ही नहीं हुआ कि इससे स्पेन में गणतन्त्र की समाप्ति व तानाशाही की स्थापना हुई, वरन् इसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। इस युद्ध के प्रारम्भ होते ही यूरोप के दो शिविरों में विभक्त होने के लक्षण प्रकट होने लगे थे। इटली, जर्मनी व पुर्तगाल स्पष्टतया विद्रोहियों की सहायता कर रहे थे, जबकि रूस स्पेनी सरकार का समर्थक था। यदि रूस की अपील पर फ्रांस व इंग्लैण्ड भी इसमें हस्तक्षेप करते तो यूरोप दो शिविरों में बंट गया होता। इस गृह-युद्ध के कारण रूस, इंग्लैण्ड व फ्रांस से नाराज हो गया, दूसरी ओर जर्मनी और इटली के सम्बन्ध घनिष्ठ हो गये। **डेविड थामसन** ने इस विषय में लिखा है, **''इस गृह-युद्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि इसने स्पष्ट कर दिया कि लोकतन्त्रात्मक सरकारों को पराजित करने के लिए जर्मनी तथा इटली की आक्रामक तानाशाह सरकारें आपस में मिल सकती थीं अथवा यह कहना चाहिए कि मिल रही थीं तथा लोकतन्त्रों की कमजोरी के कारण वे अपने उद्देश्य में सफल भी हो सकती थीं।''**[1] इस गृह-युद्ध के कारण तानाशाही का यूरोप में प्रभाव बढ़ा तथा राष्ट्र संघ (League of Nations) की कमजोरी स्पष्ट हो गयी। यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्र संघ इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह किसी शक्तिशाली देश पर अंकुश लगा सके।

स्पेन के इस गृह-युद्ध में स्पेन की व्यक्तिगत भी अत्यधिक हानि हुई। लाखों लोग इस गृह-युद्ध में मारे गये व अपार सम्पत्ति नष्ट हो गयी।[2]

प्रश्न

1. स्पेन के गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि, घटनाओं व प्रभावों का वर्णन कीजिए।
2. स्पेन के गृह-युद्ध की पृष्ठभूमि व अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का वर्णन कीजिए। **(लखनऊ, 1992, 94)**
3. स्पेन के गृह-युद्ध के प्रति विश्व के अन्य देशों के दृष्टिकोणों का वर्णन कीजिए।

---

1 "War's chief significance was that it revealed that the aggressive nationalistic dictatorships of Italy and Germany could and would ally together in order to defeat democratic governments, and that they might in face of democratic weakness and disarray succeed in their purpose."
—David Thomson, *Europe since Napoleon*, p. 677.

2 "The civil war probably cost her a million in dead or exiles as well as the destruction of many of her cities and the laying waste of much of her countryside."
—David Thomson, *op. cit.*, pp. 676-677.

परिशिष्ट 1

विश्व के प्रमुख राज्य एवं उनकी राजधानी

देश का नाम (Name of the Country)	राजधानी (Capital)
अफगानिस्तान (Afganistan)	काबुल (Kabul)
अल्बानिया (Albania)	तिराना (Tirana)
अल्जीरिया (Algeria)	अल्जीयर्स (Algiers)
ऑस्ट्रेलिया (Australia)	कैनबरा (Canberra)
ऑस्ट्रिया (Austria)	विएना (Vienna)
बांग्लादेश (Bangla Desn)	ढाका (Dhaka)
बल्गारिया (Balgaria)	सोफिया (Sofia)
बेल्जियम (Belgium)	ब्रूसेल्स (Brussels)
भूटान (Bhutan)	थिम्पू (Thimpu)
बोलिविया (Bolivia)	ला-पेज (La-Paz)
ब्राजील (Brazil)	ब्रेसिलिया (Brasilia)
बर्मा (Burma)	रंगून (Rangoon)
कम्बोडिया (Combodia)	पेनन पेन्ह (Penon Penh)
चायना (पीपुल्स रिपब्लिक) (China People's Republic)	पीकिंग (Peking)
चायना नेशनलिस्ट (China Nationalist)	ताइपेह (Taipeh)
साइप्रस (Cyprus)	निकोसिया (Nicosia)
चेक (Czech)	प्राग (Prague)
डेनमार्क (Denmark)	कोपेनहेगन (Copenhagen)
इंग्लैण्ड (England)	लन्दन (London)
इथोपिया (Ethopia)	आदिस अबाबा (Addis Ababa)
फ्रांस (France)	पेरिस (Paris)
पूर्वी जर्मनी (East Germany)	बर्लिन (Berlin)
पश्चिमी जर्मनी (West Germany)[1]	बॉन (Bonn)
ग्रीस (Greece)	ऐथेन्स (Athens)
भारत (India)	नई दिल्ली (New Delhi)
इण्डोनेशिया (Indonesia)	जकार्ता (Jakarta)

1 दोनों जर्मनी का एकीकरण हो चुका है।

ईरान (Iran) — तेहरान (Teharan)
इराक (Iraq) — बगदाद (Bagdad)
आयरलैण्ड (Ireland) — डबलिन (Dublin)
इजरायल (Isreal) — तेल-अवीव (Tel-Avvive)
इटली (Italy) — रोम (Rome)
जापान (Japan) — टोक्यो (Tokyo)
उत्तरी कोरिया — सियोल (Seoul)
दक्षिणी कोरिया — पियोंगयांड (Pyongyand)
लाओस (Laos) — वियेनतियेन (Vientiane)
लेवनान (Lebanan) — बेरूत (Beirut)
मोरक्को (Morocco) — रवत (Rabat)
नेपाल (Nepal) — काठमाण्डू (Kathmandu)
नीदरलैण्ड (Netherland or Holland) — एमस्टर्डम (Amsterdom)
न्यूजीलैण्ड (Newzealand) — वेलिंगटन (Wellington)
नार्वे (Norway) — ओस्लो (Oslo)
पाकिस्तान (Pakistan) — इस्लामाबाद (Islamabad)
फिलीपीन्स (Philippines) — क्वेजोन (Quezon)
पोलैण्ड (Poland) — वारसा (Warsaw)
पुर्तगाल (Portugal) — लिस्बन (Lisbon)
रूस (Russia) — मास्को (Moscow)
श्रीलंका (Shri Lanka) — कोलम्बो (Colombo)
दक्षिण अफ्रीका (South Africa) — कैपटाउन (Capetown)
स्पेन (Spain) — मेड्रिड (Madrid)
सूडान (Sudan) — खरटाउन (Khartown)
स्वीडन (Sweden) — स्टोकहोम (Stockholm)
स्विट्जरलैण्ड (Switzerland) — वर्ने (Berne)
थाईलैण्ड (Thailand) — बैंकाक (Bangkok)
ट्यूनेशिया (Tunisia) — ट्यूनिस (Tunis)
तुर्की (Turkey) — अंकारा (Ankara)
यू. एस. ए. (U. S. A.) — वाशिंगटन (Washington)
यूगोस्लाविया (Yugoslavia) — बेलग्रेड (Belgrade)

परिशिष्ट 2

विश्व के प्रमुख राज्यों के शासनाध्यक्ष/शासक

शासक का नाम (Name of the Ruler)	देश (Country)	कार्यकाल (Tenure)
	इंगलैण्ड (ENGLAND)	
जार्ज V (George V)		1910-1936 ई.
एडवर्ड VIII (Edward VIII)		1936 ई.
जार्ज VI (George VI)		1936-1952 ई.
	फ्रांस (FRANCE)	
तृतीय गणतन्त्र (Third Republic)		1870-1940 ई.
विची शासन (Vichy Government)		1940-1945 ई.
	इटली (ITALY)	
विक्टर एमेनुअल III (V. Emmanuel III)		1900-1946 ई.
मुसोलिनी (Dictatorship of Mussolini)		1922-1943 ई.
	आस्ट्रिया (AUSTRIA)	
चार्ल्स I (Charles I)		1916-1918 ई.
गणतन्त्र (Republic)		1918-1938 ई.
जर्मनी के अधीन (Annexation in Germany)		1938-1945 ई.
गणतन्त्र (Republic)		1945 ई.
	स्पेन (SPAIN)	
अलफांसो XIII (Alfonso XIII)		1886-1931 ई.
गणतन्त्र (Republic)		1931-1936 ई.
गृह-युद्ध (Civil War)		1936-1939 ई.
जनरल फ्रेंको (General Franco)		1939-1976 ई.
	रूस (RUSSIA)	
निकोलस II (Nicholas II)		1894-1917 ई.
लेनिन (Lenin)		1917-1924 ई.
स्टालिन (Stalin)		1924-1953 ई.
	तुर्की (TURKEY)	
मुहम्मद VI (Mohammad VI)		1918-1922 ई.
कामेल अटातुर्क (Kamel Ataturk)		1923-1938 ई.
जनरल इस्मत (General Ismet)		1939-1950 ई.

जर्मनी (GERMANY)

वाइमर गणतन्त्र (Weimar Republic)	1918-1933 ई.
एडोल्फ हिटलर (Adolf Hitler)	1934-1945 ई.

अमेरिका (AMERICA)

वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson)	1913-1921 ई.
वारेन जी. हार्डिंग (Warren G. Harding)	1921-1923 ई.
काल्विन कूलिज (Calvin Coolidge)	1923-1929 ई.
हरबर्ट हूवर (Herbert Hoover)	1929-1933 ई.
फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt)	1933-1945 ई.